RNI No.: MPHIN/2018/77137

ISSN 2582-483X

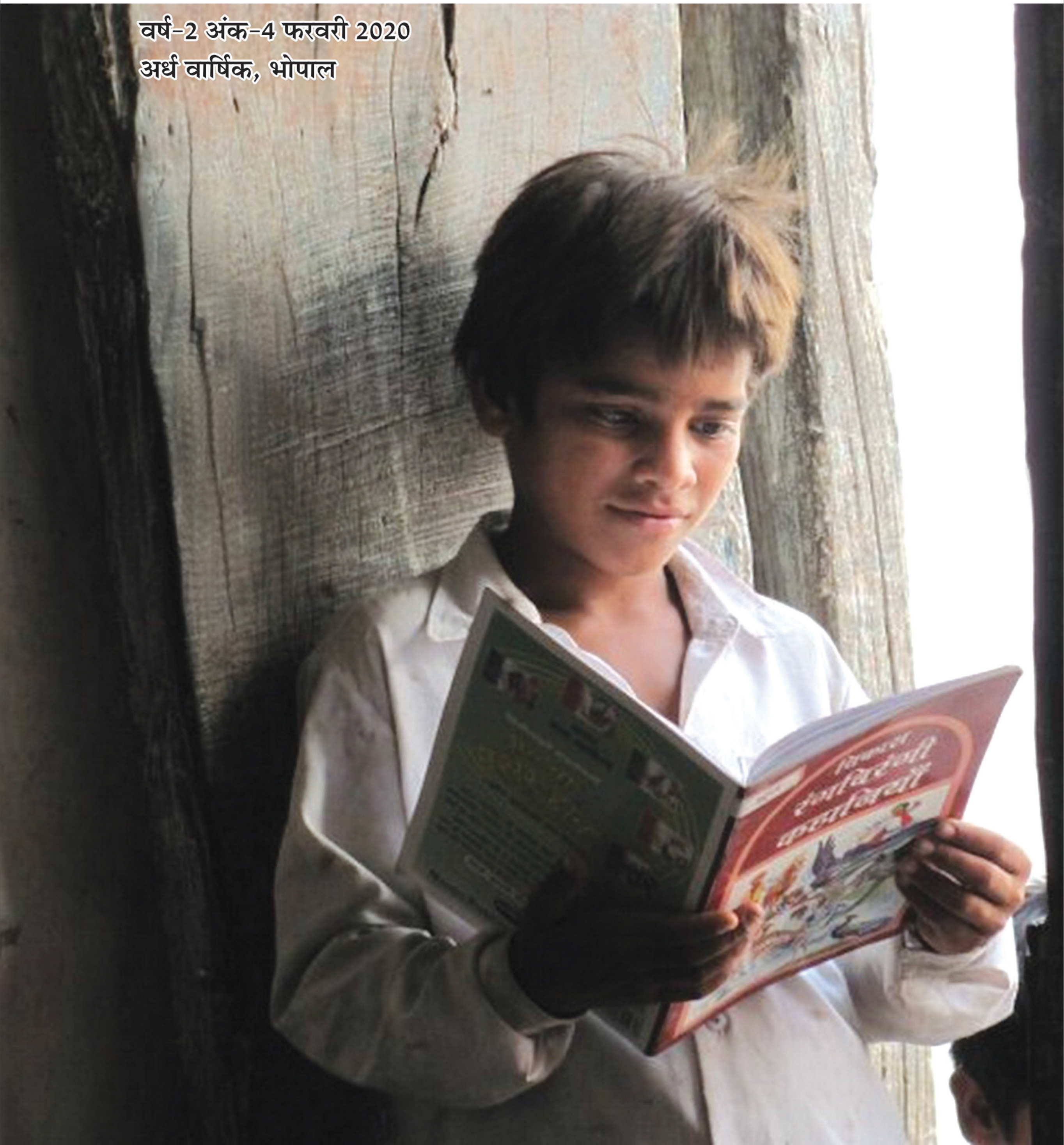
पाठशाला
भीतर और बाहर

Azim Premji University

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

वर्ष-2 अंक-4 फरवरी 2020

अर्ध वार्षिक, भोपाल



पाठशाला भीतर और बाहर

फरवरी, 2020 (वर्ष 2, अंक 4)

प्रकाशक

Azim Premji University

- **अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय**
  पिक्सल बी, पी.ई.एस. कैम्पस
  होसुर रोड, इलेक्ट्रॉनिक सिटी, बेंगलूरु -560100
  Web: www.azimpremjiuniversity.edu.in

सम्पादकीय कार्यालय

- **सम्पादक**
  पाठशाला भीतर और बाहर
  अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन
  प्लाट नं. 163-164, त्रिलंगा कोआपरेटिव
  सोसायटी, ई-8, एक्सटेंशन, त्रिलंगा,
  भोपाल, म.प्र 462039 फोन-0755-4074060
  pathshala@apu.edu.in
  gurbachan.singh@azimpremjifoundation.org
  मो. 8226005057

डिज़ाइन एवं प्रिंट

- **गणेश ग्राफिक्स,**
  26-बी, देशबंधु परिसर,
  प्रेस काम्प्लेक्स,
  एम.पी.नगर, जोन-1
  भोपाल, म.प्र. 462011
  ganeshgroupbpl@gmail.com
  मो. 9981984888

- **आवरण चित्र :** पारुल बत्रा दुग्गल

पाठशाला भीतर और बाहर पत्रिका, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन का हिन्दी प्रकाशन है। यह शिक्षकों, शिक्षक प्रशिक्षकों, अन्य ज़मीनी कार्यकर्ताओं व शिक्षा से सरोकार रखने वाले सभी व्यक्तियों और संस्थाओं के लिए विचार-विमर्श का एक मंच है। पत्रिका का उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तियों के अनुभवों व आवाज़ को जगह देकर शिक्षा के विमर्श को गहन व यथार्थपरक बनाना है।

अनुक्रम

सम्पादकीय

पाठशाला भीतर और बाहर का चौथा अंक आपके हाथों में है। इसमें कुल पन्द्रह लेख हैं जिन्हें आठ स्तम्भों में पिरोया गया है।

परिप्रेक्ष्य स्तम्भ में तीन लेख हैं। सी एन सुब्रह्मण्यम का लेख ***देशज शिक्षा : बदलती छवियाँ*** भारतीय चित्र-शिल्प कला में शिक्षण से सम्बन्धित चित्रों की ख़ोज यात्रा का तीसरा पड़ाव है। पहले दो लेख ***शिक्षण : कुछ छवियाँ*** और ***आचार्य से गुरु, उस्ताद से पीर*** क्रमशः पाठशाला के दूसरे व तीसरे अंक में प्रकाशित हुए हैं। ***देशज शिक्षा : बदलती छवियाँ*** लेख में भी लेखक ने शिक्षा से सम्बन्धित कलाकृतियों के आधार पर उस समय की शिक्षा और शिक्षण को समझने का प्रयास किया है। कलाकृतियों के विस्तृत विवरण व विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए लेख उस समय की शिक्षा व्यवस्था, शिक्षण पद्धति, दण्ड और अनुशासन आदि को जानने-समझने की कोशिश करता है।

रेवा यूनुस अपने लेख ***शिक्षा और 'आदर्श' बच्चा : क्या 'बचपन' का सिर्फ़ एक ही मतलब हो सकता है?*** में शिक्षा नीतियों, शिक्षण पद्धतियों व सामान्य मानस में शिक्षा के सन्दर्भ में बच्चों में विविधता को नज़रअन्दाज़ किए जाने का मसला रख रही हैं। वे कहती हैं कि हमारी शिक्षा नीतियों, शिक्षण पद्धतियों में एक ख़ास तरीक़े के 'आदर्श' बच्चे की कल्पना साफ़तौर पर दिखाई देती है। अमूमन यह छवि एक मध्यमवर्गीय, उच्च जाति के बच्चे की छवि से प्रेरित होती है। जहाँ बच्चे के पास पर्याप्त समय व साधन हैं व उसे पढ़ने के अलावा कोई भी काम नहीं करना है। अपने शोध के दौरान किए गए स्कूल अवलोकनों में उन्होंने पाया कि वास्तविक जीवन में इससे हटकर, काफ़ी हटकर भी बचपन की छवियाँ हैं। लेकिन ये आदर्श छवियाँ नहीं मानी जाती हैं। ये 'अनादर्श' बच्चे हैं क्योंकि इनमें कमी और अपूर्णता दिखाई देती है।

तीसरे लेख में निशा नाग ने सुप्रसिद्ध लेखक जैनेन्द्र द्वारा लिखित कहानी ***'पढ़ाई' के बहाने स्त्री शिक्षा की पड़ताल*** की है। यह कहानी 60 के दशक में लिखी गई थी लेकिन आज भी शायद यह उतनी ही प्रासंगिक है। जो द्वन्द्व तब थे वो द्वन्द्व आज भी हैं। वे कहती हैं कि बच्ची के पैदा होते ही उसके आसपास का समाज उसे स्त्री के रूप में चिह्नित कर देता है और यहीं से उसके बनाए जाने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। और यह काम कोई और नहीं उसके अज़ीज़ ही करते हैं। बच्ची के इस बनाए जाने में सामाजिक-सांस्कृतिक दबावों की वे विस्तार से चर्चा करती हैं।

विमर्श के अन्तर्गत दो लेख शामिल हैं। पहला अभय कुमार दुबे का अनुसन्धान लेख ***मैकॉले बनाम भारतीय ज्ञान-प्रणालियाँ और शिक्षा-व्यवस्था*** है। लेख मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणियों की दावेदारियों की जाँच करता है। ऐतिहासिक तथ्यों के माध्यम से लेख दर्शाता है कि संस्कृत व फ़ारसी व अन्य भारतीय भाषाओं को दरकिनार कर अँग्रेज़ी को महत्त्वपूर्ण बताने के पक्ष में जो तर्क दिए गए वे पहली नज़र में बुद्धिवादी और शैक्षिक प्रतीत हो सकते हैं लेकिन उनका मूल मक़सद औपनिवेशिकता को कायम रखना था।

दूसरा, शोध लेख कंचन शर्मा द्वारा लिखित ***बच्चों पर शारीरिक दण्ड की समाजशास्त्रीय पड़ताल*** है। इस लेख का पहला भाग ***बच्चों पर शारीरिक दण्ड : ऐतिहासिक व दार्शनिक पड़ताल*** पाठशाला के तीसरे अंक में प्रकाशित हुआ था। मौजूदा लेख इस विमर्श को आगे बढ़ाता है और स्कूली व्यवस्था के तीन आयाम– शिक्षक, विद्यार्थी और अभिभावक के दृष्टिकोण से बच्चों को दिए जाने वाले शारीरिक दण्ड के व्यावहारिक पहलुओं को समझने की कोशिश करता है। यह लेख महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अब जबकि नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम बच्चों को किसी भी तरह के दण्ड को प्रतिबन्धित करता है, समाज में इसकी स्वीकार्यता और मान्यता को समझना मायने रखता है।

शिक्षणशास्त्र स्तम्भ में भी दो लेख शामिल हैं। प्रभात का लेख ***अलग-अलग मिज़ाज की किताबें उर्फ़ विधाओं की विद्या*** स्कूल के वर्षों में बच्चों को दी जाने वाली शिक्षा में साहित्य की उपेक्षा से जीवनपर्यन्त बनी रहने वाली साहित्यहीनता के सवाल को उठाता है। लेख यह सुझाता है कि स्कूल और पुस्तकालय दो ऐसी व्यवस्थाएँ हैं जो साहित्यहीनता के उजाड़ से जूझने में मददगार हो सकती हैं। पुस्तकालयों में बाल साहित्य की विधाओं की बहुलता को बढ़ाना और स्कूलों में बाल साहित्य के लिए जगह बनाना कारगर क़दम साबित हो सकते हैं। लेख अलग-अलग मिज़ाज के साहित्य की नज़ीर से विविध विधाओं के उदाहरण देकर कुछ सवालों को उठाता है। मौखिक साहित्य क्या है, इसमें क्या शामिल है, लिखित साहित्य क्या है आदि की चर्चा करते हुए उन्हें पढ़ाने-समझाने के तौर-तरीक़ों की बानगी भी प्रस्तुत करता है।

शिक्षणशास्त्र के दूसरे लेख ***नोबेल पुरस्कार के बहाने एक इक़बालिया बयान*** में सुशील जोशी ने इस साल दिए गए रसायनशास्त्र के नोबेल पुरस्कार, जो दिखने में साधारण-सी ख़ोज पर दिया प्रतीत होता है, के महत्त्व को संचार क्रान्ति में उसकी उपयोगिता और भूमिका के ज़रिए पुष्ट किया है। इतना ही नहीं, फिर इस ख़ोज में शामिल ज्ञान और अवधारणाओं की समझ को अपने स्कूली वर्षों की रसायनशास्त्र की पढ़ाई के अनुभवों के साथ जोड़ते और याद करते हुए विज्ञान की पाठ्यचर्या और शिक्षणशास्त्र पर उन्होंने समालोचनात्मक टिप्पणी की है।

कक्षा अनुभव स्तम्भ में तीन लेख सम्मिलित हैं। ये सभी लेख भाषा की पढ़ाई से जुड़े हैं। पारुल बत्रा के पहले लेख ***लिखना : प्राथमिक कक्षाओं में बच्चों के साथ कुछ अनुभव*** में बच्चों के साथ अपने लेखन-शिक्षण अनुभवों को लेखन की परम्परागत धारणाओं के बरक्स देखने और उनकी व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। इस मक़सद के लिए लेखिका ने बच्चों के लेखन के कई उदाहरण लिए हैं। यह लेख शुरुआती कक्षाओं में लेखन की शुरुआत कैसे की जाए और सृजनात्मक लेखन के लिए पुस्तकालय की मदद कैसे ली जाए, जैसे विषयों के बारे में भी चर्चा करता है।

दूसरा लेख ***समझ की खिड़की खोलता है साहित्य,*** की लेखिका अजा शर्मा हैं। इस लेख में अमरीकी शिक्षाविद लूई रोज़नब्लॉट के पढ़ने से सम्बन्धित शोध और विचारों पर एक अनुभव-आधारित समझ विकसित करने का प्रयास किया गया है। लेखिका कहती हैं, 'संवाद को लुई रोज़नब्लॉट एक अहम स्थान देती थीं क्योंकि इनमें न सिर्फ़ स्वयं के अनुभव और विचार उभरते हैं, बल्कि दूसरों के भी तरह-तरह के विचारों को जानने का मौक़ा बनता है और ऐसे पाठक जो इस संवाद में शामिल होते हैं वे पाठक होने की सार्थकता को महसूस करते हैं।'

इस स्तम्भ का तीसरा लेख सुनीता शर्मा ने लिखा है, ***प्राथमिक कक्षाओं में कविताओं का कौतूहल,*** जिसमें वे बताती हैं कि कविताएँ और गीत न सिर्फ़ स्कूली दिनों को आनन्दमयी बनाते हैं, बल्कि साहित्य का रसबोध भी पैदा करते हैं। प्राथमिक कक्षाओं में इनका शिक्षण जितना जीवन्त, सहज और रसपूर्ण होगा इनमें कौतूहल और आस्वादन उतना ही बढ़ेगा।

इस बार ***साक्षात्कार*** खण्ड में हमने नरेन्द्र सिंह के साथ बातचीत प्रकाशित की है। नरेन्द्र सिंह दिल्ली के सरकारी स्कूलों में किए जा रहे शैक्षिक प्रयासों के अन्तर्गत शिक्षक समर्थन पहल में मेंटर शिक्षक रहे हैं। इन कोशिशों के बारे में पाठशाला के तीसरे अंक में ***शिक्षक समर्थन कोशिशों की पड़ताल*** लेख में विस्तार से चर्चा की गई थी। इस अंक के साक्षात्कार में रंजना ने नरेन्द्र सिंह से, मेंटर शिक्षक के चयन, तैयारी व भूमिका से लेकर चुनौतियों और कार्यक्रम के विविध पहलुओं पर बातचीत की है।

पुस्तक / फ़िल्म चर्चा स्तम्भ के तहत अमन मदान, जो अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं, की एकलव्य प्रकाशन से हालिया छपी एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक ***शिक्षा और आधुनिकता: कुछ समाजशास्त्रीय नज़रिए*** की समीक्षा ***शिक्षा में बराबरी से बेहतरी*** छापी गई है। समीक्षक हैं,

समाजशास्त्री दीपेन्द्र बघेल। यह किताब आज के दौर के कुछ बुनियादी बदलावों की, और शिक्षा के लिए इनके क्या मायने हैं इसकी पड़ताल करने की कोशिश करती है। इसका मुख्य उद्देश्य है देश और दुनिया को प्रभावित कर रहे प्रमुख बदलावों में से कुछ को समझने में पाठकों की मदद करना।

अगला लेख पंखुड़ी अरोड़ा का है और इस लेख में फ़िल्म ***'सुपर 30'*** पर चर्चा है। वे कहती हैं कि शिक्षा और उससे सम्बन्धित मुद्दों पर पहले भी कई फ़िल्में बनी हैं लेकिन यह फ़िल्म उनसे कुछ फ़र्क़ है। एक ख़ास फ़र्क़ जिसकी ओर वे इशारा करती हैं वह यह है कि यह फ़िल्म समाज और शिक्षा के सम्बन्ध पर बात करती है और साफ़तौर पर यह बताती है कि शिक्षा समाज के हाशिए पर नहीं, बल्कि उसकी संरचना का ही हिस्सा है।

इस अंक में ***शोध अध्ययन*** के अन्तर्गत ***अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन*** द्वारा की गई *फ़ील्ड स्टडी* को शामिल किया गया है। इस अध्ययन में कर्नाटक, उत्तराखंड और राजस्थान की कुछ जगहों को शामिल किया गया है। विषय है, ***शिक्षकों में समूह अधिगम और सहभागिता को समर्थ बनाना।*** यह अध्ययन दिखाता है कि अलग-अलग जगह के सरकारी स्कूल के शिक्षकों के सामने काम करने के लिए अलग-अलग ढंग का चुनौतीपूर्ण वातावरण है, इसके बावजूद इन जगहों पर तमाम ऐसी पहलक़दमियाँ देखने को मिलती हैं, जहाँ बिना किसी प्रशासकीय आदेश या बाहरी प्रोत्साहन के शिक्षक ख़ुद अपनी आन्तरिक प्रेरणा से एक साथ आने और अपने प्रोफ़ेशनल विकास के नए-नए तरीक़े तलाश रहे हैं।

इस प्रकाशन की ***संवाद*** शृंखला की चौथी परिचर्चा ***परीक्षा और शिक्षा : एक विचार अनेक पहलू*** पर केन्द्रित है। जिसमें शिक्षा से जुड़े विभिन्न व्यक्तियों, शिक्षक, शिक्षक-प्रशिक्षक, प्राचार्य और समाजशास्त्री से शिक्षा और परीक्षा के विविध आयामों पर बातचीत की गई है। इस परिचर्चा में प्रतिभागियों से परीक्षा के बारे में उनके निजी अनुभव, परीक्षा का स्वरूप, इसमें समय के साथ आए बदलाव, समाज में बच्चों के प्रति दृष्टिकोण आदि विषयों पर हुई बातचीत शामिल है। इस परिचर्चा का शेष हिस्सा अगले अंक में प्रकाशित होगा।

उम्मीद है कि इस अंक में प्रकाशित सामग्री आपके लिए दिलचस्प और उपयुक्त होगी और आप इसे अपने काम के सन्दर्भ में उपयोग भी कर पाएँगे। हम यह भी चाहेंगे कि आप पत्रिका में छपे लेखों के सन्दर्भ में अपनी प्रतिक्रिया से हमें अवगत कराएँ। उन लेखों के बारे में ख़ासतौर पर बताएँ जो आपको अपने प्रोफ़ेशन के लिए काफ़ी उपयुक्त लगते हैं और जिन्हें आप अपने साथियों और शिक्षकों के साथ साझा करना चाहेंगे।

अगले अंक से पाठशाला के कलेवर में कुछ बदलाव की कोशिश है। हमें लगता है कि शिक्षकों के लिए, शिक्षक-प्रशिक्षकों के लिए, कक्षा में बच्चों के साथ काम करने वालों के लिए, कक्षा में काम करने के दौरान आने वाली परेशानियों, चुनौतियों को समझने के लिए तत्काल से उपलब्ध होने वाली सामग्री बहुत ही कम है। इसी के मद्देनज़र हम चाहते हैं कि कक्षा अनुभव और शिक्षणशास्त्र से सम्बन्धित लेखों को हम अधिकाधिक छापें। इस मक़सद के लिए आपका सहयोग अपेक्षित है। आपसे गुज़ारिश है कि आप बच्चों के साथ, शिक्षकों के साथ मिलने वाले सीखने-सिखाने के अनुभवों को ***पाठशाला भीतर और बाहर*** में प्रकाशन के लिए ज़रूर साझा करें।

सम्पादक मण्डल

देशज शिक्षा : बदलती छवियाँ

सी एन सुब्रह्मण्यम

हमने पिछले लेखों में जिन कलाकृतियों के बारे में चर्चा की थी, उनमें से कई भिन्न संस्कृतियों के मेल-मिलाप की पैदाइश थीं। भिन्न संस्कृतियों के मिलने से चीज़ों को देखने व चित्रण करने के नए नज़रिए विकसित हुए। उदाहरण के तौर पर कुषाणकालीन मथुरा का शिल्प पटल और मुग़लकालीन लघु चित्रों को लिया जा सकता है। इस लेख में हम ऐसे ही एक और संक्रमण और सम्मिश्रण के दौर की कलाकृतियों को देखेंगे, जो इंगलिश ईस्ट इंडिया कम्पनी (संक्षेप में 'कम्पनी') के औपनिवेशिक शासन की स्थापना के दौर में बने।

1750 से 1850 के दौर में मुग़ल शासन समाप्ति की ओर था और बंगाल, बिहार, मद्रास आदि में कम्पनी का शासन स्थापित हो रहा था। इस दौर में अनेक अँग्रेज़ अधिकारी जो भारत आए, वे भारतीय लोग, समुदाय, धर्म, संस्कृति, स्थापत्य आदि में रुचि लेते थे। वे उनके बारे में जानना भी चाहते थे, मगर उनके अपने सवाल और नज़रिए थे जो इस खोजबीन के लिए महत्त्वपूर्ण थे। वे इन सभी के बारे में जानकारी हासिल करने के साथ-साथ उनका विज़ुअल दस्तावेजीकरण भी चाहते थे, ठीक उसी तरह जिस तरह आज के सैलानी अपनी यात्रा स्मृतियों को कैमरे की मदद से दर्ज़ करना चाहते हैं। मगर उस दौर में कैमरे का आविष्कार नहीं हुआ था, सो रंगों व लकीरों से चित्रांकन ही एक मात्र उपलब्ध तरीक़ा था। पर चित्र बनाए कौन? कई अँग्रेज़ी चित्रकार भी भारत आए, मगर जिस मात्रा में चित्रों की माँग थी उसकी तुलना में वे बहुत ही कम थे। तो हुआ यह कि अनेक भारतीय चित्रकार जो मुग़ल और अन्य देशज (जैसे- दखनी) शैली में प्रशिक्षित थे, वे अब इस काम में जुट गए। मगर उनके आश्रयदाता या पैट्रन अँग्रेज थे जिनकी कलात्मक दृष्टि यूरोपीय पुनर्जागरण के कलाबोध से प्रभावित थी। उसमें ख़ासकर रेखीय दृष्टिकोण या लीनियर पर्सपैक्टिव पर वे ज़ोर देते थे– यानी चित्रों में गहराई दर्शाने के लिए सामने की चीज़ों को बड़ा दिखाना और पीछे की चीज़ों को एक विशेष अनुपात में छोटा करते जाना। यह मुग़ल कलाकारों के लिए नया था। और फिर इस दृष्टिकोण में एक तरह का यथार्थवाद भी था जिसमें लोग व चीज़ें उसी अनुपात में दिखें जो वास्तविक हों और मुग़ल कलाकार तो बादशाह को या प्रमुख देवता को बाक़ी सबसे बड़ा दिखाने के आदी थे। इसके अलावा पूर्व-आधुनिक यूरोपीय शैली की एक और विशेषता थी, शेडिंग यानी रंगों को गहरा या हल्का करना ताकि जिन भागों पर रोशनी पड़े वह हल्का हो और जहाँ रोशनी कम पड़े वहाँ रंग गहरा हो। इसके माध्यम से चेहरों में भी गहराई और त्रिआयामिता को दिखाया जा सकता था। तो कम्पनी के अधिकारी चाहते थे कि इन तकनीकों का उपयोग करते हुए चित्र बनें– आख़िर वे इन्हें अपने देश ले जाकर अपने दोस्तों व रिश्तेदारों के साथ साझा जो करेंगे और बताएँगे कि वे किस तरह के लोगों पर फ़तह करके आए हैं। इस प्रकार मुग़ल लघु चित्रकारों ने अपनी लघु चित्र शैली में इन यूरोपीय तकनीकों को शामिल करते हुए एक नई शैली का विकास किया जिसे आज 'कम्पनी

क़लम' कहा जाता है। इस शैली में आमतौर पर चित्र आकार में छोटे ही होते थे, लघु चित्रों की तरह, मगर इसमें इन तीन तरीक़ों को भी शामिल किया गया था। इस तरह चित्रकारी के मामले में देशी कलाकारों और अँग्रेजों के बीच एक संवाद हुआ।

एक दूसरे स्तर का संवाद था विषयवस्तु को लेकर। अँग्रेजों की रुचि बादशाहों, नवाबों, महाराजाओं या फिर देवी-देवताओं में अपेक्षाकृत कम थी और उनकी रुचि का मुख्य केन्द्र था जनजीवन। भारत के अलग-अलग तरह के लोग कौन हैं, वे दिखते कैसे हैं, पहनते क्या हैं, काम क्या करते हैं, कैसे करते हैं, किस तरह के घरों में रहते हैं, वग़ैरह-वग़ैरह। (उन्हीं दिनों यूरोप में भी इस तरह के पारम्परिक व्यावसायिकों में रुचि पैदा हो रही थी क्योंकि वे उद्योगीकरण के चलते तेज़ी से लुप्त होते जा रहे थे। उनके बारे में लघु पुस्तकें बन रही थीं।) जितनी तरह के लोग दिखें उन सबकी तस्वीर- हू बहू नहीं, बल्कि उन्हें ख़ास काम करने की स्थिति में, उनकी पत्नी के साथ, उनके घरों या व्यावसायिक स्थलों की पृष्ठभूमि में दिखाया जाना था। चित्र में उनके कपड़े, कच्चा माल, औज़ार वग़ैरह दिखाना ज़रूरी था। भारत के चित्रकार उन लोगों को भली भाँति जानते थे और वे उनका चित्रण अलग-अलग सन्दर्भों में मुगल चित्रों में करते थे। लेकिन अब अँग्रेज़ी आश्रयदातों के निर्देशन में इन लोगों पर केन्द्रित चित्र बनने लगे।

> अँग्रेजों की रुचि बादशाहों, नवाबों, महाराजाओं या फिर देवी-देवताओं में अपेक्षाकृत कम थी और उनकी रुचि का मुख्य केन्द्र था जनजीवन। भारत के अलग-अलग तरह के लोग कौन हैं, वे दिखते कैसे हैं, पहनते क्या हैं, काम क्या करते हैं, कैसे करते हैं, किस तरह के घरों में रहते हैं, वग़ैरह-वग़ैरह।

एक तीसरे तरह का संवाद भी इन कलाकारों व अँग्रेजों के बीच हो रहा था। अँग्रेजों के कुछ ख़ास सवाल और रुचि के विषय थे। शिक्षा के सन्दर्भ में उसकी व्यापकता, शिक्षण के विषय, शिक्षक की योग्यता और मानदेय आदि को लेकर उनकी दिलचस्पी तो थी ही मगर उनके सामने कुछ ख़ास सवाल भी थे। मसलन, शिक्षक कक्षा को सँभालते कैसे हैं? विद्यार्थियों को अनुशासित करने के उनके तरीक़े क्या हैं? वग़ैरह। ये बातें उनके लिए महत्त्वपूर्ण इसलिए भी थीं क्योंकि उन्हीं दिनों इंग्लैण्ड में सार्वजनिक शिक्षा का प्रसार शुरू हो रहा था और शिक्षा के ख़र्च का वहन कौन करेगा, कितने बच्चों पर एक शिक्षक की ज़रूरत है, उसके ख़र्चे का गणित क्या होगा, वग़ैरह महत्त्वपूर्ण सवाल उठ रहे थे। सार्वजनिक शिक्षा का एक मुख्य ध्येय निम्न वर्ग के बच्चों को अनुशासित करना था, इसीलिए दण्ड, अनुशासन और नैतिक शिक्षा उनके लिए बहुत अहम थे। और ये सभी भारतीय सन्दर्भ में जानने-समझने और चित्रण के विषय बने।

कई अधिकारियों का यह भी मानना था कि शासक होने के बतौर भारतीयों को शिक्षित और सुसभ्य बनाना इंग्लैण्ड का दायित्व है। इसी वजह से यहाँ किस तरह की शिक्षा है व उसमें क्या बदलाव करना है, यह भी चर्चा का विषय बना। बंगाल, मद्रास और बम्बई तीनों प्रेसीडेंसियों में देशज शिक्षा के अध्ययन को महत्त्व दिया गया था- बंगाल में एडम और ग्रांट डफ़ की रिपोर्ट, मद्रास में थामस मनरो द्वारा और बम्बई में एल्फ़िन्स्टन द्वारा करवाए गए अध्ययन इसके प्रमाण हैं। इनपर शिक्षा साहित्य में काफ़ी चर्चा भी है। लेकिन उसी दौर में बनवाए गए 'कम्पनी क़लम' के चित्रों, जिनमें देशज स्कूलों का चित्रण है, के बारे में कम ही चर्चा हुई है।

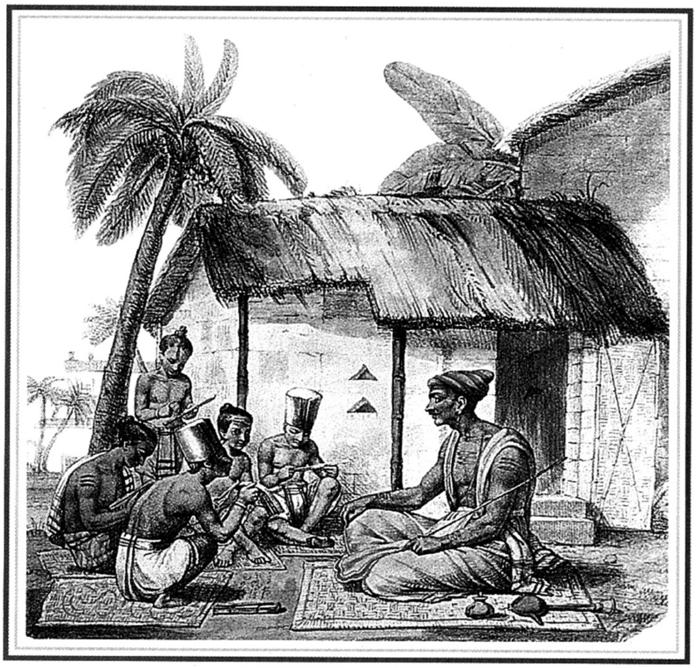
मुझे 'कम्पनी क़लम' के जो शिक्षण सम्बन्धित चित्र देखने को मिले हैं वे कुछ बाद के समय के हैं यानी 1830 से 1860 के बीच के।

इनके अलावा कुछ प्रारम्भिक छायाचित्र (फोटो) और देशज चित्र भी हैं जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

मद्रास और मैसूरू में

हम कुछ दक्षिण भारतीय छवियों से शुरुआत करेंगे। ये मद्रास और मैसूरू के आसपास बने चित्र हैं। पहला चित्र एक देशज पाठशाला को दर्शाता है जिसे एक ब्राह्मण शिक्षक संचालित कर रहा है (चित्र 1)। घर के बाहर खुले में ही शाला चल रही है जो कुछ विचित्र बात है। आमतौर पर यह घर के बरामदे में चलती थी। इसमें कुल पाँच छात्र ही हैं जिनमें से दो शायद हैसियतमन्द परिवार से हैं और वे ऊँची टोपी और सफ़ेद धोती पहने हैं। ये टोपियाँ विजयनगर साम्राज्य की राजकीय शैली की हैं, और आश्चर्य की बात है कि यह शैली उन्नीसवीं सदी तक क़ायम रही। बाक़ी तीन छात्र रंगीन धोतियाँ पहने हैं और उनका सिर ढँका नहीं है, मगर चुटिया और भभूत लगाए ललाट दिख रहे हैं। ये भले ही ऊँचे दर्जे के न हों लेकिन फिर भी दलित या उसके समकक्ष समाज के नहीं लगते हैं। गुरुजी और सभी छात्र ज़मीन पर चटाई बिछाकर बैठे हैं व सबकी अपनी-अपनी चटाई है। हाँ, छात्रों की छोटी और गुरुजी की कुछ बड़ी। छात्र ताड़पत्र से बनी पुस्तक पढ़ रहे हैं। गुरुजी के पास कोई ताड़पत्र नहीं है, शायद उन्हें सब कण्ठस्थ होगा। हाँ, हाथ में लम्बी छड़ी ज़रूर है और पास में हुक़्क़ा भी रखा हुआ है। वे चिलम के शौक़ीन रहे होंगे। सभी छात्र अपने-अपने ताड़पत्र से पढ़ रहे हैं और उनमें से एक छात्र ने नीचे रेत बिछाकर उसपर कुछ लिखा है। लिखना सीखने का प्रथम चरण था, रेत पर लिखना। ताड़पत्र पर लिखने के लिए ख़ास तैयारी की ज़रूरत होती है। लिखने वाला छात्र शायद गुरुजी से बातचीत कर रहा है, या कोई पाठ पढ़कर सुना रहा है। यह ध्यान देने योग्य है कि इस छात्र के अलावा बाक़ी चारों की नज़रें शिक्षक पर नहीं टिकी हैं बल्कि अपनी पुस्तक पर हैं। गुरुजी का घर छोटा-सा है। अपने पड़ोसी के घर की तुलना में काफ़ी छोटा। हालाँकि यह एक यथार्थवादी चित्र है मगर इसके संयोजन में पारम्परिक दृष्टि दिखती है। लगभग आधे चित्र पर गुरुजी हावी हैं और दोनों हिस्सों के बीच बरामदे का खम्भा खड़ा है। बाक़ी पात्रों की तुलना में गुरुजी कुछ आगे बैठे हैं जिसके कारण उनका आकार भी बड़ा दिख रहा है।

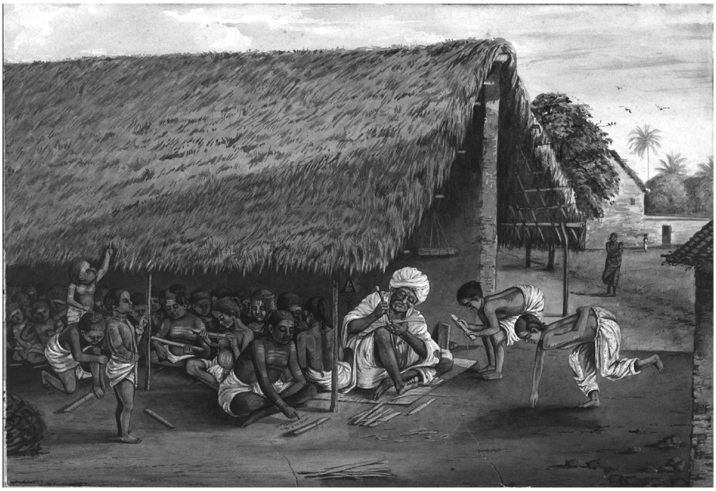
इस चित्र को ग़ौर से देखें तो पाएँगे कि यह एक अनुशासन-केन्द्रित शाला नहीं है। बच्चों के हावभाव और क्रियाकलाप से स्पष्ट है कि वे सहजता के साथ अध्ययन कर रहे हैं। स्वाध्याय



चित्र 1. छात्र और गुरुजी (istock इमेज गैलरी)

का माहौल है। शिक्षक के हाथ में छड़ी है मगर वह इस्तेमाल होते हुए नहीं दिख रही है। न उनका तेवर आक्रामक है। एक तरह से यह चित्र एडम, मनरो और एल्फ़िन्स्टन की सोच के दायरे में है। इसके विपरीत हम दो और तस्वीरें देखेंगे जो मैसूरू में लगभग 1850 के आसपास बनाई गई थीं।

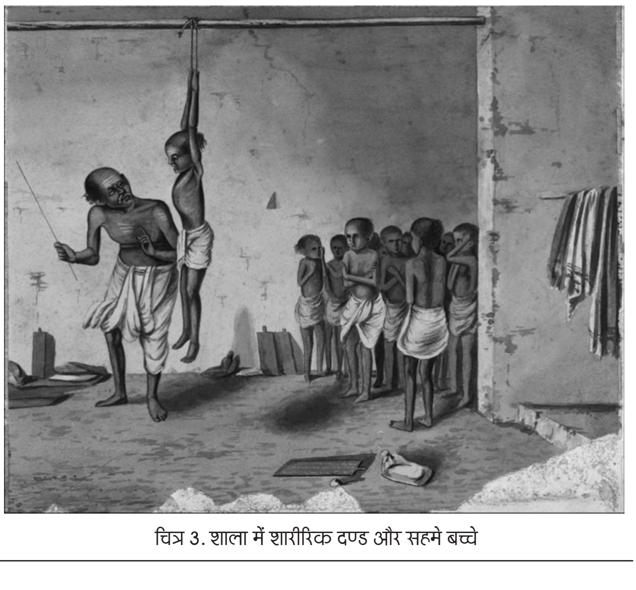
इन दो चित्रों (चित्र 2 और 3) का मक़सद है देशज शालाओं में प्रचलित शारीरिक दण्ड की विधियों को दर्शाना। 1844 में डॉ. अलेक्ज़ांडर डफ़ ने एडम की रिपोर्ट के ख़िलाफ़ अपनी दलील में देशज स्कूलों में दिए जाने वाले दण्ड और उसके बच्चों पर होने वाले कुप्रभाव की चर्चा की थी। ऐसा लगता है कि इन दो चित्रों को कहीं उस रिपोर्ट को ध्यान में रखकर बनाया गया है। देशज शालाओं के शिक्षण में विषय की नीरसता और अप्रासंगिकता पर टिप्पणी करने के बाद डफ़ लिखते हैं :



चित्र 2. एक ग्रामीण शाला में शिक्षण कार्य और दण्ड (मैसूरू, 1850)

"यदि शुरू से अन्त तक शिक्षण निष्क्रिय, बेजान, घिसा-पिटा और हमेशा एक-सा हो और यही प्रक्रिया दिलोदिमाग़ को पूरी ताक़त से अपने ढंग में ढालती रहे, तो अनुशासन की योजना भय के राज पर ही आधारित हो सकती है। और फिर करुणा, धैर्य, उदारता, प्यार आदि के लिए कोई जगह नहीं रहती। तब भय ही पहला, अन्तिम और एकमात्र प्रयोजन बन जाता है, और दण्ड ही पहला, अन्तिम और एकमात्र उद्दीपक। दण्ड देने के अलग-अलग तरीक़े ढूँढ़ने में बहुत दिमाग़ लगाया जाता है। शिक्षक हमेशा छड़ी से लैस रहता है जो उसके व्यवसाय के लिए उतनी ही ज़रूरी है जैसे– देखने के लिए आँखें, और सुनने के लिए कान; और यह छड़ी वफ़ादारी से निरन्तर उसकी सेवा करती रहती है।"

वे लगभग 15 तरह के शारीरिक दण्डों का वर्णन करते हैं, जिसमें से एकाध यहाँ प्रासंगिक हैं- लड़के को एक टाँग पर खड़ा रहना पड़ता है और अगर वह हिले-डुले या टाँग नीचे कर ले तो उसे कठोर तरीक़े से प्रताड़ित किया जाता है।... लड़के के हाथों को बाँधकर उसे छत के मियाल से उल्टा लटकाया जाता है और छड़ी से पीटा जाता है।[1] चित्र 2 में एक



चित्र 3. शाला में शारीरिक दण्ड और सहमे बच्चे

लड़का एक टाँग पर खड़ा होकर अपनी उँगली से ज़मीन पर कुछ लिखने की कोशिश कर रहा है। चित्र 3 में लड़के के हाथ बाँधकर मियाल से लटकाकर शिक्षक छड़ी से मार रहे हैं और बाक़ी बच्चे सहमे हुए खड़े देख रहे हैं। ऐसे क्रूर दण्ड डफ़ या चित्रकार की महज़ कल्पना नहीं हैं, यह हमें कई समकालीन आत्मकथाओं से भी जानने को मिलता है। उदाहरण के लिए, प्रसिद्ध तमिल विद्वान उ वे सामिनाथ अय्यर ने अपनी आत्मकथा में अपने प्रारम्भिक शालेय अनुभवों का बहुत बारीक़ी से तथा हास्य के साथ वर्णन किया है। वे सीधे कहते हैं कि बच्चों के शाला त्यागने के पीछे दण्ड एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

बहरहाल चित्र 2 में दण्ड के अलावा भी कई और बातें हैं जो हमें आकर्षित करती हैं। पहली है शाला का वास्तु— एक दीवार के दोनों तरफ़ ढलवाँ घास-फूस की छत है जो लकड़ी के खम्भों पर टिकी है। इसी की छाया में शाला लग रही है। शाला के फ़र्श और मैदान में कोई अन्तर नहीं दिख रहा है। मिट्टी पर चटाई बिछाकर गुरुजी बैठे हैं, मगर वे बच्चों की ओर अपनी पीठ दिखाए बैठे हैं। वे ताड़पत्र पर कुछ पाठ लिख रहे हैं, शायद उनकी बूढ़ी आँखों को अधिक रोशनी की ज़रूरत थी। उनके सामने एक बच्चा किसी ताड़पत्र पुस्तक को हाथ में लिए झुक कर पढ़ रहा है। ताड़पत्र की लिखावट को पढ़ने के लिए शायद आँखों के नज़दीक रखना पड़ता था। गुरुजी के बगल में एक तन्दुरुस्त छात्र मिट्टी पर अपनी उँगली से कुछ लिख रहा है। शायद वह सामने रखे ताड़पत्र की नकल उतार रहा है। गुरुजी के पीछे बीस से अधिक बच्चे बैठे हैं और अपनी-अपनी पुस्तक से पढ़ रहे हैं। रोचक बात यह है कि यहाँ गुरुजी की भूमिका पढ़ाने की नहीं, बल्कि पढ़ने की सामग्री उपलब्ध कराने की है, जिसे आजकल हम सुविधादाता (फैसिलिटेटर) कहते हैं। गुरुजी ताड़पत्र पर लिख-लिख कर दे रहे हैं और बच्चे उसका वाचन कर रहे हैं, या मिट्टी पर नकल कर रहे हैं। छात्रों के पहनावे और माथे के टीकों से समझ में आता है कि वे अलग-अलग उम्र और सम्प्रदाय जैसे— शैव, वैष्णव, आदि के हैं। तो कुल मिलाकर लगता है कि यह एक ग्रामीण शाला है जो एक दीवार के साए चलती है, और एक गुरुजी पर 25 के लगभग छात्र हैं। शिक्षण में स्वाध्याय पर ज़ोर है और गुरुजी एक तरह से हाशिए पर हैं।

अलेक्ज़ांडर डफ़ ने माना कि इस तरह के दण्ड न केवल अमानवीय हैं बल्कि वे बच्चों को उद्दण्ड बना देते हैं और उनमें शिक्षकों के प्रति दुर्भावना उत्पन्न कर देते हैं। वे उन तमाम तरीक़ों का भी वर्णन करते हैं जो छात्र गुरुजी से बदला लेने के लिए आजमाते हैं (जैसे— उनके हुक़्क़े में मिर्ची भर देना, रात को अँधेरे में पीटना, और काली माँ से प्रार्थना करना कि गुरुजी को जल्दी ऊपर ले जाएँ)।

चित्र 3 विशेषकर गुरुजी के ख़ौफ़ और शारीरिक दण्ड पर केन्द्रित है। मियाल पर लटका हुआ बच्चा चित्र का अक्ष बनाता है जिसके एक तरफ़ छड़ी चलाते गुरुजी और दूसरी ओर कुछ दूरी पर डरे-सहमे छात्रों का झुण्ड। इस ख़ौफ़ को कुछ कम करने के लिए एक और कमरे का हिस्सा और उसमें टँगे कपड़ों को दिखाया गया है। शाला किसी कमरे में लगी है और बच्चे ताड़पत्र की जगह तख़्तों का इस्तेमाल कर रहे हैं। मगर यहाँ शिक्षण रुका हुआ है और हिंसक अनुशासनात्मक कार्यवाही ने उसकी जगह ले ली है।

अलेक्ज़ांडर डफ़ ने माना कि इस तरह के दण्ड न केवल अमानवीय हैं बल्कि वे बच्चों को उद्दण्ड बना देते हैं और उनमें शिक्षकों के प्रति दुर्भावना उत्पन्न कर देते हैं। वे उन तमाम तरीक़ों का भी वर्णन करते हैं जो छात्र गुरुजी से बदला लेने के लिए आजमाते हैं (जैसे— उनके हुक़्क़े

1. Alexander Duff (Editor), The state of Indigenous Education in Bengal and Behar, No. IV, Vol. II, Second Edition, Calcutta Review Vol. II, October–December, 1844, pp / 333–338.

में मिर्ची भर देना, रात को अँधेरे में पीटना, और काली माँ से प्रार्थना करना कि गुरुजी को जल्दी ऊपर ले जाएँ)। एक तरह से डफ ने देशज शालाओं को ख़ारिज़ करने के लिए और उनकी जगह आधुनिक सरकारी या मिशनरी स्कूलों को फैलाने के पक्ष में दण्ड-आधारित शिक्षण के तर्क का उपयोग किया।

उत्तर भारत की तरफ़ जाने से पहले हम दो फोटो और भी देखेंगे जो तमिलनाडु की देशज शालाओं को दर्शाते हैं। इन्हें तिण्णै या बाहरी बरामदे की शाला कहा जाता था।



चित्र 4. मदुरै ज़िले की एक तिण्णै शाला

दस छात्रों वाली यह शाला वैसे शायद ओटले के ऊपर लगती थी (चित्र 4), मगर वहाँ छायाचित्र के लिए ज़रूरी रोशनी की कमी के कारण नीचे धूप में लगी है। चित्र 2 के गुरुजी की तरह यहाँ के शिक्षक भी ताड़पत्र पर कुछ लिख रहे हैं। छात्रों के सामने ताड़पत्र की पुस्तकें बाँधकर रखी गई हैं, जिनसे वे पढ़ रहे हैं। बच्चे जितनी तल्लीनता के साथ पढ़ना दिखा रहे हैं, उससे लगता है कि वे छायाचित्र के लिए पोज़ कर रहे हैं। छायाचित्रों और चित्रों में यही अन्तर है कि छायाचित्रों के बनने में उन छात्रों व शिक्षकों की भी भागीदारी होती है और वे जैसे दिखना चाहेंगे वैसे दिखेंगे। चित्रों में चित्रकार अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र होता है।

चित्र 5 शायद एक शाला का ग्रुप छायाचित्र है। मन्दिर के पास अपने बड़े से घर के बाहर के ओटले में ब्राह्मण शिक्षक अपनी शाला चला रहे हैं और उनके तीस से अधिक छात्र तीन क़तार



चित्र 5. तिण्णै शाला

में ऊपर और नीचे बैठे हैं। एक पड़ोसी पुरुष सामने खड़ा है और दो-तीन बच्चियाँ पड़ोसी के घर के चबूतरे से ताक रही हैं। फ़ोटोग्राफ़र के काम के कारण शिक्षण कार्य स्थगित है। इस सेटिंग के आधार पर हमें तिण्णै शाला के रोज़मर्रा के काम के तरीक़े की कल्पना करना है।

दोनों छायाचित्रों से इस माध्यम की एक विशेषता समझ में आती है कि इन दोनों में शिक्षक की भूमिका अपेक्षाकृत दबी हुई है, उसकी छवि उतनी तेज़ी से नहीं उभरती जितनी शिल्पों या चित्रों में। इनमें छात्र और घर की पृष्ठभूमि पर ज़्यादा नज़रें टिकती हैं।

दक्षिण भारत के ये चित्र और छायाचित्र इस सम्भावना की ओर इशारा करते हैं कि अँग्रेजों के आगमन तक एक व्यापक देशज शिक्षा व्यवस्था विकसित थी, और यह भले ही काफ़ी अनौपचारिक रही हो उनमें बच्चों के प्रति हिंसा सहज थी। चित्र 5 की झाँकती बालिकाएँ बताती हैं कि इन छवियों में लड़कियाँ छात्रा के रूप में नहीं दिखती हैं। यानी अभी शालेय शिक्षा केवल बालकों के लिए थी। मनरो की रपटों से भी यही पता चलता है कि दक्षिण में केवल देवदासियाँ ही औपचारिक रूप से शिक्षित थीं। बाक़ी इच्छुक महिलाएँ अनौपचारिक तरीक़े से घर के अन्य लोगों से पढ़ना-लिखना सीखती थीं। दक्षिणी देशज शिक्षा के एक मुख्य पहलू अर्थात् वरिष्ठ छात्रों की सहायक के रूप में भूमिका इन चित्रों में नहीं दिखती है। सामिनाथ अय्यर और अन्य

विवरणों से हमें पता है कि शाला में वरिष्ठ छात्रों की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण थी और इससे प्रेरित होकर ही एंड्रयू बेल साहब ने इंग्लैण्ड में इसके माध्यम से शिक्षा के ख़र्च को कम करने की वकालत की थी। अब हम उत्तर भारत से मिले कुछ चित्रों को देखें।

बनारस और बंगाल में

इंग्लैण्ड के विक्टोरिया और अल्बर्ट संग्रहालय में बनारस में बने 11 चित्र संरक्षित हैं। ये चित्र ख़ासतौर पर शिक्षण कार्य से सम्बन्धित हैं और सम्भवतः एक ही कलाकार के द्वारा बनाए गए हैं। ऐसा माना जाता है कि इन्हें 1860 के आसपास बनाया गया था। इनमें से कुछ चित्र बच्चों से सम्बन्धित नहीं हैं इसलिए उन्हें हम इस अध्ययन से अलग रखेंगे।

इन चित्रों को बनाने वाला कोई उच्च कोटि का कलाकार नहीं था। शिक्षक और छात्रों को एक क़तार में पार्श्व दृष्टि में दिखाना उसके लिए ज़्यादा सुविधाजनक रहा होगा। शायद वास्तविक कक्षा इससे अधिक जटिल संरचना की रही होगी। फिर भी चार तरह की शालाओं में बुनियादी समानता के बावजूद अन्तर स्पष्ट हो जाता है। मुस्लिम शाला के मौलवी साहब को छोड़कर बाक़ी तीनों शिक्षक एक जैसे दिखते हैं, बस लेखन सिखाने वाली शाला के शिक्षक ने कुर्ता नहीं पहना है। मौलवी साहब को छोड़कर सभी के हाथ में छड़ी है और उसका उपयोग करते हुए शिक्षक कुछ सिखा रहे हैं। मौलवी साहब पढ़ा नहीं रहे हैं बल्कि हुक़्क़ा पीते हुए अपने छात्रों पर एक नज़र रखे हुए हैं। उनमें से दो छात्र पढ़ रहे हैं मगर बाक़ी तीन इधर-उधर ताक रहे हैं। सभी के पास किताब है और सभी सिर पर कुल्हा और विभिन्न तरह के कुर्ता-पायजामा या धोती और कमरबन्द पहने हुए हैं (चित्र 7)।


चित्र 6. लेखन शिक्षा


चित्र 7. मुस्लिम पाठशाला


चित्र 8. हिन्दू महाजन पाठशाला जहाँ हिसाब सिखाया जाता है


चित्र 9. ईसाई मिशनरी पाठशाला

जहाँ लिखना सिखाया जा रहा है (चित्र 6) वह शायद संस्कृत पाठशाला है- यहाँ शिक्षक सहित सभी बिना कुर्ता या कमीज़ के दिख रहे हैं। शायद शिक्षक के पास एक बन्द किताब रखी हुई है, छात्र अपनी-अपनी चटाई पर खड़िए से पाठ लिख रहे हैं। पहले छात्र ने गिनती लिखी है और बाक़ी छात्रों ने कुछ शब्द या वाक्य लिखे हुए हैं। जाहिर है कि सब अलग-अलग कुछ लिखने के बाद शिक्षक के अगले निर्देश के लिए उनकी ओर देख रहे हैं। छह में से चार छात्र चुटिया वाले हैं और दो छात्रों के खुले बाल हैं- किसी ने कुल्हा या टोपी नहीं पहना है। यह ध्यान देने योग्य है कि शिक्षक के कन्धे पर जनेऊ नहीं दिख रहा है और बिना चुटिया वाले लड़के आगे बैठे हैं। सम्भवतः वे ग़ैर-ब्राह्मण थे।

महाजन पाठशाला (चित्र 8) में पता नहीं क्यों, सभी खड़े हैं। यहाँ छात्रों में अपेक्षाकृत अधिक विविधता दिखती है- दो कमीज़ पहने हैं और बाक़ी केवल एक कन्धे पर गमछा लिए हैं। पाँच के हाथ में रंगीन तख़्तियाँ हैं मगर तीन के हाथ ख़ाली हैं। मिशनरी शाला (चित्र 9) की बैठक व्यवस्था कुछ अलग है, ज़मीन पर चटाई या गद्दा बिछाकर बैठने की बजाय शिक्षक तिपईया स्टूल पर और छात्र लम्बे बैंच पर बैठे हैं। इस शाला में छात्रों की विविधता को विशेष रूप से उभारने का प्रयास है। इनमें से दो तो निश्चित रूप से चुटिया वाले पण्डित हैं जिन्होंने कमीज़ नहीं पहनी है और सिर ढँका नहीं है। एक का तो जनेऊ भी स्पष्ट दिख रहा है। एक हरे पायजामा वाला छात्र शायद मुसलमान है। दो फ़ुल पैंट, शर्ट और खुले सिर वाले शायद ईसाई हैं। वे कक्षा में जूते पहने हुए हैं। सभी के हाथ में पाठ्यपुस्तक है और शिक्षक के निर्देश पर पहला छात्र पाठ पढ़कर सुना रहा है।

ज़ाहिर है कि इस शृंखला में चित्रकार एक विविधतापूर्ण प्रारम्भिक शिक्षा प्रणाली को दर्शाना चाहता था, मगर साथ ही उनकी समानता पर भी ध्यान आकर्षित करवाना चाहता था। वह यह भी जताना चाहता था कि सभी प्रकार की शालाओं में विविध जाति व धर्म के लोग पढ़ रहे थे। इस शृंखला का अगला चित्र दण्ड से सम्बन्धित है और काफ़ी रोचक है।

इस चित्र (चित्र 10) में लगभग पाँच तरह के दण्ड दिखाए जा रहे हैं और इनमें से अधिकांश दण्ड ऐसे हैं जिनका वर्णन ग्रांट डफ़ कर चुके थे। एक बच्चे से शिक्षक छड़ी की मदद से पूछताछ कर रहे हैं और वह छात्र अपनी सफ़ाई काफ़ी आश्वासन के साथ दे रहा है। नीचे एक छात्र शायद दूसरे छात्रों के दण्ड का निरीक्षण कर रहा है और कुछ निर्देश भी दे रहा है। इस चित्र के एक टीकाकार जैक्वलीन हारग्रीव्स के अनुसार इनमें से कई दण्ड दरअसल योगासन मुद्राएँ हैं जिनका वर्णन योग सम्बन्धित साहित्य में भी मिलता है। एक तो वज्रासन या वीरासन पर बैठा है, एक अपने पंजों के अग्रभाग के बल



चित्र 10. अनुशासन और दण्ड

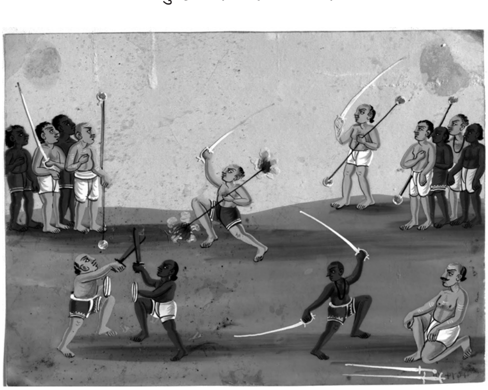
पर पालथी मारकर बैठा है, वग़ैरह। नीचे जो लड़का अपनी टाँगों को कान के पीछे बाँधकर और हाथों को जाँघों के ऊपर बाँधकर लेटा है, वह वास्तव में 'योगनिद्रासन' की मुद्रा में है जिसका वर्णन हठयोग साहित्य में मिलता है। सामने जो लड़का अपने हाथ बाँधकर बैठा है, शायद वह ऐसा ही कुछ आसन लगाने वाला है। तो हमें इस सम्भावना के बारे में विचार करना चाहिए कि देशज शालाओं के कई दण्ड वास्तव में योगासन सम्बन्धित क्रियाएँ हैं। हो सकता है कि यह मान्यता रही हो कि तपस्वी जिस तरीक़े से अपने शरीर और मन को नियंत्रण में लाते हैं उस तरीक़े से छात्र भी अपने उद्दण्ड व्यवहार से मुक्त हो सकते हैं (चित्र 10)।

इस श्रृंखला में कुछ और चित्र हैं जो शारीरिक शिक्षा से सम्बन्धित हैं- उनमें से तीन यहाँ दिए जा रहे हैं।

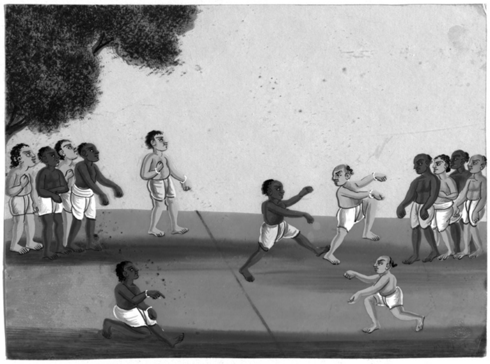
इन तीनों चित्रों में एक बार फिर हम देख



चित्र 11. कुश्ती और पहलवानी अभ्यास



चित्र 12. तलवारबाज़ी सीखते लड़के



चित्र 13. कबड्डी खेलते लड़के

सकते हैं कि विविध सामाजिक पृष्ठभूमि के लड़के इन गतिविधियों में हिस्सा ले रहे हैं। हमें याद रखना होगा कि बनारस न केवल विद्वानों की नगरी थी बल्कि पहलवानों और कुश्तीबाज़ों की भी नगरी थी। एक सुसभ्य नागरिक की तैयारी में पढ़ना-लिखना, हिसाब वग़ैरह के साथ में व्यायाम, शस्त्रकला और खेलकूद भी महत्त्वपूर्ण थे। ये तीन चित्र शिक्षा के आयाम को और विस्तृत कर देते हैं और इन विधाओं के विविध शिक्षण तरीक़ों से हमें परिचित कराते हैं, जो अभ्यास और प्रयोग-आधारित हैं।

देशज शिक्षा का एक अन्तिम चित्र मैं यहाँ पेश करना चाहता हूँ जिसमें स्पष्ट रूप से उभरते आधुनिक अँग्रेज़ी स्कूल का प्रभाव दिखता है। यह एक तरह से देशज सार्वजनिक प्रारम्भिक शिक्षा का रूपान्तरण और ख़ात्मा भी है।



चित्र 14. चैतन्य महाप्रभु शाला में- पटचित्र, बीरभूम, बंगाल
(आशुतोष संग्रहालय, कलकत्ता विश्वविद्यालय में संरक्षित)

बंगाली भक्त सन्त चैतन्य महाप्रभु के बचपन के बारे में कई किस्से-कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। कुल मिलाकर उनका बचपन काफ़ी उद्दण्डता और खेल तथा झगड़ों में बीता था। अक्षराभ्यास संस्कार के बाद उन्हें पाठशाला भेजा गया और कुछ समय बाद उन्हें वहाँ से हटा लिया गया। कहा जाता है कि वे पाठशाला में सिर्फ़ कृष्ण के नाम लिखते थे। उपनयन संस्कार के बाद वे वेद, व्याकरण और तर्कशास्त्र सीखने के लिए एक टोल (बंगाली देशज शाला) में भेजे गए और अन्त में अपने सोलहवें साल में उन्होंने अपना ही टोल स्थापित कर लिया था।

बंगाल और उड़ीसा की पारम्परिक लोक कला का अंग है पटचित्र। यायावर, पौराणिक कथावाचक या गायक कथा सुनाने के साथ-साथ इन चित्रों का प्रदर्शन भी करते थे। इसे पट-संगीत कहा जाता था। चैतन्य की जीवनी पर आधारित इस चित्र (चित्र 14) में देशज शाला का परिवर्तित रूप दिखता है। शिक्षक पहले की ही तरह छड़ी लिए हुए हैं, मगर बैठे हैं आधुनिक स्कूल के मेज़-कुर्सी पर। मेज़ पर दवात-क़लम है और शाला में काग़ज़ व क़लम का उपयोग हो रहा है। शिक्षक जूते पहने हुए हैं। छात्र फ़र्श पर क़तार में बैठे हैं और एक-एक करके खड़े होकर शिक्षक को अपना लेखन दिखा रहे हैं।

बनारस के 'कम्पनी क़लम' के चित्र और बीरभूम का पटचित्र दोनों एक नए तरह की शाला की ओर संक्रमण दर्शाते हैं। इनमें छात्रों द्वारा स्वाध्याय का पुट कम है और शिक्षक का निर्देशन और छात्रों के व्यवहार की एकरूपता प्रधानता लिए है। हालाँकि यह परिवर्तन अभी पूरा नहीं हुआ है। सभी छात्र एक ही चीज़ अभी भी नहीं लिख रहे हैं।

संक्रमण यूरोप में भी

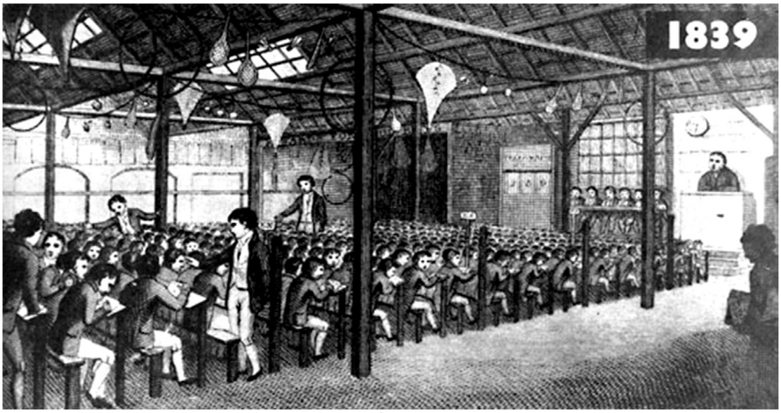
यह संक्रमण यूरोप में उद्योगीकरण के बाद हुए बदलाव की ओर भी इशारा करता है। यहाँ हम दो विपरीत चित्रों की मदद से इस संक्रमण को देख सकते हैं। पहला चित्र लगभग 1510 में प्रसिद्ध जर्मन पुनर्जागरण कलाकार अलब्रेक्ट ड्यूरर का बनाया हुआ है (चित्र 15)। ड्यूरर लकड़ी को उकेरकर चित्र (वुडकट) बनाते थे जिससे छपाई की जा सकती थी।



चित्र 15. अलब्रेक्ट ड्यूरर, स्कूल मास्टर अपनी छड़ी का उपयोग कर रहे हैं (ब्रिटिश संग्रहालय में संरक्षित)

ज़ाहिर है कि यह एक ग्रामीण शाला है जहाँ खुले में पेड़ के नीचे कक्षा लगी हुई है। शिक्षक और छात्र दोनों बैंचों पर बैठे हैं, पर शिक्षक कुछ ऊँचाई पर। चार-पाँच छात्र अलग-अलग मुद्रा में बैठे हैं और उनमें से एक कॉपी में कुछ लिख रहा है। शिक्षक के एक हाथ में पुस्तक है जो प्रयास करने पर ही दिखती है, मगर दूसरे हाथ की छड़ी पूरे चित्र पर हावी है। शायद उसका निशाना सामने बैठे छात्र का सिर है और वह अपना सिर बचाने के लिए झुक रहा है। इसकी तुलना हम उन्नीसवीं सदी के एक चित्र से करेंगे जिसमें उद्योगीकरण का प्रभाव स्पष्ट दिखता है।

1839 में बने इस स्कूल का चित्र हमें उस समय उभर रहे कारख़ानों का आभास देता है। सैकड़ों बच्चे क़तार में बैठे पढ़ रहे हैं। एक शिक्षक



चित्र 16. 'फैक्टरी' स्कूल

दूर पर ऊँचे आसन पर बैठा है और उसके ऊपर घड़ी लगी हुई है। घड़ी नए कारख़ाने और स्कूल दोनों की गतिविधियों को नियंत्रित करने लगी थी। कारख़ाने के फ़ोरमैन जैसे मॉनिटर हर क़तार पर निगरानी रखते हुए खड़े हैं। किसी के हाथ में छड़ी नहीं है और कोई हिंसा होते हुए भी नहीं दिख रही है, मगर पूरा माहौल अनुशासित है और सभी (या लगभग सभी) अपने निर्धारित काम एकरूपता के साथ कर रहे हैं। एक देर से आने वाला बालक सिर झुकाकर एक कोने में खड़ा है। मध्यकालीन शाला आधुनिक कारख़ाना बन गयी है।

रोचक तथ्य यह है कि इस मॉनिटर-आधारित व्यवस्था के प्रवर्तक एंन्ड्रयू बेल (1753-1832) मद्रास में लगभग दस साल रहे और वे यहाँ की देशज शिक्षा में मॉनिटरों की भूमिका से बहुत प्रेरित हुए थे। वरिष्ठ छात्रों द्वारा नए छात्रों को सफलतापूर्वक पढ़ाने को देखकर उन्हें लगा कि उन्हें बरतानिया में कम ख़र्चे पर सार्वजनिक शिक्षा का सुराग़ मिल गया। बेल शारीरिक दण्ड के ख़िलाफ़ थे और मानते थे कि इससे बच्चे विकृत हो जाते हैं। ऊपर दिया गया चित्र शायद इसी कल्पना की उपज थी। बेल की व्यवस्था को चर्च के शिक्षाविदों ने बहुत पसन्द किया और कहा जाता है कि इसी सिद्धान्त के आधार पर इंग्लैण्ड और अमरीका में लगभग 12,000 शालाएँ स्थापित हुईं।

मध्यकालीन और पूर्व आधुनिक शिक्षा व्यवस्था, चाहे वह यूरोप की हो या भारत की, उनसे दो-तीन बातें उभरकर आती हैं– पहली तो यह कि उनमें बहुत कम बच्चों को शिक्षा मिलती थी- लगभग पाँच से 25 के बीच। एडम के अनुसार बंगाल के अधिकांश ज़िलों में औसतन पाँच या छह छात्र ही एक शिक्षक के पास पढ़ते थे। विरले ही दस से अधिक छात्र होते थे। दूसरी बात यह है कि इनमें शिक्षक की प्रधानता तो थी, मगर हर बच्चा अपना ही कुछ कर रहा होता है, चाहे वह स्वाध्याय हो या लेखन या बोर होकर इधर-उधर ताकना या मस्ती करना। कक्षा पर शिक्षक का पूर्ण नियंत्रण या संचालन या फिर यूँ कहें कि एकीकृत शिक्षण प्रक्रिया नहीं दिखती है। तीसरी बात है अनुशासन बनाए रखने में शारीरिक दण्ड का खुला उपयोग। उद्योगीकरण के बाद आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में इन तीनों ही पक्षों में बदलाव आता है। शिक्षा धीरे-धीरे सार्वभौमिक होती जाती है, और एक मास्टर पर दर्जनों या दर्शाए गए चित्र जैसे सैकड़ों छात्र सौंप दिए जाते हैं। साथ-साथ शिक्षण कार्य का केन्द्रीयकरण और एकरूपीकरण होता जाता है, और छात्रों की गतिविधियों में भी एकरूपता आने लगती है। दण्ड और हिंसा ग़ायब तो नहीं हो जाती है, पर खुले रूप में प्रदर्शित नहीं होती। उसकी जगह एक व्यवस्थागत नियंत्रण और अनुशासन हावी हो जाता है जो कि प्रच्छन्न हिंसा के बिना नहीं सम्भव है। हिंसा का रूप बदल जाता है और शायद छात्रों के ज़हन में आत्मसात हो गया होता है। शिक्षकों व छात्रों के बीच एक औपचारिक दूरी बन जाती है, जो तिपाही या कुर्सी-टेबिल का रूप ले लेती है।

★

इन तीन आलेखों का उद्‌देश्य है इन उपलब्ध

चित्रों की ओर ध्यान खींचना और उन्हें समझने के लिए कुछ तरीक़े सोचना व कुछ प्रारम्भिक विचार साझा करना। मैं आशा करता हूँ कि और लोग इनका विधिवत अध्ययन करके शिक्षा के बदलते स्वरूप और अर्थ पर नया प्रकाश डालेंगे और नए अर्थ गढ़ने में मदद करेंगे।

सन्दर्भ

Archer, Mildred, Company Paintings: Indian Paintings of the British Period. London : Victoria and Albert Museum, 1992.

धर्मपाल, रमणीय वृक्ष, 18वीं सदी में भारतीय शिक्षा, (अँग्रेजी से अनुवाद) पुनरुत्थान ट्रस्ट, अहमदाबाद, 2016

Alexander Duff (Editor), The state of Indigenous Education in Bengal and Behar, No. IV, Vol. II, Second Edition, *Calcutta Review* Vol. II, October – December, 1844,

Jacqueline Hargreaves, 'Visual Evidence for postures as punishments in Indian Schools'https://www.theluminescent.org/2017/05/

पाँच बजे की तिण्णै शाला *चकमक,* जून 2013, पृष्ठ 24–26

उ वे स्वामिनाथ अय्यर, *मेरी जीवनी* (अनुवाद – आन्नदी रामनाथन्) साहित्य अकादमी, दिल्ली 1970

चित्रों के स्रोत

चित्र 1 : istock इमेज गैलरी

चित्र 2 : South & South East Asia Collection, Victoria and Albert Museum, http://collections.vam.ac.uk/item/O431447/a–class–of–children–painting–unknown/

चित्र 3 : South & South East Asia Collection, Victoria and Albert Museum, http://collections.vam.ac.uk/item/O431448/a–child–painting–unknown/

चित्र 4 : http://eraeravi.blogspot.com/2015/10/1910.html

चित्र 5 : अज्ञात

चित्र 6 : South & South East Asia Collection, Victoria and Albert Museum, 4674:8/(IS).http://collections.vam.ac.uk/item/O427490/one–of–eleven–paintings–depicting–painting–unknown/

चित्र 7 : South & South East Asia Collection, Victoria and Albert Museum, 4674:10/(IS).http://collections.vam.ac.uk/item/O427488/one–of–eleven–paintings–depicting–painting–unknown/

चित्र 8 : South & South East Asia Collection, Victoria and Albert Museum, 4674:1/(IS).http://collections.vam.ac.uk/item/O427497/one–of–eleven–paintings–depicting–painting–unknown/

चित्र 9 : South & South East Asia Collection, Victoria and Albert Museum, 4674:5/(IS).http://collections.vam.ac.uk/item/O427493/one–of–eleven–paintings–depicting–painting–unknown/

चित्र 10 : South & South East Asia Collection, Victoria and Albert Museum, 4674:7/(IS).http://collections.vam.ac.uk/item/O427491/one–of–eleven–paintings–depicting–painting–unknown/

चित्र 11 : South & South East Asia Collection, Victoria and Albert Museum, 4674:9/(IS)http://collections.vam.ac.uk/item/O427489/one–of–eleven–paintings–depicting–painting–unknown/

चित्र 12 : South & South East Asia Collection, Victoria and Albert Museum4674:6/(IS).http://collections.vam.ac.uk/item/O427492/one–of–eleven–paintings–depicting–painting–unknown/

चित्र 13 : South & South East Asia Collection, Victoria and Albert Museum 4674:4/(IS).http://collections.vam.ac.uk/item/O427494/one–of–eleven–paintings–depicting–painting–unknown/

चित्र 14 : आशुतोष संग्रहालय, कलकत्ता विश्वविद्यालय में संरक्षित

चित्र 15 : डेट्रायट इंस्टिट्यूट ऑफ़ आर्ट में संरक्षित https://www.dia.org/art/collection/object/school–master–43124

चित्र 16 : http://www.schoolsmatter.info/2011/12/in–early–19th–century–efficiency–zealot.html

---

सी एन सुब्रह्मण्यम पिछले तीन दशकों से एकलव्य के सामाजिक विज्ञान कार्यक्रम से जुड़े रहे हैं। वर्तमान में सेवानिवृत्त हैं और इतिहास के बारे में बच्चों और शिक्षकों के लिए लिखने में रुचि रखते हैं।
सम्पर्क : subbu.hbd@gmail.com

शिक्षा और 'आदर्श' बच्चा
क्या 'बचपन' का सिर्फ़ एक ही मतलब हो सकता है?

रेवा यूनुस

भारतीय सन्दर्भ में बचपन की अवधारणा क्या है? 'आदर्श' और 'अनादर्श' बच्चा क्या है? शिक्षा के दायरे में बचपन और 'आदर्श' बच्चे को देखने का नज़रिया है? क्या बचपन का सिर्फ़ एक ख़ास मतलब ही हो सकता है? जैसे सवालों पर यह लेख ग़ौर करता है। और शोध अध्ययनों के हवाले से कहता है कि बचपन कई प्रकार के होते हैं उनको समझना व सम्मान करना बहुत ज़रूरी है। लेख, ख़ासकर सामाजिक-आर्थिक शोषण की विविधतापूर्ण परिस्थितियों में पलने-बढ़ने वाले बचपन के लिए बेहतर शैक्षिक-सामाजिक परिस्थितियों में अच्छी शिक्षा की पैरवी करता है जिससे कि समाज में शैक्षिक, सामाजिक और आर्थिक असमानता को कम किया जा सके। लेखिका ज़ोर देकर कहती हैं कि 'अनादर्श' बच्चे नहीं हैं बल्कि राज्य और समाज हैं एवं 'कमी' और 'अपूर्णता' बच्चों और परिवारों में नहीं बल्कि संस्थाओं और व्यवस्थाओं में है।

परिचय

"अरे, हमारे माँ-बाप ने नहीं भेजा हमें स्कूल?... अगर बच्चा रोज़ स्कूल आएगा तो सीखेगा कैसे नहीं?" पाण्डे मैडम का कहना था कि माता-पिता अमीर हों या ग़रीब, अगर शुरू से बच्चों की पढ़ाई पर ध्यान दें तो ही सब ठीक चलता है वरना नहीं। पाण्डे मैडम की बातें सुनकर मुझे भी अपना तब का अनुभव याद आ गया जब मैं घर के पास की एक झुग्गी-बस्ती के बच्चों को पढ़ाया करती थी। तब मुझे भी यही नाराज़गी रहती थी कि बच्चे नियमित आते ही नहीं हैं। मुझे यही लगता था कि बच्चे अगर रोज़ आएँगे, मन लगाकर पढ़ेंगे, तो सीखेंगे कैसे नहीं!

इस लेख में, मैं इसी मुद्दे पर बात करना चाहती हूँ। मध्यमवर्गीय शिक्षक (और शिक्षा नीति निर्माता वग़ैरह) 'बच्चे' और 'बचपन' जैसे शब्दों को अकसर ऐसे इस्तेमाल करते हैं जैसे इनका यथार्थ हमेशा एक-सा ही होता है, जैसे सबका बचपन एक-सा गुज़रता है, जैसे बचपन कोई ऐसी परी कथा है जिसपर ज़मीनी सच्चाइयों का कोई असर कभी नहीं पड़ता, जैसे ग़ैर-बराबरी और शोषण के सारे सवाल बचपन के घेरे से बाहर ही कहीं ठिठक कर रुक जाते हैं। 'बचपन' को लेकर इस व्यक्तिवादी परिकल्पना में हर बच्ची एक ऐसे व्यक्ति के रूप में देखी जाती है जिसकी स्कूली ज़िन्दगी का समाज, या अर्थव्यवस्था से कोई लेना-देना नहीं, जैसे वह एक परिवार, एक समुदाय या समाज का हिस्सा नहीं, जैसे उसपर वर्ग, जाति/नस्ल, जेंडर या धर्म के फ़र्क़ पर आधारित असमानता का कोई असर नहीं पड़ता।

'बचपन' की अवधारणा बनाम 'आदर्श' बच्चा

'बचपन' की अवधारणा पर किया गया शोध बताता है कि एक ख़ास तरीक़े के 'आदर्श' (आइडियल) और 'वैश्विक' (ग्लोबल) बच्चे की कल्पना ही शिक्षा नीति और शिक्षण पद्धतियों में अकसर प्रतिबिम्बित होती दिखती है। 'बचपन' की ये छवि मध्यमवर्गीय तथाकथित 'उच्च' जाति के लड़कों के अनुभवों से मेल खाती है और मेरी व पाण्डे मैडम की सोच भी कई मायनों में इसी क़िस्म के किसी बच्चे के अनुभवों, सम्भावनाओं और परिस्थितियों में अटकी रही।

'बचपन' के क्षेत्र में शोध करने वाली स्कॉलर शारदा बालगोपालन के अनुसार, जब भारत जैसे देशों में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के दौरान आधुनिक और औपचारिक स्कूली शिक्षा की शुरुआत की गई, तो इस शिक्षा व्यवस्था के साथ 'आदर्श' स्कूली बच्चे की एक ख़ास परिकल्पना या अवधारणा भी शिक्षा नीति, संस्थाओं और विमर्श का हिस्सा बन गई। इस सोच के चलते 'बचपन' की हमारी समझ में दो क़िस्म के बदलाव आए— पहला, बचपन, युवावस्था और वयस्क अवस्था जीवन के विशिष्ट चरणों के रूप में स्थापित होने लगे; इससे पहले हमारे समाज में इन अवस्थाओं में हमेशा इतना स्पष्ट और तीक्ष्ण फ़र्क़ करना ज़रूरी नहीं समझा जाता था। और दूसरा, अब शिक्षा, समाजीकरण और काम के बीच का रिश्ता ख़त्म होने लगा था (जिसके आधारभूत कारणों में उपनिवेशवाद की जड़ में बसी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और नस्लवाद भी शामिल थे)। धीरे-धीरे यह मान्यता बन गई कि 'आदर्श' बच्चा वही है जो सिर्फ़ औपचारिक स्कूली शिक्षा में व्यस्त हो, न कि किसी क़िस्म के काम में, और जैसा कि ओल्गा न्यूवेनहाइज़ ने स्पष्ट किया है, ख़ासतौर पर आर्थिक रूप से महत्त्वपूर्ण काम में। इस 'आदर्श' स्कूली बच्चे की परिकल्पना में यह भी शामिल था कि इस बच्चे को कुछ बुनियादी सुविधाएँ निश्चित रूप से उपलब्ध होंगी, जैसे— पर्याप्त खाना-पीना, रहने के लिए सुरक्षित घर, खेलकूद की जगह और फ़ुर्सत, बढ़ने-पढ़ने के लिए पर्याप्त संसाधन आदि।

ज़ाहिर है, अगर यही 'आदर्श' था तो भारत के अधिकतर बच्चे आदर्श से न सिर्फ़ तब कोसों दूर थे, बल्कि अच्छी-ख़ासी संख्या में आज भी इससे दूर ही हैं। फिर भी अगर एक दिन भी कोई स्कूलों में गुज़ारे तो पाएगा कि आज भी इस आदर्श बचपन की छवि को ध्यान में रख कर ही नीतियाँ बनाई जाती हैं। न सिर्फ़ नीतियाँ, बल्कि स्कूल में दिनभर का सारा कार्यक्रम, शिक्षकों की अधिकतर बातें कहीं-न-कहीं इस आदर्श को ध्यान में रखकर ही कही जाती हैं। इस आदर्श के कारण सबसे बड़ी दिक़्क़त यह खड़ी हो गई कि कामकाजी और स्कूली बच्चे के बीच जैसे एक विरोधाभास पैदा हो गया— जो बच्चा स्कूल जाता है वह काम नहीं करता, या कम-से-कम 'उसे काम नहीं करना चाहिए'। मानो स्कूल जाना कोई जादू की छड़ी फिराने के बराबर है- इधर स्कूल जाना शुरू किया, और उधर सारी परेशानियाँ छू-मन्तर! काश कि सच में ऐसा ही होता भी!

> किताब *द पुअर चाइल्ड* में लेखिकाओं ने यह तर्क सामने रखा है कि— विकास एवं शिक्षा पर केन्द्रित समकालीन विमर्श बुनियादी तौर से सिर्फ़ एक 'आदर्श' बच्चे की ज़िन्दगी को ही ध्यान में रखते हैं— बाक़ी बच्चों के जीवन, उनकी पृष्ठभूमि और प्रसंग सांस्कृतिक तौर पर अपूर्ण और अभावग्रस्त (deficient) समझे जाते हैं।

आरती श्रीप्रकाश और लूसी हॉपकिंस की 2016 में प्रकाशित किताब *द पुअर चाइल्ड* इस सवाल को रेखांकित करने का और इसके जवाब ढूँढ़ने का एक बेहतरीन प्रयास है। लेखिकाओं ने किताब की शुरुआत में यह तर्क सामने रखा है कि विकास एवं शिक्षा पर केन्द्रित समकालीन विमर्श बुनियादी तौर से सिर्फ़ एक 'आदर्श' बच्चे की ज़िन्दगी को ही ध्यान में रखते हैं— बाक़ी बच्चों के जीवन, उनकी पृष्ठभूमि और प्रसंग सांस्कृतिक तौर पर अपूर्ण और अभावग्रस्त (deficient) समझे जाते हैं। मतलब यह कि इन बच्चों और इनके अभिभावकों में उन नज़रियों, समझ या गुणों का कथित रूप से अभाव होता है जिन्हें शैक्षिक सफलता के लिए आवश्यक समझा जाता है। इन बच्चों, परिवारों या समुदायों को केन्द्र में रखकर शिक्षा का ढाँचा और प्रारूप नहीं बनाए जाते, बल्कि ये उनके कथित 'सुधार' के लिए बनाए

जाते हैं। इन 'अनादर्श' बच्चों को लेखिकाओं ने 'पुअर चाइल्ड' कहा है– यानी 'ग़रीब बच्ची'। वैसे तो 'चाइल्ड' का मतलब बच्चे या बच्ची दोनों से हो सकता है, मगर जेंडरजनित भेदभाव की गम्भीरता के मद्देनज़र मैं 'पुअर चाइल्ड' का अनुवाद 'ग़रीब बच्ची' करती रही हूँ।

जिन तबक़ों को ऐतिहासिक रूप से सत्ता में, और परिणामतः नीति-निर्माण में हाशिए पर रहना पड़ा है, उन तबक़ों से आने वाले बच्चों के लिए पाठ्यचर्या और स्कूली किताबों के ज़रिए जो अन्याय हुआ है, इसपर तो काफ़ी चर्चा हमारे यहाँ होती रही है। ज़रूरी यह भी है कि 'ग़रीब बच्चियों' की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि और भूमिका की भी बेहतर समझ पैदा हो और बच्चियों के अनुभवों के ज़रिए उन सामाजिक और आर्थिक तंत्रों की भी बेहतर समझ बने जिनके चलते ग़ैर-बराबर बचपन ऐतिहासिक तौर पर पैदा होते रहे हैं और जिनके कारण सामाजिक-आर्थिक ग़ैर-बराबरी बरक़रार रहती है।

ज़मीनी हक़ीक़त

इस हिस्से में मैंने कुछ उदाहरण दिए हैं। ये उदाहरण उस स्कूल से हैं जहाँ मैंने पीएचडी के दौरान रिसर्च की। इस स्कूल के सभी शिक्षक पहले तो ग़रीबी के रोज़मर्रा अनुभव को ही समझने में अक्षम थे, दूसरे, अगर वे यह मानने के लिए तैयार भी थे कि उनके विद्यार्थियों पर ज़िम्मेदारियाँ हैं, तो उस ज़मीनी सच को अकसर बच्चों के माता-पिता की 'ग़लती' के तौर पर देखा गया, 'मजबूरी' की तरह नहीं। कम नम्बर लाने वाली कुछ बच्चियों को कई बार कक्षा में ताने-उलाहने सुनाए जाते– 'तेरी मम्मी घर पे कुछ भी काम नहीं करती क्या?' मतलब यह कि अगर बच्ची घरेलू ज़िम्मेदारी के चलते पढ़ाई ठीक से नहीं कर पाती है तो ज़रूर कहीं-न-कहीं माँ-बाप की ही कोई ग़लती होगी। एक सबसे बड़ी दिक़्क़त यह थी कि जिन आदतों और नज़रियों के अभाव को सांस्कृतिक 'कमी' और 'हीनता' समझा जा रहा था उनका आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों से क्या सम्बन्ध है, इसकी समझ मध्यमवर्गीय शिक्षकों में कम ही दिख रही थी। जैसे– कक्षा में ध्यान न दे पाने की वजह शायद यह हो सकती है कि बच्ची ने सुबह कुछ खाया ही न हो, स्वेटर न होने के कारण ठण्ड में ठिठुर रही हो, या चूल्हे के धुएँ से हुई खाँसी ने उसे रातभर सोने ही न दिया हो– यह कल्पना ही शिक्षकों के लिए मुश्किल थी। बच्चियों के पास आमतौर पर वे संसाधन, ऊर्जा और समय ही नहीं होते कि वे नियमित रूप से स्कूली शिक्षा की माँगें पूरी कर सकें। उदाहरण देने का मेरा मक़सद यह नहीं है कि किसी एक शिक्षक को, या सिर्फ़ शिक्षकों को इस स्थिति के लिए ज़िम्मेदार ठहराया जाए। शिक्षकों और बच्चों के बीच के रिश्ते पर ध्यान देने का प्रमुख कारण यह है कि 'बचपन' और ग़रीब बच्चियों के अनुभव को समझने के लिए ज़रूरी है कि जाति, वर्ग और जेंडर के उन रिश्तों को भी ध्यान में रखा जाए जिनमें व्यापक समाज बँधा रहा है। और इन रिश्तों का एक ट्रेलर मुझे स्कूल में नज़र आता है।

एक सबसे बड़ी दिक़्क़त यह थी कि जिन आदतों और नज़रियों के अभाव को सांस्कृतिक 'कमी' और 'हीनता' समझा जा रहा था उनका आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों से क्या सम्बन्ध है, इसकी समझ मध्यमवर्गीय शिक्षकों में कम ही दिख रही थी।

आठवीं कक्षा में जहाँ मैंने मुख्य रूप से रिसर्च की, वहाँ अस्सी में से बमुश्किल दस बच्चे ही तथाकथित उच्च जातियों से थे जबकि सभी सात शिक्षक ब्राह्मण थे। हालाँकि सभी शिक्षकों की आर्थिक स्थिति एक-सी नहीं थी, मगर सभी के बच्चे निजी स्कूलों और कॉलेजों में पढ़े थे या पढ़ रहे थे। ऐसे में उनके अपने बच्चे 'आदर्श'

बच्चे की अवधारणा में कहीं बेहतर फ़िट होते थे बजाय उनके स्टूडेंट्स के। उस कक्षा में पढ़ने वाले लगभग सभी बच्चों के परिवार अनौपचारिक रोज़गार पर निर्भर थे और लगभग सभी आन्तरिक प्रवासी (internal migrant) थे। शहर के स्थायी प्रवासी होने के कारण, और कई वर्षों से इन्दौर में रहने के कारण अधिकतर परिवारों के पास सारे पहचान-पत्र वग़ैरह तो थे मगर अनौपचारिक रोज़गार में होने के कारण उनकी मासिक आय घटती-बढ़ती रहती थी, यानी उनकी आर्थिक स्थिति अकसर बदलती रहती थी। कई बच्चे-बच्चियों ने अपने और अपने घरवालों के मानसिक तनाव और चिन्ता का ज़िक्र भी मुझसे किया। उनकी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में न तो स्थायित्व था और न मन की शान्ति। कई परिवार जो जाति वग़ैरह के आधार पर पक्षपात या शोषण झेलते रहे थे, और जिनकी जान-पहचान में ऐसे लोग नहीं थे जो शहर में ठीक-ठाक आजीविका ढूँढ़ने में उनकी मदद कर सकते थे, उन्हें और भी मुश्किलों व अनिश्चितता का सामना करना पड़ता था।

एक ग़ौरतलब बात यह है कि आज की तारीख़ में सारी दुनिया की अर्थव्यवस्था 'अनौपचारिक श्रम' (informal labour) पर टिकी हुई है, जिसमें बच्चों और महिलाओं के काम की ख़ास भूमिका है– चूँकि उनसे बहुत कम मज़दूरी पर काम लिया जा सकता है। दूसरे, मध्यप्रदेश देश में सबसे कम दैनिक मज़दूरी देने वाले प्रदेशों में है। ऐसे में जिन परिवारों का पूरा भरण-पोषण इस तरह के काम पर ही टिका हुआ हो वहाँ बच्चों को अकसर काम करना ही पड़ता है। यहाँ ज़िम्मेदारी किसी एक परिवार या समुदाय की नहीं, बल्कि भारतीय राष्ट्र-राज्य और वैश्विक पूँजी की है। नवउदारवाद के चलते भारतीय राज्य ने भी ग़रीब और शोषित समुदायों के प्रति अपनी ज़िम्मेदारियों से मुँह मोड़ लिया है।

एक ग़ौरतलब बात यह है कि आज की तारीख़ में सारी दुनिया की अर्थव्यवस्था 'अनौपचारिक श्रम' (informal labour) पर टिकी हुई है, जिसमें बच्चों और महिलाओं के काम की ख़ास भूमिका है— चूँकि उनसे बहुत कम मज़दूरी पर काम लिया जा सकता है।

ऐसे में वर्ग और जाति के पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आ रहे फ़र्क़ बचपनों की असमानता बनाए रखने में और भी कामयाब हो जाते हैं। काम और स्कूल के बीच के जिस विरोधाभास का ज़िक्र मैंने ऊपर किया है उसमें अकसर 'घर के काम' का विश्लेषण छूट जाता है– जिस काम को मारिया माईज़ ने 'पुनरुत्पादक' श्रम (reproductive labour) नाम दिया है और जो 'सामाजिक पुनरुत्पादन' का आधार है। इसमें बच्चे पैदा करना, सारे घर का काम एवं देखभाल और बच्चों की परवरिश, वग़ैरह बहुत-सी बातें शामिल हैं। ये सारा भार आमतौर पर लड़कियों / औरतों को ही ढोना पड़ता है। सिंडी कैट्ज़ के अनुसार, वैश्वीकरण और नवउदारवाद के चलते इस काम की महत्ता और इसका भार बढ़ा ही है, कम नहीं हुआ। अगर ये काम न हो तो उत्पादक काम करने के लिए कोई श्रमिक भी उपलब्ध नहीं होंगे।

मैं ऐसे कई बच्चों से मिली जिनके माता-पिता को न तो हफ़्ते में एक दिन की पूरी छुट्टी नसीब होती थी, और न उनका काम आठ घण्टे तक सीमित होता था। इस सबके चलते बच्चियों पर अकसर घर के काम का ज़िम्मा आ ही जाता था (वैसे संयुक्त परिवार के बढ़ते चलन, प्रवासन यानी 'माइग्रेशन' और लड़कियों की शिक्षा में बढ़ती सहभागिता के कारण एक बदलाव भी मैंने देखा- कई लड़के भी घर के काम में अपनी माँओं का हाथ बँटाते नज़र आने लगे हैं)। रूपा की कहानी में ऐसे ही

सामाजिक-आर्थिक वर्गीकरण का गहरा असर दिखाई देता है। आठवीं में पढ़ने वाली रूपा और नवीं में पढ़ने वाले उसके भाई प्रवीण को एक रेडीमेड कपड़ा उत्पादन यूनिट में काम शुरू करना पड़ा क्योंकि उनकी माँ और पिता, दोनों ही, स्वास्थ्य समस्याओं के कारण काम करने में असमर्थ हो गए थे। लेकिन भाई-बहन के बीच भी महत्त्वपूर्ण अन्तर था क्योंकि रूपा पर तिहरी ज़िम्मेदारी थी— स्कूल का काम, घर का काम और यूनिट पर मज़दूरी। चूँकि आठवीं तक स्कूल में फ़ीस देने की ज़रूरत नहीं थी इसलिए कम-से-कम रूपा को उस वक़्त तो स्कूल नहीं छोड़ना पड़ा जबकि प्रवीण का स्कूल जाना बन्द हो गया था। भाई-बहन पर इसी यूनिट में कम पैसे पर काम करने की मज़बूरी इसलिए भी थी कि माता-पिता के इलाज के लिए यूनिट के मालिक़, यानी 'सेठ' से बहुत उधार भी इस परिवार को लेना पड़ा था।

अब सोचिए कि ये बचपन 'आदर्श' बचपन से कुल कितना दूर था! मात्र स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं ने ही कई परिवारों की भी कमर तोड़ रखी थी।

यह भी कल्पना कीजिए कि अगर स्वास्थ्य सेवाएँ बिना शर्त मुफ़्त मुहैया होतीं (शर्तें पूरी न कर पाने, या नीतियों का सही कार्यान्वयन न होने के कारण भी मैंने कई परिवारों को संघर्ष करते हुए देखा है— ख़ासतौर पर स्वास्थ्य सेवाएँ पाने के मामले में) और स्कूल बारहवीं तक मुफ़्त भी होता एवं स्कूली शिक्षा गुणवत्तापूर्ण होती तो रूपा और प्रवीण के लिए ग़रीबी से लड़ने की कई ज़्यादा सम्भावना होती! कल्पना की यह उड़ान क्या ये नहीं बतलाती कि सामाजिक-आर्थिक असमानता से छुटकारा पाने के लिए सिर्फ़ स्कूली शिक्षा उपलब्ध करवाना ही काफ़ी नहीं है? इसके लिए अच्छे स्कूल ज़रूरी हैं। ग़रीबी कैसे स्कूली शिक्षा में सहभागिता में बाधा बनती है और बच्चों एवं उनके परिवारों पर उसका क्या बुनियादी असर होता है, इसे समझने, स्वीकारने और उसका उपाय करने की भी ज़रूरत है।

> यहाँ मैं बच्चियों के सामाजिक-आर्थिक शोषण की हिमायत नहीं कर रही हूँ, बल्कि यह दिखाने की कोशिश कर रही हूँ कि बचपन कई प्रकार के होते हैं और उनका सम्मान करना व उन्हें समझना बेहद ज़रूरी है। ग़रीब बच्चियों की मजबूरियों को समझने का यह मतलब कतई नहीं है कि इनकी बौद्धिक / शैक्षिक क्षमता से उम्मीद कम की जाए; बल्कि इन्हें अच्छी सुविधाएँ दी जाएँ।

जहाँ एक ओर ये बच्चे अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर स्कूल में इनकी बराबर हेठी हुआ करती थी— उनके काम की उनके परिवार, समाज या अर्थव्यवस्था में क्या महत्ता थी, इससे स्कूल में किसी को कोई सरोकार नहीं था, न उनसे सहानुभूति थी, और न उस वैश्विक पूँजी और राज्य के प्रति कोई रोष जो इनके प्रति अपनी ज़िम्मेदारियाँ निभाने से लगातार पीछे हट रहे थे। उनके अनुभवों, अभावों, संघर्षों का बच्चों पर, उनके मन और उनकी पढ़ाई पर क्या असर पड़ता है— इसकी कोई समझ शिक्षा नीति, किताबों या शिक्षण पद्धतियों में नज़र नहीं आती। क्लासरूम में अगर हर बच्ची की तुलना 'आदर्श' बच्चे से की जाए, और वही उम्मीदें उससे की जाएँ जो 'आदर्श' बच्चे से की जाती हैं, तो न तो हम कभी इनकी ज़िन्दगियों को समझ पाएँगे और न ही इनसे न्याय कर पाएँगे। रूपा और प्रवीण का उदाहरण यह भी दिखाता है कि 'बचपन' की अवधारणा यह समझने में ख़ासी उपयोगी सिद्ध होती है कि भारतीय समाज एवं अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था किस तरह असमान बचपन पैदा करते हैं और इसका शैक्षिक अनुभवों से क्या सम्बन्ध है।

अन्त में

यहाँ मैं बच्चियों के सामाजिक-आर्थिक शोषण की हिमायत नहीं कर रही हूँ, बल्कि यह दिखाने की कोशिश कर रही हूँ कि बचपन कई प्रकार के होते हैं और उनका सम्मान करना व उन्हें समझना बेहद ज़रूरी है। ग़रीब बच्चियों की मज़बूरियों को समझने का यह मतलब कतई नहीं है कि इनकी बौद्धिक / शैक्षिक क्षमता से उम्मीद कम की जाए; बल्कि इन्हें अच्छी सुविधाएँ दी जाएँ। विडम्बना यह है कि जो बच्चे इतनी मुसीबतों से निपटते हुए पढ़ाई करने की कोशिशें करते हैं, उन्हीं को सबसे कम संसाधनयुक्त स्कूलों से काम चलाने को कहा जाता है। इन्हें मिलते हैं– टूटे-फूटे ब्लैकबोर्ड, बिना लैब और लाइब्रेरी के स्कूल, बेजान, बिना गीत-संगीत की 'मॉर्निंग असेम्बली', बिना खेलकूद के सामान वाले स्कूल, और नीरस मध्याह्न भोजन। वहीं इनके शिक्षकों को मिलते हैं- बिना लैंडलाइन, बिना इंटरनेट, बिना कॉपियर-प्रिंटर वाले 'ऑफ़िस', टूटे-फूटे कुर्सी-मेज़ और लोकल बैंक के दान किए हुए लाइट, पंखे और अलमारियाँ। शैक्षिक न्याय के लिए सामाजिक न्याय भी ज़रूरी है व शैक्षिक असमानता और आर्थिक-सामाजिक असमानता से एक साथ निपटना ज़रूरी है। और इनसे निपटने के लिए (सिर्फ़) परिवार या समुदाय की नहीं, बल्कि अर्थव्यवस्था, समाज और नवउदारवादी राष्ट्र-राज्य का समीक्षात्मक विश्लेषण (critical analysis) भी ज़रूरी है। 'अनादर्श' बच्चे नहीं बल्कि राज्य और समाज हैं एवं 'कमी' और 'अपूर्णता' बच्चों और परिवारों में नहीं बल्कि संस्थाओं और व्यवस्थाओं में है।

सन्दर्भ

Balagopalan, S (2014), *'Inhabiting 'Childhood': Children, Labour and Schooling in Postcolonial India,'* Basingstoke: Palgrave Macmillan.

Balagopalan, S and Subrahmanian, R (2003), 'Dalit and Adivasi Children in Schools: Some Preliminary Research Themes and Findings', *IDS Bulletin* 34 (1) (2003): pp. 43-54.

Hopkins, L and Sriprakash, A (eds) 2016, *The 'Poor Child': The Cultural Politics of Education, Development and Childhood,* Oxon: Routledge.

Katz, C (2004), *Growing Up Global: Economic Restructuring and Children's Everyday Lives,* Minneapolis: University of Minnesota Press.

Nieuwenhuys, O (2006), 'The Paradox of Child Labour and Anthropology', In Das V (ed.) *Handbook of Indian Sociology,* New Delhi: Oxford University Press, pp. 331-344.

रेवा यूनुस भौतिकशास्त्र एवं शिक्षा में स्नातकोत्तर हैं, आपने वार्विक विश्वविद्यालय से समाजशास्त्र में पीएचडी की है। वंचित बच्चों के साथ व स्कूली शिक्षा के अलग-अलग पहलुओं पर काम किया है जिसमें शिक्षा-नीति और विज्ञान पाठ्यक्रम शामिल हैं। भाषा शिक्षा, शैक्षणिक असमानता और जेंडर के मुद्दों पर लिखती रही हैं। वे आजकल टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल साइंस, मुंबई में बतौर पोस्ट-डॉक्टोरल फेलो काम कर रही हैं।

सम्पर्क : reva.yunus@gmail.com

'पढ़ाई' के बहाने स्त्री-शिक्षा की पड़ताल

निशा नाग

बाल केन्द्रित शिक्षा या अनुभवजन्य सीखने की बातें भी स्त्री-पुरुष भेदभाव से अछूती नहीं रह जातीं। एक लड़की के लिए पढ़ाई के सामाजिक निहितार्थ बिलकुल अलग हैं। विविध कथा साहित्य के मार्फ़त इसी बात को रखने की कोशिश करता यह आलेख बताता है कि इतने वर्षों बाद भी समाज का नज़रिया कुछ ख़ास नहीं बदला है। प्रमुखतः जैनेन्द्र कुमार की कहानी 'पढ़ाई' के माध्यम से बाल-शिक्षा की बात करते हुए स्त्री-शिक्षा से जुड़े गम्भीर सवाल उठाता है यह आलेख।

"मैं अगला जन्म लूँगी तो ये मोटी-मोटी बड़ी किताबें पढ़ूँगी।" नब्बे वर्षीय उस बुज़ुर्ग महिला के मन की कसक मुझे कहीं अन्दर तक कचोट गई। मेरे इस प्रश्न के उत्तर में कि "आपके समय में क्या स्कूल नहीं थे? आप पढ़ने क्यों नहीं गईं?" जो उत्तर मुझे मिला वह झकझोरने वाला था। उन्होंने बताया कि वह स्कूल गई थीं बहुत ही थोड़े समय के लिए और उन्होंने वर्णमाला की पुस्तक में यहाँ तक पढ़ा था– "चल अब घर चल"।



"फिर?" "फिर परिवार और बिरादरी के बड़े-बूढ़ों ने ऐतराज़ किया कि हमारे परिवार की लड़कियाँ अवर्ण जाति की लड़कियों के साथ पढ़ रही हैं। इस वजह से उनकी शादी नहीं होगी। दूसरा पढ़ जाएँगी तो चिट्ठी लिख कर पतियों की शिकायतें करेंगी और घर तुड़वाएँगी।"

इनमें से पहली वजह समाज की रूढ़िवादी सोच है तो दूसरी स्त्रियों की जागरूकता को लेकर आशंका से जुड़ी है। भारत में स्त्री-शिक्षा का प्रश्न निरन्तर विचित्र प्रकार के भय, मिथकों और आशंकाओं से जुड़ा रहा। प्रारम्भ में यदि पढ़ने से घर तुड़वाने, विधवा होने जैसी आशंकाएँ थीं तो बाद में शिक्षा का प्रचार-प्रसार होने के बाद लड़कियों को केवल और उतना ही पढ़ाया जाता था जिससे उन्हें एक अच्छे वर की प्राप्ति हो सके। आज न केवल देखा जा सकता है, बल्कि लोगों से बातचीत के दौरान यह बात भी पुष्ट होती है कि बहुत-सी लड़कियों के स्नातक के बाद शिक्षा ग्रहण करने का उद्देश्य उच्च शिक्षा लेना नहीं बल्कि विवाह होने ने इन्तज़ार के बीच का समय गुज़ारना रहता है।

भारत में 19वीं सदी के मध्य से समाज सुधारकों तथा मिशनरियों ने स्त्री-शिक्षा का प्रयास किया। स्त्री-शिक्षा की प्रकृति क्या हो? यह भी निरन्तर बहस का प्रश्न बना रहा जिसका कारण स्त्री और पुरुष के भिन्न परिभाषित रूढ़िवादी कार्यक्षेत्र थे। मिशनरियों और समाज सुधारकों से लेकर स्वतंत्रता के बाद तक स्त्री-शिक्षा का लक्ष्य और उद्देश्य उसके व्यक्तिगत विकास से कहीं अधिक उसे एक गृहिणी और माँ की भूमिका में दक्ष बनाना रहा। स्त्री की शिक्षा

का उद्देश्य स्वयं को सुधारने से कहीं अधिक समाज सुधार माना गया। शिक्षा या पढ़ाई के क्षेत्र में अकसर कुछ सामान्यीकृत सहज प्रश्नों पर विचार किया जाता रहा जिनमें बाल-शिक्षा के सन्दर्भ में शिक्षा से सम्बन्धित बातें जैसे– कितने बच्चे स्कूल जाते हैं? शिक्षा की आरम्भिक आयु क्या हो? विभिन्न विषयों की शिक्षा देने के सामान्य तौर-तरीक़े किस तरह के हों? आदि पर बातचीत की जाती है। लड़कियों की शिक्षा पर बात करने के दौरान सामान्य रूप से समाज और स्थितियों की ऊपरी सतहों को देखा जाता है, परन्तु क्या शिक्षा का क्षेत्र लड़कियों के लिए भी उतना ही सहज है जितना कि लड़कों के लिए? जैसे– घर, आस-पड़ोस या खेल का मैदान लड़कों के लिए जो मायने रखता है, वह लड़कियों के लिए वही मायने नहीं रखता क्योंकि समाज में जो लिंगभेद व्याप्त है वह उन दोनों को दो अलग तरह के अनुभव देता है। मसलन, सड़क पर चलती एक लड़की का अनुभव वह नहीं होता जो एक लड़के के लिए होता है। यही बात शिक्षा के साधन और साध्य की भी है जो ऊपरी तौर पर एक लगते हुए भी सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों से दोनों के लिए भिन्न है। इस स्थिति को साहित्य द्वारा भी समझा जा सकता है। स्त्री-शिक्षा के प्रश्न से जूझते हिन्दी साहित्य में आरम्भिक उपन्यासों जैसे– *देवरानी जेठानी की कहानी* (लेखक– पं. गौरीदत्त शर्मा, 1870), *वामा शिक्षक* (लेखक– ईश्वरीप्रसाद, कल्याण राय, 1872) तथा *भाग्यवती* (लेखक- पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी) के सन्दर्भ से भी इस बात को समझा जा सकता है जहाँ स्त्री-शिक्षा का सम्पूर्ण उद्देश्य 'स्त्री-शिक्षा का विकास और आदर्श स्त्री चरित्र की प्रस्तुति'[1] था। इन उपन्यासों में स्त्रियों के जीवन में शिक्षा की भूमिका केवल उतनी ही मानी गई जिससे वह घर-गृहस्थी को सुचारु रूप से चला सके। वस्तुतः इन उपन्यासों को कण्डक्टस नॉवेल की श्रेणी में रखा जा सकता है, जिसमें शिक्षा का उद्देश्य सिर्फ़ स्त्रियों का कण्डक्ट (तौर-तरीक़ा, आचार-व्यवहार, चाल-चलन, आदि) सुधारना माना गया है। साहित्य को समाज का दर्पण और रास्ता दिखाने वाली मशाल दोनों ही कहा जाता है। समाज में स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में ये उपन्यास बताते हैं कि स्त्री-शिक्षा को लेकर समाज में यही सोच बरक़रार थी कि लड़कियों को केवल घर सुधारने के लिए ही पढ़ना चाहिए। 19वीं शती के मध्य से 20वीं शती के मध्य (जब स्त्री-शिक्षा को व्यापक स्वीकृति मिलने लगी थी) कुछ बदलाव के साथ स्त्री-शिक्षा के सन्दर्भ में व्यापक द्वन्द्व दिखाई देता रहा। इस समस्या को जैनेन्द्र की कहानी 'पढ़ाई' द्वारा समझा जा सकता है।

स्त्री–शिक्षा के प्रश्न से जूझते हिन्दी साहित्य में आरम्भिक उपन्यासों जैसे– *देवरानी जेठानी की कहानी* (लेखक– पं. गौरीदत्त शर्मा, 1870), *वामा शिक्षक* (लेखक– ईश्वरीप्रसाद, कल्याण राय, 1872) तथा *भाग्यवती* (लेखक– पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी) के सन्दर्भ से भी इस बात को समझा जा सकता है जहाँ स्त्री–शिक्षा का सम्पूर्ण उद्देश्य 'स्त्री–शिक्षा का विकास और आदर्श स्त्री चरित्र की प्रस्तुति' था।

जैनेन्द्र कुमार हिन्दी कथा साहित्य के क्षेत्र में एक जाना-माना नाम है। उन्होंने अपनी रचना यात्रा 20वीं शती के तीसरे दशक से आरम्भ की और लगभग पचास वर्षों तक वे सक्रिय रहे। प्रेमचन्द के बाद उन्होंने हिन्दी कथा धारा को दूसरा मोड़ दिया। प्रेमचन्द जहाँ बहिर्मुखी थे वहीं जैनेन्द्र का कथा साहित्य अन्तर्मुखी है। उन्होंने व्यक्ति के आन्तरिक जीवन, मानसिक द्वन्द्व, मूल्य विषयक संघर्ष आदि को गहराई और सर्जनात्मकता के साथ अपने उपन्यासों और कहानियों में अभिव्यक्त किया। उनकी अनेक कहानियाँ जैसे– 'पाज़ेब', 'खेल'

1. राय, गोपाल, *हिन्दी उपन्यास का इतिहास*, पृ. 21.

या 'आत्म-शिक्षण' बाल मनोविज्ञान के साथ उन सामाजिक स्थितियों का भरा-पूरा ख़ाक़ा है जिसमें बच्चों का पालन-पोषण होता है। जैनेन्द्र की कहानी 'पढ़ाई' आत्मकथात्मक प्रविधि से लिखी गई है, जो छह बरस की बालिका की पढ़ाई की समस्या से जुड़ी हुई है। यह पूरी कहानी न केवल बाल-शिक्षा पर केन्द्रित है, बल्कि पढ़ाई के माध्यम से समाज के उस पक्ष की गहरी पड़ताल करती है जहाँ पढ़ाई भी स्त्री और पुरुष के बीच समाज में पनपने वाले गहन विभेद की ओर इशारा करती है। कहानी का सारांश इस तरह है— छह बरस की नूनी यानी सुनयना को लेकर उसकी माँ बहुत परेशान रहती है। कारण? नूनी पढ़ने से अधिक खेलकूद में दिलचस्पी लेती है। माँ नितान्त सांसारिक ढंग से सोचती है कि लड़की पढ़ जाए ताकि उसका विवाह अच्छी जगह हो जाए। बच्ची की एक बुआ भी है जो माँ को सख़्ती करते देख बरजती है। इससे दोनों में नोंक-झोंक भी हो जाती है। माँ, पिता को (जो एक लेखक व बुद्धिजीवी है और इस नाते बच्ची के मनोविज्ञान को भी समझता है) निरन्तर ताना देती है कि वह बच्ची की तरफ़ ध्यान नहीं देता। पिता, माँ को कहता है कि वह बच्ची को रोज़ाना एक घण्टा पढ़ाएगा। माँ को निरन्तर एक ही व्यथा सताती है कि यदि नूनी पढ़ेगी नहीं तो उसका ब्याह कैसे होगा? पर पिता उदार मन से कहता है कि अभी बहुत समय है। तभी कहानी में एक घटना घटती है। एक दिन नूनी बिना दूध पिए पड़ोस के लड़के के साथ खेलने जाना चाहती है। वह बुआ के कहने से जैसे-तैसे थोड़ा दूध पीकर खेलने भाग जाती है। बच्ची नीचे गली में 'भरा समन्दर' खेल रही है। माँ नौकर को उसे लेने भेजती है। कथा लेखक ऊपर से यह सब देख रहा होता है। वह नौकर को बरज देता है। तब माँ ख़ुद आकर बच्ची को खचेड़ती ले जाती है और खूब डाँटती है। साथ ही वह उसे कोठरी में मूँद देती है व ख़ुद भी बहुत दुखी होती है। लेखक को जब माँ कहती है कि आपने तो इसे रोज़ाना पढ़ाने को कहा था, तब वह कहता है- "मेरी यही पढ़ाई है।" माँ पहले तो चुप रहती है पर चौथे रोज़ मायके चल देती है। इसपर लेखक का कोई बस नहीं चलता। कुछ समय पश्चात माँ वापस लौट आती है और नूनी उसी तरह परम्परागत ढंग से पढ़ने लगती है। इस छोटी-सी कहानी में संवादों के माध्यम से माँ और पिता के स्वभावगत अन्तर और सामाजिक स्थितियों में माँ की शंका को बख़ूबी व्यक्त किया गया है। साथ ही बच्ची के साथ उनका व्यवहार किस तरह से नरम और गरम होता रहता है, इसे भी कुशलता से उभारा गया है।

शिक्षा सिद्धान्तों के अनुसार बच्चे समाज में विभिन्न सामाजिक संस्थाओं और वयस्कों से अन्त:क्रिया करते हुए स्वयं ही ज्ञान का सृजन करते हैं। लेकिन ऐसी अन्त:क्रिया द्वारा अर्जित इस ज्ञान का सृजन उन्हें और भी बहुत कुछ सिखाता है। ख़ासकर लड़के और लड़की का विभेद भी इसी दौरान पनपने लगता है।

शिक्षा सिद्धान्तों के अनुसार बच्चे समाज में विभिन्न सामाजिक संस्थाओं और वयस्कों से अन्त:क्रिया करते हुए स्वयं ही ज्ञान का सृजन करते हैं। लेकिन ऐसी अन्त:क्रिया द्वारा अर्जित इस ज्ञान का सृजन उन्हें और भी बहुत कुछ सिखाता है। ख़ासकर लड़के और लड़की का विभेद भी इसी दौरान पनपने लगता है। यह कहानी हमें समाज में व्याप्त इसी समस्या की ओर इंगित करती है कि लिंगभेद से पढ़ाई का साध्य भी किस तरह बदल जाता है। भले ही अब कुछ पढ़े-लिखे घरों में स्थिति बदली है, परन्तु कमोबेश समस्या वहीं है जहाँ इतने वर्ष पूर्व थी।

एक नन्ही बच्ची की पढ़ाई यहाँ केवल पढ़ाई नहीं है बल्कि पूरे समाज, समाज के बीच स्त्री की स्थिति और लड़कियों के लिए बचपन की

उस अवधारणा का निषेध है जहाँ बेफ़िक्री को बचपन का पर्याय माना गया है। नन्ही नूनी की माँ उसे लेकर बहुत परेशान है क्योंकि वह पढ़ती नहीं। कहानी की शुरुआत ही समस्या को आरोपित कर देती है–

> *"यह सुनयना जाने कितने बरस की हो जाने पर ठीक-ठीक सुनयना बनेगी? अभी तो दिनभर नूनी ही बनी रहकर ऊधम मचाती डोलती रहती है।... वह छह बरस से भी ऊपर की हो गई है। अब पुराना वह सब-कुछ नहीं निभ सकेगा। उमर आ गई है कि अब अदब सीखे, कहना माने, और शऊर से रहे। और, वह शऊर जानती नहीं।"*

ग़ौरतलब है कि छह बरस की नूनी का यह कहकर विश्लेषण किया जा रहा है कि 'उमर आ गई है' और उसे शऊर सिखाने की बात करना समाज की उस सोच की तरफ़ इशारा करता है जहाँ लड़कियों से असमय ही प्रौढ़ व्यवहार की माँग की जाने लगती है। नूनी अलमस्त, निश्छल और दुनिया के प्रपंचों से दूर दूधिया मन की है। नूनी की माँ उसे सब-कुछ अदब-क़ायदे से सिखाना चाहती है। यानी वह उसे उसी तरह देखना चाहती है जैसे समाज में एक आदर्श लड़की को देखा जाता है, क्योंकि भारतीय समाज में एक सीधा-सा समीकरण है– यहाँ बेटे को आश्वस्ति और बेटी को आशंका के रूप में देखा जाता है। संस्कृत का एक श्लोक है– 'पुत्रीति जाता महतीत चिन्ता, कस्मां प्रदेयेति महानवितर्कः। दत्वा सुखमवाचसक्याति वा न वेति, कन्या पितृत्वंखलुनाम कष्टम्'। अर्थात कन्या का जन्म महती चिन्ता का कारण है क्योंकि सबसे बड़ा सवाल यह है कि उसका परिणय किससे किया जाए? परिणय कर भी दिया तो वह ससुराल में सुख पाएगी या नहीं, ऐसे प्रश्न मन को मथने लगते हैं। अतएव कन्या का पिता होना निश्चित रूप से कष्टकारी है। नूनी की पढ़ाई भी इन्हीं परम्परागत प्रश्नों के घेरे में उलझी हुई है जबकि पिता, माँ को भी सहानुभूति की नज़र से देखता है। कहानी में प्रसंग आता है–

> *मैंने कहा, "अभी छह बरस की ही तो है।"*
>
> *"यों ही बीस बरस की भी हो जाएगी...।"*
>
> *मैंने हँसकर कहा, "यों ही तो बीस बरस की कैसे हो जाएगी। चौदह बरस बीच के काट लेगी तब होगी।"*

ग़ौरतलब है कि छह बरस की नूनी का यह कहकर विश्लेषण किया जा रहा है कि 'उमर आ गई है' और उसे शऊर सिखाने की बात करना समाज की उस सोच की तरफ़ इशारा करता है जहाँ लड़कियों से असमय ही प्रौढ़ व्यवहार की माँग की जाने लगती है।

माँ नूनी के भविष्य को लेकर निरन्तर आशंकित है और आशंका का विषय भी वही है कि उसे मिलने वाला ससुराल कैसा होगा? यह सत्य है कि एक सामान्य भारतीय लड़की के भावी जीवन का निर्धारण करने वाली संस्था विवाह है। ऐसी अनेक माँएँ हैं जो वयस्क, पढ़ी-लिखी और योग्य लड़की तक के विवाह को लेकर निरन्तर आशंकित रहती हैं। माँ की चिन्ता इसलिए ज़्यादा है कि लड़की को दूसरे घर जाना है और इसीलिए वह उसी परम्परागत ढंग से उसे शिक्षा देना चाहती है। नूनी अपनी माँ के शरीर का रक्त और माँस भर नहीं है बल्कि वह उसके भविष्य के सपनों का स्पन्दन भी है। माँ चाहती है कि जीवन में जो भी श्रेष्ठ है वह उसकी बेटी को मिले, इसीलिए वह उसकी पढ़ाई पर ज़ोर देती है। कहानी यह भी प्रश्न उठाती है कि लड़कियों के जीवन में श्रेष्ठ क्या है! क्या वही जो समाज ने उनके लिए निर्धारित कर रखा है! जैनेन्द्र कहते हैं–

“माँ इससे बड़ी असन्तुष्ट है, एक तो लड़की है, वह यों बिगड़ी जा रही है। बिगड़ जाएगी तो फिर कौन सँभालेगा लेगा? उन्हीं के सिर तो सब पड़ेगा। सो वह भी औरों की तरह फ़िकर करना छोड़ बैठे, तो कैसे चले। उनकी और सुनन्दा की कहा-सुनी इस बात पर अकसर हो जाती है।”

दरअसल कारण बेटी नहीं है, कारण है माँ के मन का भय, क्योंकि बेटी की ससुराल का भय उसे डराता है। भय के कारण भी वही हैं जो इस समाज ने बेटियों के लिए नियत कर रखे हैं। माँ की चिन्ता का फ़लक विराट है जो मात्र छह बरस की बच्ची के भावी ससुराल और वैवाहिक जीवन तक फैला हुआ है। उसे लगता है कि अगर बेटी नहीं पढ़ पाई तो सब उसी पर दोष मढ़ेंगे। कच्ची मिट्टी से वह चट्टानी मूर्ति गढ़ना चाहती है। एक ऐसी प्रतिमा जो समाज की विपरीतताओं के बीच भी अजेय खड़ी रह सके। माँ का बच्ची को थप्पड़ लगाना, कोठरी में मूँदना, डाँटना, आदि सभी क्रियाएँ समाज के उस भय का प्रतिफलन हैं जो यह बताता है कि अगर यह पढ़ेगी नहीं तो इसका भविष्य (जो निर्धारित है) क्या होगा? वहीं नन्ही नूनी किसी भी किस्म के विधि-निषेध से अपरिचित, वर्जनाओं से अछूती और अन्त:वृत्ति की उमंगों की पोटली है, लेकिन उसकी माँ उसे समाज के अनुरूप ढालना चाहती है और परेशान रहती है। हालाँकि उसे पीटने के बाद वह ख़ुद भी रोती है क्योंकि वह माँ है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि समाजीकरण, व्यक्तित्व निर्धारण और सीखने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण समय में जब बच्चों को वयस्कों द्वारा उनके प्रति प्रेम, स्नेह, धैर्य, आदर और प्रोत्साहन की ज़रूरत होती है, देखा यह गया है कि परिवार, समाज और स्कूल के वयस्क बच्चों के साथ अकसर असहिष्णु हो जाते हैं। शिक्षा के जिन मूल्यों यानी सहिष्णुता, प्रेम, धैर्य, आदि की बात की जाती है, उसका व्यावहारिक रूप बच्चे शायद ही अपने प्रारम्भिक काल में घर और स्कूल में सीख पाते हैं। किन्तु नूनी की माँ का असहिष्णु हो जाना भविष्य का वह भय है जो समाज की ही देन है। माँ अपनी बेटी को आत्मनिर्भर होने, स्वाभिमान बनाए रखने या किसी और मक़सद से नहीं, बल्कि इसलिए पढ़ाना चाहती है कि यही दुनिया का चलन है। जैनेन्द्र कहते हैं—

शिक्षा के जिन मूल्यों यानी सहिष्णुता, प्रेम, धैर्य, आदि की बात की जाती है, उसका व्यावहारिक रूप बच्चे शायद ही अपने प्रारम्भिक काल में घर और स्कूल में सीख पाते हैं। किन्तु नूनी की माँ का असहिष्णु हो जाना भविष्य का वह भय है जो समाज की ही देन है।

“तब लड़की के पढ़ उठने से ही गुज़ारा होता है या माँ के जी में आँसू की भाप-सी उठ आने पर भी गुज़ारा हो जाता है। तब वह कहती हैं,

‘मास्टरजी, इसे तस्वीर वाला सबक पढ़ाना। और मास्टरजी, इसके मन के मुताबिक़ पढ़ाना’।”

जैनेन्द्र यहाँ एक ओर तो इस तरफ़ इंगित करते हैं कि शिक्षा विद्यार्थी-केन्द्रित होनी चाहिए न कि पाठ्य सामग्री या शिक्षक-केन्द्रित, वहीं दूसरी ओर यह भी कि तस्वीरों वाले सबक़ को बच्चे ध्यान से पढ़ते हैं क्योंकि तस्वीरें उनकी कल्पना को उड़ान देती हैं। माँ का नूनी को मन मुताबिक़ पढ़ाने की बात कहना परम्परागत शिक्षा पद्धति पर एक आक्षेप भी है जो रटन्त विद्या और डण्डे के ज़ोर पर चलती है। क्या यह बच्चों पर अत्याचार नहीं कि उन्हें स्वाभाविक क्रियाओं द्वारा नहीं बल्कि डण्डे के ज़ोर पर पढ़ाया जाए! जबकि सीखने और सिखाने के कई और तरीक़े भी हैं। इसके समकक्ष तेत्सुको कुरोयानागी की पुस्तक *तोत्तोचान* का वह प्रकरण याद आ जाता है जहाँ नन्ही तोत्तोचान को स्कूल से इसलिए

निकाल दिया जाता है क्योंकि वह पढ़ती नहीं और कक्षा में अनुशासनहीनता फैलाती है। जबकि वह बच्ची अपनी स्वाभाविक क्रियाओं (मेज़ का ड्रावर खोलने में पाने वाले आनन्द के कारण बार-बार मेज़ का ढक्कन खोलती है और हर चीज़ जैसे– पेंसिल, रबड़, कॉपी, आदि एक-एक कर बाहर निकालती है या स्कूल के बाहर सड़क चलते साज़िन्दों को देखने के लिए खिड़की से झाँकती।) के चलते अपनी समझ में ऐसा कुछ भी नहीं करती।[2] यही तोत्तोचान आगे चलकर विश्व प्रसिद्ध तोमोए स्कूल में पढ़कर अपनी योग्यता का प्रमाण देती है क्योंकि यह स्कूल परम्परागत शिक्षा पद्धति से हटकर शिक्षा को विद्यार्थी-केन्द्रित बनाकर चलता था। जहाँ पाठ्यपुस्तकों से कहीं अधिक इस बात पर ज़ोर दिया जाता था कि बच्चे अपने जिए हुए अनुभवों से सीखें।

नूनी के नन्हे से जीवन में पढ़ाई एक प्रतीक भूमि है जिसके द्वारा उसे पारम्परिक संस्कारों में ढाला जा रहा है। जैनेन्द्र के अनुसार,

> *“माँ तो माँ है, पर लड़की तो सदा लड़की बनी रहेगी नहीं। माँ के मन में यही बात उठकर दर्द दे रही है। आज तो लड़की है, पर एक कल भी आ पहुँचने वाला है, जब उसका ब्याह होगा, चाल पूछेंगे, कितना पढ़ी है, क्या जानती है। तब उनके सामने यह बात किस तरह कहने लायक़ हो सकेगी कि मेरे बड़े दुलार की है, बड़े प्यार से मैंने पाली है। तब तो खोजकर यही कहना होगा कि ख़ूब काम सीखा है, और उस मास्टर से इतना पढ़ी है, और वहाँ से यह पास किया है। उस कल के दिन आने पर चुप नहीं रह जाए; बल्कि बहुत-कुछ उस रोज़ कहने के लिए उसके पास जमा हो। इसी के प्रबन्ध में तो वह है। वह माँ तो है; पर यह भी कैसे भूलें कि इसीलिए है कि किसी अजनबी को खोजकर पाए और उसे अपनी लड़की सौंप डाले। यह ज़िम्मेदारी, वह बहुत कम क्षण भूल पाती है।”*

जैनेन्द्र के अनुसार, “माँ तो माँ है, पर लड़की तो सदा लड़की बनी रहेगी नहीं। माँ के मन में यही बात उठकर दर्द दे रही है। आज तो लड़की है, पर एक कल भी आ पहुँचने वाला है, जब उसका ब्याह होगा, चाल पूछेंगे, कितना पढ़ी है, क्या जानती है।

कृष्ण कुमार के अनुसार, “लड़कियों के जीवन और शिक्षा में एक बुनियादी अन्तर्विरोध है। लड़कियों के जीवन का उद्देश्य परम्परा में ‘पत्नी’ और ‘गृहिणी’ बनना, ‘माँ’ बनना और परिवार की घरेलू ज़िम्मेदारियों का निर्वाह करना है। पत्नी या माँ बनने में जीवन की निर्धारित धारा में बढ़ते हुए कुछ बनना है, जो ज्ञान और कौशल के विकास या समाज में हैसियत पाने की आकांक्षा के ज़रिए कुछ बनने से अलग है। यह आकांक्षा व्यक्तिगत स्तर पर स्वतंत्र मानस का आधार माँगती है। उसे विकसित करना ही आधुनिक स्तर पर शिक्षा का उद्देश्य माना जाता है। स्पष्टतः यह उद्देश्य लड़की के जीवन के उन उद्देश्यों से टकराता है जो बनाए तो परम्परा ने हैं, पर जिन्हें आधुनिक होता हुआ भारत का समाज अपनाए हुए है। समाज के आधुनिक ढाँचे में ये पारम्परिक उद्देश्य नए सिरे से पल्लवित हो रहे हैं।”[3] पढ़ाई को लेकर माँ का चिन्तित होना भी इसीलिए है। नूनी को पढ़ाई-लिखाई में रुचि नहीं है। वह माँ की लाख कोशिशों के बावजूद भी पढ़-लिख नहीं पाती।

2. कुरोयानागी, तेत्सुको, *तोत्तोचान* (नौवीं आवृत्ति–2017), राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, पृ. 2-6.

3. कृष्ण कुमार, *चूड़ी बाज़ार में लड़की* (प्रथम संस्करण–2014), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 102.

बच्ची की रुचि खेलने में है जो स्वाभाविक है, परन्तु माँ का कहना है कि;

“उनके पेट की कन्या है, पर दुनिया बुरी है। उसने पढ़ना-लिखना जैसी भी चीज़ अपने बीच में पैदा कर रखी है। और उसी दुनिया में मास्टर लोग भी हैं, जो डण्डा दिखाकर बच्चों को पढ़ा देंगे और आपसे रुपया लेकर पेट पाल लेंगे। और उसी दुनिया में एक चीज़ है प्रतिष्ठा। और भी इसी तरह की बहुत-सी चीज़ें हैं। और फिर है ब्याह, जिसमें एक सास मिलती है और एक ससुर मिलता है।”

ब्याह में सास और ससुर का मिलना भर कहकर जैनेन्द्र भारतीय परिवेश में ससुराल के माहौल को ज़िन्दा कर देते हैं, जहाँ ताड़ना है, अत्याचार हैं, ताने हैं और किसी भी हालत में लड़की को सामंजस्य बैठाना है। सिमोन दी बौअवा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *द सेकेण्ड सेक्स* में प्रसिद्ध सूत्रवाक्य लिखा था, ‘स्त्री होती नहीं, बनाई जाती है’। यहाँ नूनी को भी बनाया जा रहा है, यानी उस होने वाले ससुराल के लिए तैयार किया जा रहा है। ग़ौरतलब है कि ‘होने’ और ‘बनाए’ जाने में अन्तर है। ‘होना’ प्राकृतिक होता है जबकि बनाए जाने में सांस्कृतिक-सामाजिक तत्त्व निहित हैं। बच्ची जब पैदा होती है तब वह केवल सद्य:जात अभी अभी उत्पन्न माँसपिण्ड होती है जिसमें स्त्रीसूचक जननांग होता है, किन्तु पैदा होते ही उसके आसपास का समाज उसे ‘स्त्री’ नाम से चिह्नित कर देता है। और उसके साथ वैसा ही व्यवहार करने लगता है जिसकी वजह से वह अपनी चेतना पर निरन्तर पड़ती छाप से स्वयं को ‘स्त्री’ नाम से पहचानने लगती है और स्त्रियोचित व्यवहार करने लगती है। पढ़ाई के मक़सद में भी यही बात आड़े आ रही है। माँ जानती है कि नूनी का मन पढ़ने में नहीं है। उसके पिता लेखक हैं और बच्ची के मन को समझते हैं। सम्भवत: इसीलिए जब माँ कहती है, “घर पर पूरे पाँच घण्टे उसे पढ़ाना चाहिए।” तो वह कहते हैं कि “पाँच घण्टे बहुत होते हैं। एक घण्टा पढ़ लेना बहुत काफ़ी है। यों अभी ज़रूरी वह भी नहीं है।” और माँ से कहते हैं कि वह उसे एक घण्टा पढ़ा दिया करेंगे। इसपर माँ सन्तुष्ट हो जाती है। माँ के पिता के साथ चलने वाले संवादों में पढ़ाई की समस्या के साथ निरन्तर यह सोच हावी है कि उसे ब्याहना है। वह कहती है–

सिमोन दी बौअवा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक द सेकेण्ड सेक्स में प्रसिद्ध सूत्रवाक्य लिखा था, ‘स्त्री होती नहीं, बनाई जाती है’। यहाँ नूनी को भी बनाया जा रहा है, यानी उस होने वाले ससुराल के लिए तैयार किया जा रहा है। ग़ौरतलब है कि ‘होने’ और ‘बनाए’ जाने में अन्तर है।

“तुम नाराज़ तो नहीं हो गए? देखो, नाराज़ मत होना। मैं क्या करूँ? मेरा मन कहता है, बिट्टन को ख़ूब पढ़ाना चाहिए, और ख़ूब अच्छा बनाना चाहिए। इसी से मैं कहती हूँ।”

मैंने कहा, “ठीक तो है।” “ ...मेरे मन बिथा बड़ी होती है। तुम जानो उसका ब्याह भी होगा। इसी से मैं इतना कहा करती हूँ।”

मैंने कहा, “ठीक तो है।”

और सोचा, लड़की को ब्याह देने के वक़्त की व्यथा को इतने साल दूर से खींच लाकर अपने मन में आज ही प्रत्यक्ष अनुभव कर उठने वाला स्त्री-माता का हृदय कैसा है?

माँ की निरन्तर आशंकाओं के प्रति एक करुणा का भाव भी यहाँ दिखाई देता है क्योंकि माँ समाज के उसी साँचे में ढली है जहाँ घर की लड़कियों की नियति विवाह तक केन्द्रित है।

कहानी में इस सारी मारा-मारी से हटकर एक अन्य प्रसंग है नूनी के 'भरा समन्दर' यानी मच्छी-मच्छी खेलने का। जहाँ वह माँ की इच्छा के विरुद्ध घर के नीचे गली में पड़ोस के बच्चों के साथ खेल रही है। लेखक ने यहाँ खेलती हुई बच्ची और उसके साथियों का मनोहारी वर्णन किया है। वह बच्चों के साथ एकाग्र हो जाता है और उसी तरह उनकी कल्पनाओं में डूब जाता है। साथ ही वह यह भी जानता है कि बच्ची के स्वस्थ विकास के लिए खेल कितना ज़रूरी है। माँ नहीं चाहती कि बच्ची गली में खेले क्योंकि वह भविष्य की आशंकाओं और जीवन में उगने वाली सम्भावनाओं के कल्पित संसार के भय के बीच बेटियों को प्यार करती है। जैनेन्द्र कहते हैं,

"नीचे देखता हूँ, इस चौबीसों घण्टे चलने वाली पत्थर की गली को तो ये बालक लोग भरा-समन्दर बना बैठे हैं, और इस समन्दर में अकेली खड़ी हुई नूनी नाम की मछली झुककर अपने टखने छूकर, कह रही है, 'इत्ता'!

पर, मुझे तो कुछ भी मालूम न था। मछली का नाम नूनी तो नहीं है, गोपीचन्दर है।... और गोपीचन्दर जैसे सुन्दर नाम वाली मीन अबके घुटनों तक ही झुक सकती है, क्योंकि समुद्र इस बीच घुटनों तक बढ़ आया है...

समुद्र क्षण-क्षण बढ़ रहा है, और मछली के मन की चौकसी भी बढ़ रही है। वह देखो, जो अबके गाकर और चिल्लाकर पूछा गया है, 'कित्ता?' तो वह दोनों हाथों को कटि पर रखकर, एक ठुमकी लगाकर बतला रही है, 'इत्ता'।"

लेखक यहाँ अत्यन्त रचनात्मक ढंग से बच्चों की कल्पनात्मक किन्तु उनके लिए वास्तविक दुनिया के बारे में बताता है,

"और मुसाफ़िर भाई, तुम बेखटके इस गली में से निकलते चले जाओ। तुम्हारे लिए रोक-टोक नहीं है। पानी तुम्हें नहीं छुएगा।"

क्योंकि समुद्र बच्चों की कल्पना में है किसी और की नहीं। इसी समय नूनी की माँ ऊपर से बच्ची को बुलाने के लिए नौकर भेजती है। नौकर हाथ पकड़कर बच्ची को ले जाने लगता है और वह मचलती है, "हम नहीं जाएँगे, नहीं जाएँगे।" पिता, जो ऊपर से देख रहा होता है नौकर को कहता है, "छोड़ दो।" नौकर ख़ाली हाथ ऊपर जाकर मालकिन को कहता है कि "बाबूजी ने मना कर दिया।" तब माँ स्वयं बाहर आकर रोती-पीटती नूनी को खचेड़कर घर ले आती है। और जब पिता कहता है कि मैंने लड़की का एक घण्टा पढ़ाने को लिया है। मेरी यही पढ़ाई है। अब तुम इसमें दख़ल देने नहीं पाओगी। तब माँ आँसुओं से सब-कुछ स्वीकार कर लेती है पर चौथे रोज़ वह मायके चल देती है।

कहानी में पिता समझदार और बालमन को समझने वाला प्रतीत होता है। इसी से वह जानता है कि बच्चे केवल पुस्तक से ही नहीं, खेलने-कूदने के क्रियाकलापों से भी बहुत कुछ सीखते हैं। उनका सामंजस्य, कल्पनाशक्ति का विकास, दुनिया को देखने-परखने की अपनी शक्ति का विकास इसी खेल की दुनिया से होता है।

कहानी में पिता समझदार और बालमन को समझने वाला प्रतीत होता है। इसी से वह जानता है कि बच्चे केवल पुस्तक से ही नहीं, खेलने-कूदने के क्रियाकलापों से भी बहुत कुछ सीखते हैं। उनका सामंजस्य, कल्पनाशक्ति का विकास, दुनिया को देखने-परखने की अपनी शक्ति का विकास इसी खेल की दुनिया से होता है जिसे सम्भवत: बड़े-बूढ़े समय की बरबादी या बच्चों का बिगड़ना समझते हैं। साथ ही बच्चों की भाषा का विकास भी इसी के द्वारा होता है। कृष्ण कुमार के अनुसार, "बच्चों की भाषा का

सम्बन्ध उन अनुभवों से है जिन्हें वे अपने हाथों और शरीर से स्वयं करते हैं। और उन वस्तुओं से भी है जिनके सम्पर्क में वे आते हैं। बचपन में शब्द और क्रियाकलाप साथ-साथ चलते हैं।"[4] परन्तु नूनी की पढ़ाई जैसा बड़ा विषय इस खेल के क्रियाकलाप से नहीं सुलझता। माँ, पिता से रूठकर मायके चल देती है और विवश होकर पिता को माँ का कहना मानना पड़ता है। कहानी का अन्त कुछ इस तरह से होता है–

"वह आ गई हैं, और मेरी बात सब झूठ मान लेती हैं।

पर हाल वही है। क्योंकि लड़की को पढ़ना है और पिटकर दुबली होगी, तो डॉक्टर है, और डॉक्टर के लिए पैसा है, पर, लड़की को पढ़ना है। मैं कहता हूँ, 'अच्छा बाबा।' और अकेले मैं नूनी से मच्छी-मच्छी खेलना चाहता हूँ। और नूनी खेलती नहीं, मुझसे किताब के माने पूछती है।"

स्त्री के लिए सुखों की संकल्पना पूरी तरह से संस्थाबद्ध है जैसे— वह पत्नी बनकर परिवार को सुखी रखेगी या माँ बनकर वंश को आगे बढ़ाकर सुख पाएगी। माँ इससे आगे कुछ भी सोच नहीं पाती। जबकि शिक्षा की सबसे सटीक परिभाषा रही है– "सा विद्या या विमुक्तये"। अर्थात वही विद्या है जो मुक्ति के लिए है।

यह नूनी का सुनयना में तब्दील होना है। वह स्वयं उस अल्हड़ बचपन को छोड़ रही है। शिशु अवस्था में ही प्राथमिक रूप से माता-पिता तथा अन्य अभिभावकों के प्रभाव निर्देश और देखरेख में शिशु अपने सामाजिक-सांस्कृतिक विधि-निषेध और औचित्य-अनौचित्य के क़ायदे-क़ानून सीखता है। इनको आत्मसात करके अवचेतन मन के उस हिस्से का विकास होता है जिसको फ़्रायड ने सुपरईगो कहा है। यह अवचेतन, प्राकृतिक और जन्मजात है लेकिन सुपरईगो का नियोजन, विकास और स्थापना होती है। सुपरईगो अभिभावक पक्ष के साथ तादात्म्य का परिणाम है और आरम्भ में माता-पिता के अलावा उन सब लोगों का प्रभाव भी संचित होता है जो अभिभावक पक्ष में पदार्पण करते हैं। और नूनी के व्यक्तित्व में आए बदलाव को यदि फ़्रायड के तर्क से देखें तो यह बच्ची न केवल अब गम्भीर हो चली है बल्कि समाज के विधि-निषेधों को भी अपनाने लगी है।

कृष्ण कुमार के अनुसार, "स्वाभाविक गतिविधियों पर बन्दिशें शुरू तो छुटपन से ही हो जाती हैं जब कूदफाँद करती हुई बच्ची को यह बताकर रोका जाता है कि वह लड़का नहीं है। अत: लड़कों जैसी हरकतें छोड़ दे। नौ-दस बरस की आयु तक यानी किशोर वय से पहले ही, इन पाबन्दियों को ज़्यादातर लड़कियाँ आत्मसात कर चुकी होती हैं। जो बन्धन माता-पिता और अन्य वयस्कों द्वारा उसपर लगाए जाते थे उन्हें लड़की की चेतना स्वयं अपने पर लगाने में कुशल हो जाती है।"[5] नूनी की भी यही स्थिति है। पढ़ाई के बहाने स्त्री-जीवन की पड़ताल यह कहानी करती है।

स्त्री के लिए सुखों की संकल्पना पूरी तरह से संस्थाबद्ध है जैसे– वह पत्नी बनकर परिवार को सुखी रखेगी या माँ बनकर वंश को आगे बढ़ाकर सुख पाएगी। माँ इससे आगे कुछ भी सोच नहीं पाती। जबकि शिक्षा की सबसे सटीक परिभाषा रही है– "सा विद्या या विमुक्तये"। अर्थात वही विद्या है जो मुक्ति के लिए है। महादेवी वर्मा लिखती हैं, "प्रथम तो माता-पिता

4. कृष्ण कुमार, *बच्चे की भाषा और अध्यापक* (दसवीं आवृत्ति–2006), नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ़ इंडिया, पृ. 2.

5. कृष्ण कुमार, *चूड़ी बाज़ार में लड़की* (प्रथम संस्करण–2014), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 56.

कन्या की शिक्षा के लिए कुछ व्यय ही नहीं करना चाहते, दूसरे यदि करते भी हैं तो विवाह की हाट में उनका मूल्य बढ़ाने के लिए, कुछ उनके विकास के लिए नहीं।"[6] यह स्थिति आज कुछ बदलती हुई नज़र आती है परन्तु इक्का-दुक्का अपवादों को छोड़ दें तो ज़्यादातर वहीं यह स्थिति बदली है जहाँ माता-पिता आसानी से शिक्षा का व्यय उठा पाने में सक्षम हैं। अन्यथा कितने माता-पिता हैं जो पुत्र की तरह पेट काट कर, ऋण लेकर या गहने बेचकर अपनी बेटी को पढ़ाते हैं।

जैनेन्द्र की यह कहानी बाहरी रूप से सरल लगते हुए भी गम्भीर प्रश्न उठाती है और सोचने पर मज़बूर करती है।

डॉ निशा नाग हिन्दी में एमफिल, पीएचडी हैं। विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं में आपकी समीक्षाएँ, लेख व कहानियाँ प्रकाशित होती रहती हैं। मिरांडा हाउस, दिल्ली विश्वविद्यालय में वरिष्ठ प्रवक्ता हैं जहाँ वे पिछले 23 वर्षों से अध्यापन कर रही हैं।

सम्पर्क : nishanagpurohit@gmail.com

6. वर्मा, महादेवी, *निबन्धों की दुनिया* (प्रथम संस्करण–2009), प्रधान सम्पादक– निर्मला जैन, पृ. 133.

टीप : सारे इटैलिक हिस्से जैनेन्द्र कुमार की कहानी 'पढ़ाई' से उद्धृत हैं। जैन, जैनेन्द्र, *जैनेन्द्र रचनावली,* भाग चार (प्रथम संस्करण–2008), सम्पादक– निर्मला जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 272.

मैकॉले बनाम भारतीय ज्ञान-प्रणालियाँ और शिक्षा-व्यवस्था

अभय कुमार दुबे

इस अनुसन्धान में मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी की दावेदारियों की जाँच की गई है। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों के माध्यम से दिखाया गया है कि जब भारत की क्षेत्रीय और क्लासिक भाषाओं को ज्ञानोत्पादन के लिए अक्षम बताया जा रहा था, उस समय उनके दायरों में किस तरह की शिक्षा-प्रणालियाँ चल रही थीं और वे ज्ञानोत्पादन की कौन-सी परम्पराओं से सम्पन्न थीं। मैकॉले का दावा किस हद तक सही था? क्या उपनिवेशवादियों द्वारा पूर्व के ज्ञान को गुणवत्ताविहीन बता कर ख़ारिज करने के लिए पश्चिमी ज्ञान-प्रणाली द्वारा प्रदत्त प्रविधियों और बौद्धिक संहिताओं का इस्तेमाल किया गया था? इसी के साथ यह लेख प्राच्यवादियों (ओरिएंटलिस्ट्स) द्वारा अपनाई गई 'क़लम लगाने की रणनीति', आंग्लवादियों (एंग्लिसिस्ट्स) द्वारा प्रतिपादित 'छनन सिद्धान्त' और वर्नाकुलरिस्ट्स द्वारा भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन देने के आग्रह की समीक्षा करते हुए दिखाता है कि किस तरह ये तीनों एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने की विभिन्न युक्तियाँ थीं, और यह लक्ष्य था भारत पर अँग्रेज़ी भाषा को थोपना।

1834 के साल और जून के महीने में थॉमस बेबिंग्टन मैकॉले ने मद्रास के तट पर अपने क़दम रखे। उनके साथ उनकी बहन हान्ना मोर मैकॉले भी थीं। हान्ना अपने मंगेत्तर और अँग्रेज़ी-शिक्षा के उग्र समर्थक चार्ल्स ट्रेवेलियन से मिलने कलकत्ता चली गईं और दिसम्बर में शादी के बाद ट्रेवेलियन मैकॉले के बहनोई बन गए। गवर्नर-जनरल विलियम बेंटिक ने इन्हीं ट्रेवेलियन को जनरल कमेटी फ़ॉर पब्लिक इंस्ट्रक्शन (जीसीपीआई जिसके ऊपर बंगाल में शिक्षा-प्रणाली के संचालन की ज़िम्मेदारी थी) का सदस्य नामज़द किया था। मैकॉले सीधे नीलगिरी की पहाड़ियों में स्थिति ऊटकमंड (उटी) के लिए रवाना हो गए ताकि वहाँ ग्रीष्मकालीन प्रवास कर रहे गवर्नर-जनरल से मिल कर उनकी सुप्रीम कौंसिल की भीतरी राजनीति के बारे में जानकारी हासिल कर सकें। ऊटकमंड में मैकॉले और बेंटिक कई महीने साथ-साथ रहे। इस दौरान दोनों को एक-दूसरे के विचार नज़दीकी से जानने का मौक़ा मिला, और उनके बीच एक तरह की दोस्ती हो गई। बेंटिक को पूरी तरह से यक़ीन हो गया कि शिक्षा और भाषा सम्बन्धी विवाद के बारे में मैकॉले के विचार किस तरह उनके अपने विचारों से पूरी तरह मिलते हैं। इसी के बाद बेंटिक ने उन्हें जीसीपीआई के ग्यारहवें सदस्य के रूप में उसका अध्यक्ष बना दिया।[1] इरादा साफ़ था। अगर किसी मुद्दे पर आंग्लवादियों और प्राच्यवादियों के बीच कमेटी पाँच-पाँच में बँट जाती तो मैकॉले अपना वोट डाल कर फ़ैसले

1. जैस्टौपिल और मार्टिन मोइर (1999) की मान्यता है कि जब बेंटिक ने मैकॉले को यह अध्यक्ष पद देने की पेशकश की तो मैकॉले ने उसे लेने से इंकार कर दिया। यानी अपने ऐतिहासिक मिनट स्वीकृत होने के समय वे कमेटी के अध्यक्ष नहीं थे, और यह पद उन्होंने बाद में ग्रहण किया। लेकिन अन्य विमर्शकार इस मामले में स्पष्ट हैं कि मैकॉले ने न केवल ये मिनट कमेटी के अध्यक्ष के रूप में लिखे, बल्कि उन्हें कमेटी के भीतर संघर्ष करके अपने वोट के दम पर पारित भी कराया।

को आंग्लवादियों के पक्ष में झुका सकते थे। प्राच्यवादियों और आंग्लवादियों के बीच अन्तर केवल अँग्रेज़ी थोपने की रणनीति को लेकर था। प्राच्यवादी शुरुआत में भारतीय भाषाओं में शिक्षा देने के पहले चरण पर 'क़लम लगाने की रणनीति' या 'इनग्राफ़्टमेंट पॉलिसी' के ज़रिए अँग्रेज़ी की स्थापना के पक्ष में थे। आंग्लवादियों की मान्यता थी कि भारतीय भाषाओं के चक्कर में फँसे बिना सीधे-सीधे अँग्रेज़ी थोप दी जानी चाहिए।

मैकॉले और बेंटिक के बीच की जुगलबन्दी कितनी नज़दीकी क़िस्म की थी, इसका पता इस बात से चलता है कि दो फ़रवरी, 1935 के लिखे गए अपने 'मिनट ऑन एजुकेशन' मैकॉले ने कमेटी के साथ साझा करने और उसमें पारित करवाने के बजाय सीधे बेंटिक के सामने पेश किए। बेंटिक भी शायद नहीं चाहते होंगे कि ये मिनट बहस-मुबाहिसे में फँसें। उनके लिए इतना दिखावा काफ़ी था कि जीसीपीआई के अध्यक्ष की क़लम से उन्हें अँग्रेज़ी-शिक्षा के पक्ष में सिफ़ारिशें मिल रही थीं। इसलिए उन्होंने मिनट हाथ में आते ही उनके नीचे मैकॉले के दस्तख़तों के बाद अपनी टिप्पणी दर्ज कर दी, 'मैं इन मिनट में व्यक्त भावनाओं के प्रति अपनी पूर्ण सहमति व्यक्त करता हूँ।'[2] अपनी सहमति दे देने के बाद 'समुचित प्रक्रिया' की खानापूरी करने की ख़ातिर बेंटिक ने मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी जीसीपीआई के वरिष्ठ प्राच्यवादी सदस्य और शिक्षा विभाग के सचिव एचटी प्रिंसेप को भेजी ताकि वे उसे गवर्नर-जनरल की सुप्रीम कौंसिल के ध्यानार्थ प्रस्तुत करें। प्रिंसेप ने इस आदेश का पालन करते हुए मैकॉले की टिप्पणी को कौंसिल में विचारार्थ रखा। प्रिंसेपकी डायरी से मिलने वाले वृत्तान्त से भी पता लगता है कि बेंटिक और मैकॉले के बीच उस समय क्या चल रहा था, और दोनों मिल कर भारत की शिक्षा-व्यवस्था का भविष्य तय करने में किस तरह से जुटे थे :

> मैकॉले और बेंटिक के बीच की जुगलबन्दी कितनी नज़दीकी क़िस्म की थी, इसका पता इस बात से चलता है कि दो फ़रवरी, 1935 के लिखे गए अपने 'मिनट ऑन एजुकेशन' मैकॉले ने कमेटी के साथ साझा करने और उसमें पारित करवाने के बजाय सीधे बेंटिक के सामने पेश किए। बेंटिक भी शायद नहीं चाहते होंगे कि ये मिनट बहस-मुबाहिसे में फँसें।

मैं विस्तार से यह वर्णन करने की कोशिश नहीं करूँगा कि ऊटकमंड से लौटने के बाद थोड़े समय तक कलकत्ता में ठहरने के दौरान गवर्नर-जनरल ने क्या किया, बल्कि मैं ख़ुद को दो-तीन बातों तक सीमित रखूँगा जिनसे मेरे विभाग का ताल्लुक है और जिसमें मुख्य भूमिका मेरी ही है। ... कौंसिल ऑफ़ एजुकेशन में मेरे पास ही बहुमत वाला वोट था, पर तभी टीबी मैकॉले का कौंसिल ऑफ़ इंडिया के नए लेजिस्लेटिव मेंबर के रूप में आगमन हुआ। ऊँची साहित्यिक प्रतिष्ठा के कारण सरकार ने उन्हें कौंसिल ऑफ़ एजुकेशन का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। इसके बाद इंग्लिश पार्टी (अँग्रेज़ी समर्थक सदस्य) आशा से भर उठी कि उनके प्रभाव और प्राधिकार से मेरे और मेरे समर्थकों के मुक़ाबले उनका पलड़ा भारी हो जाएगा। जब तक लॉर्ड डब्ल्यू बेंटिक ने अपने पद पर फिर से कामकाज शुरू नहीं कर दिया, वे (मैकॉले) एक मौन प्रेक्षक की भूमिका ही निभाते रहे। इसके बाद अचानक एक दिन कौंसिल ऑफ़ एजुकेशन में चर्चा किए बिना उन्होंने विस्तृत मिनट लिख डाले। ... ये मिनट टीबी मैकॉले ने लॉर्ड विलियम बेंटिक को उनके बैरकपुर स्थित कंट्री-हाउस में थमा दिए। लॉर्ड विलियम ने मिनट के नीचे उन्हें स्वीकार करने की छोटी-सी टिप्पणी लिख कर मेरे पास इस

2. शिवाजी बंद्योपाध्याय (2012), वही.

आदेश के साथ भेज दिए कि मैं उसे कौंसिल के सामने रख दूँ।[3]

शिवाजी बंद्योपाध्याय के अनुसार जब मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी जीसीपीआई में विचारार्थ रखी गई तो अध्यक्ष को छोड़ कर कमेटी के दस सदस्यों में से पाँच (एच शेक्सपियर, एचटी प्रिंसेप, जेम्स प्रिंसेप, डब्ल्यूएच मैक्नैघ्टन और टीसीसी सदरलैंड) ने इनका विरोध किया, और पाँच (डब्ल्यूडब्ल्यू बर्ड, सांडर्स, बुशबाई, चार्ल्स ट्रेवेलियन और जेआर कोल्विन) ने समर्थन किया। गतिरोध की स्थिति में मिनट के लेखक और कमेटी के अध्यक्ष मैकॉले ने तटस्थ रहने के बजाय अपना वोट ख़ुद अपने-आप को दिया। बंद्योपाध्याय के अनुसार, 'जिस व्यक्ति को भारत में अँग्रेज़ी-शिक्षा का अनुमोदन करने का श्रेय दिया जाता है, वह कोई और न हो कर उनके अनुमोदन के लिए पैरोकारी करने वाला उस मिनट का लेखक ही था।' गवर्नर-जनरल की कौंसिल में जब मिनट पर चर्चा हुई तो प्रिंसेप और मैकॉले के बीच गरमा-गरमी हो गई। प्रिंसेप इस दस्तावेज़ की आलोचना करने वाला अपना दस्तावेज़ लिख कर लाए थे, लेकिन बेंटिक ने अपने शिक्षा सचिव के इस रवैए को नापसन्द करते हुए उनके दस्तावेज़ को कौंसिल के सामने रखने की इजाज़त नहीं दी।[4]

जैसा कि ज़ाहिर है, सरकार के भीतर प्रिंसेप की लड़ाई पराजित होने के लिए अभिशप्त थी। हाँ, यह ज़रूर है कि इस लड़ाई की जो प्रतिध्वनियाँ बाहर बंगाल के बौद्धिक समाज में सुनाई पड़ रही थीं, उन्हें बेंटिक ने ध्यान से सुन कर इस असन्तोष को और न भड़कने देने का हथकण्डा अपनाया। कलकत्ता के आठ हज़ार मुसलमान बाशिन्दों ने अपने दस्तख़तों से उन्हें एक ज्ञापन दिया था जिसमें डर जताया गया था कि कलकत्ता मदरसा बन्द कर दिया जाएगा। इसके फ़ौरन बाद कलकत्ता के संस्कृत कॉलेज के 76,000 छात्रों ने अपने संस्थान के पक्ष में प्रतिवेदन दिया था। मैकॉले की टिप्पणी को स्वीकृति देने के महीने भर के भीतर-भीतर 7 मार्च, 1835 को बेंटिक ने अपना वह आदेश पारित किया जिससे भारत में शिक्षा-व्यवस्था का भविष्य आख़िरी तौर से तय होना था।[5] इस आदेश के दो पहलू थे। पहला, यह आदेश इस मामले में पूरी तरह स्पष्ट था कि भारत में ब्रिटिश शासन का उद्देश्य भारतवासियों के बीच युरोपीय साहित्य और विज्ञान को बढ़ावा देना है और शिक्षा के लिए ख़र्च किया जाने वाला एक-एक पैसा केवल अँग्रेज़ी शिक्षा पर ही ख़र्च किया जाएगा। दूसरा, बेंटिक ने मदरसे और संस्कृत कॉलेज के प्रतिवेदनों का ख़्याल रखते हुए उन्हें बन्द न करने का ऐलान किया था, लेकिन यह असन्तोष को दबाने की एक फ़ौरी कार्यनीति थी जिसका बेंटिक के दीर्घकालीन मक़सदों में कोई स्थान नहीं था। आदेश पारित होने से पहले ही



थोमस बैबिंग्टन मैकॉले
25 अक्तूबर 1800 - 28 दिसम्बर 1859

3. देखें, एच शार्प (1920), *सिलेक्शंस फ़्रॉम एजुकेशनल रिकॉर्ड्स, पार्ट 1, 1791-1839,* (एक्सट्रैक्ट्स फ़्रॉम द डायरी ऑफ़ एचटी प्रिंसेप), ब्यूरो ऑफ़ एजुकेशन, इंडिया, कलकत्ता : 132-133.

4. देखें, एच शार्प (1920) में प्रिंसेप की डायरी. प्रिंसेप ने बेंटिक द्वारा उन्हें रोके जाने की कड़ी आलोचना की है.

5. बेंटिक के इस आदेश के मूल पाठ के लिए देखें, ज़ैस्टौपिल और मार्टिन मोइर (1999), वही : 194-196.

बेंटिक के 1829 से 1835 के कार्यकाल के दौरान फ़ोर्ट विलियम कॉलेज का तानाबाना बिखर चुका था और एशियाटिक सोसाइटी ज़बरदस्त वित्तीय कठिनाइयों का सामना कर रही थी। कलकत्ता मदरसा और संस्कृत कॉलेज पहले ही बन्द होने के कगार पर थे। कलकत्ता स्कूल और स्कूल बुक सोसाइटी जैसी संस्थाएँ निष्प्रभावी हो चुकी थीं। भारतीय भाषाओं के लिए प्रतिष्ठित श्रीरामपुर कॉलेज के पाठ्यक्रम का अँग्रेज़ीकरण हो चुका था।[6]

इसी के साथ प्राच्य-शिक्षा की सभी परियोजनाएँ और कार्यक्रम सरकार द्वारा ठप्प कर दिए गए, बावजूद इसके कि बेंटिक ने अपने आदेश में साफ़ किया था कि उनकी सरकार कलकत्ता मदरसा या संस्कृति कॉलेज जैसी प्राच्यवादी-अध्ययन करने वाली संस्थाओं को बन्द नहीं करेगी। मिनट की पृष्ठभूमि का गहन अध्ययन करने वाले कट्स ने इस ऐतिहासिक निर्णय के परिणामों का सार-संकलन इस प्रकार किया है :

ब्रिटिश राज की शिक्षा-नीति के तौर पर क़ायम रहने वाली बेंटिक की शिक्षा-नीति ने न केवल भारतीय छात्रों से अँग्रेज़ी भाषा का अध्ययन करने की अपेक्षा की, बल्कि कॉलेज स्तर पर सभी पाठ्यक्रमों की शिक्षा के लिए केवल अँग्रेज़ी का माध्यम ही अनिवार्य कर दिया। इसका मतलब था कि उच्च-शिक्षा पाने की शुरुआत करने से पहले कॉलेज की डिग्री पाने के इच्छुक सभी भारतवासियों को लाज़िमी तौर एक विदेशी भाषा सीखनी ही थी। कॉलेज की शिक्षा और उसके इच्छुक भारतीय छात्रों के बीच में खड़ा किया गया यह मुश्किल अवरोध 1835 में न केवल मैकॉले और बेंटिक को, बल्कि भारत के अधिकतर ईसाई मिशनरियों और इंग्लैंड स्थित इवांजिलिकल नेतृत्व को सही और उचित लग रहा था। भाषा के इस अवरोध को पार करके कॉलेज की डिग्री प्राप्त करने वाले भारतीय छात्रों को उसी के साथ-साथ 'लर्निड नेटिव' की ख़ास उपाधि के रूप में एक ख़ास मान्यता और मिलने वाली थी।[7]

1835 से 1853 के बीच बेंटिक की शिक्षा-नीति के परिणामस्वरूप कम्पनी सरकार ने शिक्षा पर ख़ुल कर ख़र्च किया। हर साल बजट में दस लाख रुपए का इजाफ़ा हुआ। कम्पनी के स्कूलों की संख्या चार सौ से बढ़ कर चौदह सौ और उनमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या 8,000 से बढ़ कर 67,000 हो गई। ईसाई मिशनरी शिक्षा में अपनी भूमिका पहले से भी अधिक उत्साह से निभाने लगी।

1835 से 1853 के बीच बेंटिक की शिक्षा-नीति के परिणामस्वरूप कम्पनी सरकार ने शिक्षा पर ख़ुल कर ख़र्च किया। हर साल बजट में दस लाख रुपए का इजाफ़ा हुआ। कम्पनी के स्कूलों की संख्या चार सौ से बढ़ कर चौदह सौ और उनमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या 8,000 से बढ़ कर 67,000 हो गई। ईसाई मिशनरी शिक्षा में अपनी भूमिका पहले से भी अधिक उत्साह से निभाने लगे। भारत के स्कूलों में पढ़ाने वाले ज़्यादातर शिक्षक मिशन स्कूलों में ही तैयार किए गए थे। यह सब अँग्रेज़ी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए हो रहा था। 1855 में बंगाल की विधानसभा ने दावा किया, 'हर ज़िले में अँग्रेज़ी शिक्षा के लिए माँग बढ़ती जा रही है, और इस माँग की मज़बूती का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि स्कूलों की फ़ीस स्वेच्छा से दी जा रही है और निजी स्कूल अध्यापकों की संख्या बढ़ाने के लिए तैयार हैं।'[8]

6. देखें, डेविड कॉफ़ (1969), *ब्रिटिश ओरिएंटलिज़म ऐंड द बेंगाल रेनासाँ : द डायनामिक्स ऑफ़ इंडियन मॉडर्नाइज़ेशन 1773-1835*, फ़र्मा केएल मुखोपाध्याय, कलकत्ता : 241.

7. एल्मर एच कट्स (1953), वही.

8. देखें, नैंसी एल एडम्स और डेनिस एम एडम्स (1971), वही.

अँग्रेज़ी की इस बढ़ी हुई लोकप्रियता के पीछे एक बड़ा कारण यह भी था कि वह अदालत और सरकारी कामकाज की भाषा बन चुकी थी। 1844 में लॉर्ड हार्डिंग ऐलान कर ही चुके थे कि अँग्रेज़ी जानने वालों को सभी तरह की सरकारी नियुक्तियों में प्राथमिकता प्राप्त होगी।[9]

मैकॉले की टिप्पणी बनाम क़लम लगाने की रणनीति

मैकॉले की सिर्फ़ 5,435 शब्द लम्बी टिप्पणी[10] का न जाने कितने बार और कितने विद्वानों द्वारा तात्पर्य-निरूपण किया जा चुका है। लेकिन, भारत में अँग्रेज़ी का अवधारणात्मक इतिहास लिखने के लिए ज़रूरी है कि विभिन्न पाठों की मदद से इस टिप्पणी का न केवल एक और समग्र पाठ किया जाए, बल्कि इन मिनट की दावेदारियाँ भी तत्कालीन सन्दर्भ में सच्चाई की कसौटी पर कसी जाएँ।

> मैकॉले की सिर्फ़ 5,435 शब्द लम्बी टिप्पणी का न जाने कितने बार और कितने विद्वानों द्वारा तात्पर्य-निरूपण किया जा चुका है। लेकिन, भारत में अँग्रेज़ी का अवधारणात्मक इतिहास लिखने के लिए ज़रूरी है कि विभिन्न पाठों की मदद से इस टिप्पणी का न केवल एक और समग्र पाठ किया जाए, बल्कि इन मिनट की दावेदारियाँ भी तत्कालीन सन्दर्भ में सच्चाई की कसौटी पर कसी जाएँ।

मैकॉले ने अपनी टिप्पणी में प्राच्यवादी पक्ष पर आरोप लगाया था कि वे अपने निहित स्वार्थ के कारण पुरानी नीति की पैरोकारी कर रहे हैं। दूसरे, उन्होंने 1813 के एक्ट के अनुच्छेद 43 के प्रचलित मतलब से अलग मतलब निकालने की कोशिश की थी कि इसका अर्थ अनिवार्य तौर पर संस्कृत और अरबी के साहित्य को प्रोत्साहन देना नहीं है और गवर्नर-जनरल अगर चाहें तो शिक्षा के लिए ख़र्च किए जाने वाले एक लाख रुपए का इस्तेमाल दूसरे मक़सदों से भी कर सकते हैं। मैकॉले ने यह तक कहा कि इसके लिए पहले तो नया क़ानून बनाने की ज़रूरत नहीं है और अनुच्छेद 43 के तहत ही ऐसा किया जा सकता है, और अगर ज़रूरत पड़ी भी तो वे फटाफट नया क़ानून भी लिख कर प्रस्तावित कर देंगे। इसके अलावा मैकॉले ने कुछ दावे भी किए थे : मसलन, भारत में लोग संस्कृत और अरबी पढ़ना ही नहीं चाहते और उनकी इच्छा तो अँग्रेज़ी पढ़ने की है; अँग्रेज़ी पढ़ने की इच्छा इतनी प्रबल है कि लोग उसके लिए शुल्क देने तक के लिए तैयार हैं, जबकि अरबी और संस्कृत पढ़ने वालों को वजीफ़े देने पड़ते हैं; अरबी और संस्कृत पढ़ने के लिए उपलब्ध कराई गई स्थायी निधि को सम्पत्ति के अधिकार का दर्जा देना दरअसल इस पवित्र अधिकार का दुरुपयोग होगा; जिस तरह यूनानी और लैटिन ने युरोप का पुनर्जागरण किया था, उसी तरह अँग्रेज़ी भारत का पुनर्जागरण कर देगी; संस्कृत और अरबी में लिखे साहित्य का स्तर बेहद गिरा हुआ है, यहाँ तक कि इंग्लैंड की प्रायमरी स्कूल की किताब भी उससे बेहतर है; उसका मुक़ाबला युरोपीय साहित्य से तो किया ही नहीं जा सकता, यहाँ तक कि एशियाई भाषाओं में लिखा गया समस्त साहित्य युरोपीय साहित्य की एक अलमारी से भी श्रेष्ठ नहीं है; अन्य भारतीय भाषाएँ तो इतनी स्तरहीन हैं कि उनमें अँग्रेज़ी की किसी रचना का अनुवाद भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार मैकॉले इस निष्कर्ष तक पहुँचे कि भारतवासियों को उनकी किसी भी भाषा में शिक्षा नहीं दी जा सकती; चूँकि युरोप की सभी भाषाओं में भी अँग्रेज़ी श्रेष्ठ है (यूनानी

9. देखें, डीके बसु : 7.

10. मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी के मूल पाठ के लिए देखें, ज़ैस्टौपिल और मार्टिन मोइर (1999), वही : 161-173. इनके अविकल हिन्दी अनुवाद के लिए देखें, हृदय कांत दीवान, रमा कांत अग्निहोत्री, अरूण चतुर्वेदी, वेददान सुधीर और रजनी द्विवेदी (2017), *मैकॉले, ऐलफ़िंस्टन और भारतीय शिक्षा,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली : 297-311. इस अध्याय में मैकॉले की टिप्पणी से सम्बन्धित सभी उद्धरण इसी हवाले से.

जैसी क्लासिक भाषा के समकक्ष है) इसलिए भारतवासियों को लाज़िमी तौर पर अँग्रेज़ी में ही शिक्षा दी जानी चाहिए; और इसीलिए संस्कृत या अरबी में अध्ययन पर कोई धन नहीं ख़र्च किया जाना चाहिए।

तर्क के तौर पर इनमें कोई भी नई बात नहीं थी। प्राच्यवादियों द्वारा चलाई जा रही 'क़लम लगाने' की रणनीति की जो आलोचना आंग्लवादी करते रहे थे, उसी को मैकॉले ने अधिक आक्रामक और अपने एकतरफ़ा लफ़्फ़ाज़ी वाले स्वाभाविक अन्दाज़ में सूत्रीकरण करते हुए संक्षेप में लिख दिया था। ज़ाहिरा तौर पर मैकॉले की टिप्पणी की पहली आलोचना जीसीपीआई के उन सदस्यों की तरफ़ से आई, जो प्राच्यवादी थे और 'क़लम लगाने' की रणनीति लागू कर रहे थे। ऊपर बताया जा चुका है कि प्रिंसेप गवर्नर-जनरल की कौंसिल में अपनी आलोचना लिख कर लाए थे, जो उन्हें वहाँ पेश नहीं करने दी गई थी।[11] प्राच्यवादियों ने तथ्यों के आधार पर मैकॉले का मुँहतोड़ जवाब देने की कोशिश की। निश्चित रूप से उनकी दलीलें मैकॉले के मुक़ाबले अधिक तर्कसंगत और ठोस थीं। उन्हें उम्मीद थी कि अगर सार्वजनिक जीवन में यह विवाद उठा तो सरकार को मैकॉले की बातें मानने और उनपर अमल करने के बारे में दोबारा सोचना होगा। लेकिन जब प्रिंसेप की आलोचना मैकॉले को भेजी गई तो उन्होंने उसके हाशिए पर अपनी टिप्पणियाँ लिख कर उसे तिरस्कारपूर्ण तरीक़े से निबटा दिया। इससे पता चलता है कि प्राच्यवादी दलीलें अपने ठुकराए जाने का ही इन्तज़ार कर रही थीं। मसलन, अनुच्छेद 43 के सन्दर्भ में अपने दावे के खण्डन के जवाब में मैकॉले ने सिर्फ़ एक पंक्ति लिखी कि 'क़ानूनी मुद्दे पर मैंने सर टी रायन से सलाह ली है और उनकी राय में मिस्टर प्रिंसेप की बातों में कोई दम नहीं है।' सम्पत्ति के अधिकार वाले सवाल पर उन्होंने मुँह बिचकाने के अन्दाज़ में लिखा कि 'मेरी टिप्पणी इस मसले पर अपना बचाव करने में सक्षम है।'

प्राच्यवादियों ने तथ्यों के आधार पर मैकॉले का मुँहतोड़ जवाब देने की कोशिश की। निश्चित रूप से उनकी दलीलें मैकॉले के मुक़ाबले अधिक तर्कसंगत और ठोस थीं। उन्हें उम्मीद थी कि अगर सार्वजनिक जीवन में यह विवाद उठा तो सरकार को मैकॉले की बातें मानने और उनपर अमल करने के बारे में दोबारा सोचना होगा।

प्रिंसेप ने जिस जगह यह तर्क दिया था कि भारत के मुसलमानों के लिए फ़ारसी और अरबी की और हिन्दुओं के लिए संस्कृत की वही हैसियत है जो युरोप के लिए यूनानी और लैटिन की थी ('भारत के ज़्यादातर लोगों के लिए अँग्रेज़ी उसी तरह से विजातीय भाषा है जिस तरह से अन्धकार युग के नाइट्स के लिए अरबी थी'), वहाँ मैकॉले ने इस तर्क को ठीक से सम्बोधित किए बिना अजीब तरीक़े से लिख दिया, 'उससे ज़्यादा विजातीय तो नहीं हो सकती जितनी यूनानी हेनरी अष्टम की प्रजा के लिए थी।' जब प्रिंसेप ने रूस के आधुनिकीकरण के मैकॉले द्वारा दिए गए उदाहरण को भारत के लिए अनुपयुक्त ठहराते हुए कहा कि रूस के स्कूलों में तो जर्मन कभी अलग से पढ़ाई ही नहीं गई, तो मैकॉले ने अड़ियल अन्दाज़ में लिखा, 'यह सही नहीं है। रूस का शिक्षित वर्ग जो कुछ भी जानता है वह उसने अँग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन आदि के ज़रिए सीखा है। अँग्रेज़ी, फ्रेंच और जर्मन से सीख कर अब वह नकल करने और अनुवाद करने की शुरुआत कर रहा है। मुझे उम्मीद और यक़ीन है कि यही है वह रास्ता जो हमारी देशी प्रजा का शिक्षित वर्ग अपनाएगा।' जब प्रिंसेप ने कहा

11. देखें, एच शार्प (1920), (नोट, डेटिड द 15थ फ़ेबररी 1835, बाई एचटी प्रिंसेप- विद मार्जिनल नोट्स बाई मैकॉले), ब्यूरो ऑफ़ एजुकेशन, इंडिया, कलकत्ता : 117-129. यहाँ दी गई प्रिंसेप की दलीलें और मैकॉले के जवाब इसी दस्तावेज़ से.

कि मुसलमानों को अरबी-फ़ारसी के प्रति और हिन्दुओं को संस्कृत के प्रति बड़ी श्रद्धा है तो मैकॉले ने लिखा, 'लोगों को किसी भाषा के प्रति बड़ी श्रद्धा हो सकती है, पर उसे सीखने की इच्छा नहीं। पिछली कौंसिल की बैठक के बाद मेरी राधाकांत देब से मुलाक़ात हुई है। उन्होंने मुझसे कहा है कि भारत में कोई तब तक संस्कृत ठीक से नहीं सीखता जब तक उसे बदले में कुछ भुगतान न किया जाता हो। पैसे वाले लोग कुछ सतही तरीक़े से सीखते हैं। उन्होंने मुझे आश्वस्त किया है कि बनारस में भी संस्कृत की उच्च-शिक्षा पाने वाला एक भी छात्र ऐसा नहीं है जिसे भुगतान न किया जाता हो।'

इसके बाद प्रिंसेप ने टिप्पणी में मैकॉले के कलकत्ता मदरसे से सम्बन्धित दावे को चुनौती दी, जो मैकॉले की टिप्पणी का एकमात्र तथ्यगत पहलू था। अपने मिनट के बीसवें पैरे में मैकॉले ने लिखा था कि दिसम्बर, 1833 में 77 अरबी पढ़ने वाले छात्रों को हर माह पाँच सौ रुपए वजीफ़ा दिया गया और मदरसे के खाते में लिखा है कि इस ख़र्चे में से 103 रुपए कम कर दिए जाएँ जो मई, जून और जुलाई में अँग्रेज़ी पढ़ने के लिए छात्रों ने दिए। यह उदाहरण दे कर उन्होंने साबित करने की कोशिश की कि अँग्रेज़ी पढ़ने की इच्छा इतनी प्रबल है कि छात्र जेब से ख़र्च करने के लिए भी तैयार हैं, जबकि संस्कृत और अरबी बेमन से पढ़ी जाती है और इसीलिए विद्यार्थियों को पैसे देने पड़ते हैं। प्रिंसेप ने संस्कृत कॉलेज के विद्यार्थियों द्वारा दिए गए उस ज्ञापन की सफ़ाई भी दी जिसमें शिकायत की गई थी कि उन्हें किसी तरह भुगतान नहीं किया जा रहा है। (यह ज्ञापन चार्ल्स ट्रेवेलियन ने प्राच्यवादियों को बदनाम करने के लिए 'इंजीनियर' करवाया था।)[12] प्रिंसेप ने प्राच्य-अध्ययन की बिना बिकी किताबें पड़े होने की भी सफ़ाई दी जिसका आरोप लगा कर मैकॉले ने सिद्ध करना चाहा था कि इनपर धन की बरबादी ही हुई है। मैकॉले की हाशिए में लिखी टिप्पणियाँ बताती हैं कि उन्होंने इन्हें किस तरह हल्के ढंग से लेकर ख़ारिज कर दिया। प्रिंसेप के नोट के आख़िर में मैकॉले ने लिखा कि हो सकता है कि एक-दो बातें कहने में मुझसे ग़लती हुई है, लेकिन इस पूरे मुद्दे पर मैं अपरिवर्तनीय रूप से अपनी राय पर पूरी तरह से क़ायम हूँ।

> प्रिंसेप या अन्य प्राच्यवादियों की दलीलों के साथ मैकॉले का सुलूक निश्चित रूप से हेकड़ी से भरा हुआ था। लेकिन हम देख चुके हैं कि प्राच्यवादियों के पास मैकॉले के दावों का कोई रैडिकल जवाब नहीं था, क्योंकि वे दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू थे। भारतीय अतीत के बारे में मतभेदों के अलावा दोनों का लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद को क़ायम रखना था।

प्रिंसेप या अन्य प्राच्यवादियों की दलीलों के साथ मैकॉले का सुलूक निश्चित रूप से हेकड़ी से भरा हुआ था। लेकिन हम देख चुके हैं कि प्राच्यवादियों के पास मैकॉले के दावों का कोई रैडिकल जवाब नहीं था, क्योंकि वे दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू थे। भारतीय अतीत के बारे में मतभेदों के अलावा दोनों का लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद को क़ायम रखना था, दोनों को अँग्रेज़ी भाषा और युरोपीय ज्ञान-विज्ञान की श्रेष्ठता में भरोसा था, दोनों ही भारत के तत्कालीन वर्तमान को गर्हित मानते थे, और दोनों की ही निगाह में भारत का उद्धार करना ब्रिटिश उपनिवेशवाद का कर्तव्य था। प्राच्यवाद बनाम आंग्लवाद की बहस का सारतत्त्व यही था कि यह कर्तव्य पूरा करने का सबसे अच्छा तरीक़ा क्या हो सकता है।

मैकॉले का एक नया तात्पर्य-निरूपण

मैकॉले को भारत आने के कुछ महीने के

12. देखें, ज़ैस्टौपिल और मार्टिन मोइर (1999), वही : 36-37.

भीतर ही बेंटिक के आग्रह पर अपने शिक्षा सम्बन्धी मिनट लिख देने पड़े थे। आनन फ़ानन में किए गए इस काम के लिहाज़ से उस सामग्री पर ग़ौर करना मानीख़ेज़ होगा जिसका इस्तेमाल करके उन्होंने अपना लेखन किया। उनके समकालीन ब्रायन होजसन का कहना था कि 'मिस्टर मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी मिस्टर ट्रेवेलियन की रचना (1831–1832 में लिखित और 1934 में कलकत्ता में प्रकाशित *ट्रीटाइज़ ऑन द मींस ऑफ़ कम्युनिकेटिंग द लर्निंग ऐंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ युरोप टू इंडिया)* के दूसरे संस्करण के अलावा कुछ नहीं है।'[13] ट्रेवेलियन ने अपनी इस किताब में रेनासाँ अवधि के इंग्लैंड, आधुनिक रूस और भारतीय क़ानून के बारे में जो टिप्पणियाँ की हैं, वे मिनट में काफ़ी-कुछ वैसी ही दिखती हैं।[14] इसी तरह मिनट पर राजा राममोहन रॉय के 1823 के पत्र की छाप भी वहाँ दिखती है जहाँ मैकॉले ने हिन्दू पवित्र ग्रन्थों और अपने भगवान में विलीन होने का ज़िक्र करने के साथ-साथ उपहास करने के अन्दाज़ में गधे को छूने से होने वाली अपवित्रता और बकरी के मारे जाने की ज़िम्मेदारी से बचने के लिए किए जाने वाले वेद-मंत्रों के पाठ का उल्लेख किया है।[15]

उनके समकालीन ब्रायन होजसन का कहना था कि 'मिस्टर मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी मिस्टर ट्रेवेलियन की रचना (1831–1832 में लिखित और 1934 में कलकत्ता में प्रकाशित ट्रीटाइज़ ऑन द मींस ऑफ़ कम्युनिकेटिंग द लर्निंग ऐंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ युरोप टू इंडिया) के दूसरे संस्करण के अलावा कुछ नहीं है।'

इन उदाहरणों से मैकॉले के मानस पर पड़े प्रभावों का कुछ अन्दाज़ा लग सकता है, पर उनकी टिप्पणी के प्रत्यक्ष पाठ के पीछे भी एक पाठ छुपा हुआ है। यह प्रच्छन्न पाठ मैकॉले की उन प्रशंसाओं पर सवालिया निशाना लगाता है जो उनके कथित आलोचकों ने भी की हैं। मसलन, ब्रिटिश प्राच्यवाद की विरुदावलियाँ गाने वाले डेविड कॉफ़ का आकलन है, '... मैकॉले ने भारत के लिए एक पश्चिमीकरण के ऐसे कार्यक्रम की वकालत की जो धार्मिक के बजाय सेकुलर था। लगता है कि उनके और उनके पिता की पीढ़ी के कट्टर धर्मप्रचारवादियों के बीच न के बराबर समानता थी।'[16] नीचे दिया गया विश्लेषण बताता है कि मैकॉले की तर्क-योजना अपने सारतत्त्व में किस कदर धार्मिक थी।

अपनी टिप्पणी के सत्ताईसवें पैरे में संस्कृत में लिखे गए ज्ञान को पढ़ाने के आग्रह के बारे में मैकॉले की एक बेहद अहम पंक्ति है : 'हमें मिथ्या इतिहास, मिथ्या खगोलविज्ञान, मिथ्या चिकित्साशास्त्र पढ़ाना है, क्योंकि यह एक मिथ्या धर्म का हिस्सा है।' इसी पैरे में उन्होंने यह भी दावा किया है कि संस्कृत भाषा और साहित्य में न कोई 'अन्तरस्थ मूल्य' है और न ही कोई विशेष ज्ञान है। यहाँ वे एक आश्वासन

13. ब्रायन हॉटन होजसन (1800-1894) भारत, नेपाल और तिब्बत की भाषाओं, साहित्य और धर्मों के अध्येता थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी की सिविल सर्विस में नौकरी शुरू करने के बाद उन्होंने अपना सारा जीवन भारतीय उपमहाद्वीप की विद्याओं का ज्ञान हासिल करने में लगाया। इंग्लैंड वे बहुत थोड़े समय तक गए और फिर लौट आए। 1837 में उन्होंने आंग्लवादियों को उत्तर देते हुए प्रि-एमिनेंस ऑफ़ द वर्नाक्युलर्स : ऑर द एंग्लिसिस्ट आंसर्ड की रचना की। यह उद्धरण उनकी रचना *मिसलेनियस एसेज़* (1880) के पृष्ठ 256 से।

14. ट्रेवेलियन का प्रभाव दिखाने वाले हिस्सों के लिए देखें, दीवान और अग्निहोत्री वग़ैरह (2017) में मैकॉले की टिप्पणी का पन्द्रहवाँ, सोलहवाँ और छब्बीसवाँ पैरा।

15. राजा राममोहन रॉय का प्रभाव दिखाने वाले हिस्सों के लिए देखें, दीवान और अग्निहोत्री वग़ैरह (2017) में मैकॉले की टिप्पणी का दूसरा और सत्ताईसवाँ पैरा।

16. देखें, डेविड कॉफ़ (1969), वही : 244।

17. मैकॉले की टिप्पणी के सत्ताईसवें पैरे के लिए देखें, दीवान और अग्निहोत्री वग़ैरह (2017) : 308।

भी देते हैं, 'हम सरकार की ओर से उन लोगों को कोई समर्थन नहीं देते और उम्मीद है कि आगे भी नहीं देंगे जो भारतीयों को ईसाई बनाना चाहते हैं।'[17] जब वे हिन्दू धर्म को एक मिथ्या धर्म कहते हैं तो वे धर्मप्रचारवादी चार्ल्स ग्रांट की याद दिला देते हैं जिन्होंने भारतवासियों की सारी समस्याओं की जड़ उनके हिन्दू माहौल में रहने में देखी थी। यहाँ मैकॉले ने संस्कृत में लिखे हुए इतिहास, खगोलशास्त्र और चिकित्साशास्त्र में कोई कमी निकालने की जहमत उठाने के बजाय सिर्फ़ इसलिए ख़ारिज कर दिया है कि उनका जुड़ाव एक 'मिथ्या' धर्म से है। यह स्पष्ट रूप से एक सेकुलर नहीं, बल्कि धार्मिक दावेदारी है। वैसे भी मैकॉले का उपयोगितावादी बुद्धिवाद ब्रिटिश संसद में उनके द्वारा ईसाई धर्मप्रचारवादियों की परियोजनाओं का समर्थन करने में कभी आड़े नहीं आया। इसी तरह उन्होंने सांसद के रूप में इवांजिलिकल सांसदों का विरोध भी नहीं किया जो बार-बार दावा करते थे कि अगर भारत में ब्रिटिश हुकूमत को सुरक्षित करना है और भारतवासियों के आचरण और बौद्धिक स्तर को सुधारना है तो उसका ईसाईकरण अनिवार्य है।

इसी तरह जब वे कहते हैं कि अँग्रेज़ सरकार भारत के ईसाईकरण को प्रोत्साहन नहीं देगी, तो इसका मतलब यह कतई नहीं लगाया जाना चाहिए कि वे अँग्रेज़ी पढ़ने वाले भारतवासियों को अपनी स्वतंत्र बुद्धि से अपना रास्ता चुनने के लिए छोड़ देना चाहते थे। दरअसल, मैकॉले के पिता ज़ैकरी यह पता लगने पर नाराज़ हो गए थे कि उनके बेटे ने अपनी शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी में भारत को ईसाई बनाने के ख़िलाफ़ राय दी है। अपने पिता को अपने इरादों के प्रति आश्वस्त करते हुए मैकॉले ने 12 अक्टूबर, 1835 को एक पत्र लिखा : 'आधुनिक शिक्षा से सच्चे धर्म (ट्रू फ़ेथ) में सच्चा धर्मान्तरण (ट्रू कन्वर्ज़न) करने के लिए आवश्यक ज़मीनी हालात बनने की गारंटी मिलती है। मुझे यक़ीन है कि तीस साल के भीतर-भीतर उच्चवर्गीय बंगाली हमारी तरफ़ से किए गए किसी प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के बिना ही मूर्तिपूजक आचरण को त्याग देंगे।'[18] क्या इससे नहीं लगता कि मैकॉले जिस 'कन्वर्ज़न' की अपेक्षा कर रहे थे, वह असल में अपने निहितार्थों में धार्मिक भी था, भले ही उसके लिए औपचारिक रूप से ईसाई धर्मान्तरण की मुहिम न चलानी पड़ती या भारतवासियों की धार्मिक स्वतंत्रता में दख़लअन्दाज़ी न करनी पड़ती?

गौरी विश्वनाथन ने मैकॉले की टिप्पणी का एक विशेष निहितार्थ रेखांकित किया है। अपने अनुसन्धान में वे इस तरह के कई तथ्यों को सामने ले आती हैं जिनसे पता लगता है कि सीधे-सीधे ईसाई धर्मान्तरण की मुहिम चलाने के बजाय मैकॉले अँग्रेज़ी साहित्य के माध्यम से ईसाई धर्मशास्त्रीय मूल्यों को भारतवासियों के गले उतारने के पक्षधर थे।

गौरी विश्वनाथन ने मैकॉले की टिप्पणी का एक विशेष निहितार्थ रेखांकित किया है। अपने अनुसन्धान में वे इस तरह के कई तथ्यों को सामने ले आती हैं जिनसे पता लगता है कि सीधे-सीधे ईसाई धर्मान्तरण की मुहिम चलाने के बजाय मैकॉले अँग्रेज़ी साहित्य के माध्यम से ईसाई धर्मशास्त्रीय मूल्यों को भारतवासियों के गले उतारने के पक्षधर थे। गौरी के मुताबिक़ ब्रिटिश प्रशासक न तो पूरी तरह से सेकुलर रवैया अख़्तियार करना चाहते थे, और न ही पूरी तरह से धार्मिक। इसलिए उन्होंने मैकॉले द्वारा अँग्रेज़ी साहित्य पढ़ाने की ज़ोरदार सिफ़ारिश को बड़ी तत्परता के साथ एक ग्रहण किया, क्योंकि इसके ज़रिए उन्हें ईसाइयत और सेकुलरवाद का सही-सही और उपयोगी मिश्रण प्राप्त हो रहा था। मैकॉले और उनके बहनोई चार्ल्स ट्रेवेलियन ने प्रशासकों के लिए

18. शिबाजी बंद्योपाध्याय (2012), वही में उद्धृत. इसे एरिक स्टोक्स (1953), वही : 45-46 ने भी उद्धृत किया है.

अपने विश्लेषण के ज़रिए अँग्रेज़ी साहित्य की 'ईसाई उपयोगिता' प्रमाणित कर दी। इन दोनों ने बताया कि शेक्सपियर की रचनाएँ 'प्रोटेस्टेंट बाइबिल के विश्वस्त उसूलों' का स्रोत हैं, जोसेफ़ एडिसन की पत्रिका *स्पेक्टेटर* 'सच्ची धर्मनिष्ठता के रुझानों' से भरपूर है, फ्रांसिस बेकन और जॉन लॉक में धर्मशास्त्रीय नैतिकता दिखती है, डेविड एबेरक्रॉम्बी में 'धर्मपरायणता की भावनाएँ' मिलती हैं, और एडम स्मिथ की कृति *थियरी ऑफ़ मॉरल सेंटीमेंट्स* में 'उदात्त ईसाई जज़्बात' प्राप्त होते हैं।[19]

आख़िरकार भारत के इस अलग तरह के 'धर्मान्तरण' की इच्छा के पीछे मैकॉले के बृहत्तर उद्देश्य क्या थे? इसके लिए हमें उनकी शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी से कुछ पीछे जा कर ब्रिटिश संसद में दिए गए उनके एक भाषण को देखना होगा। 10 जुलाई, 1833 को कम्पनी के चार्टर पर हुई बहस में बोलते हुए मैकॉले ने चेतावनी दी कि भारतवासियों को बर्बरों की भाँति अपनी प्रजा बनाए रखने में ब्रिटेन का न कोई फ़ायदा है और न ही ख़ूबी। भारत के दस करोड़ लोगों को अपना दास बनाए रखना बेकार और महँगा साबित होगा अगर वाणिज्य और कारखाना उत्पादन में महानता प्राप्त कर चुका ब्रिटेन जैसा राष्ट्र उन्हें अपने माल का 'ग्राहक' न बना पाया। बंद्योपाध्याय ध्यान दिलाते हैं कि मैकॉले ने अपने भाषण के इस हिस्से में किसी दूसरे देश पर राजनीतिक प्रभुत्व और आर्थिक प्रभुता क़ायम रखने में फ़र्क़ किया है। उनके मुताबिक़ आर्थिक वर्चस्व के लिए राजनीतिक कब्ज़ा कोई पूर्व-शर्त नहीं है। इसके लिए उपनिवेशितों की अभिरुचियाँ (टेस्ट) बदलना होगा, और यह काम अँग्रेज़ी पढ़ाने से हो सकता है— 'टीच देम इंग्लिश ऐंड दे विल हेंकर फ़ॉर इंग्लिश गुड्स'। बंद्योपाध्याय का अर्थ-निरूपण यह है कि मैकॉले अँग्रेज़ी को ब्रिटिश पूँजीवाद की उन सम्भावनाओं को पुष्ट करने के औज़ार की तरह देख रहे थे जब उपनिवेशवाद के हाथ में राजनीतिक सत्ता नहीं रह जाएगी। लेकिन, इस भाषण के आख़िरी हिस्से में मैकॉले ने भविष्य के जिस साम्राज्य की चर्चा की है वह राजनीतिक उपनिवेशवाद का उत्तर-काण्ड ज़रूर था, लेकिन वह केवल बाज़ार-गतिकी पर आधारित आर्थिक वर्चस्व नहीं था :

> 10 जुलाई, 1833 को कम्पनी के चार्टर पर हुई बहस में बोलते हुए मैकॉले ने चेतावनी दी कि भारतवासियों को बर्बरों की भाँति अपनी प्रजा बनाए रखने में ब्रिटेन का न कोई फ़ायदा है और न ही ख़ूबी। भारत के दस करोड़ लोगों को अपना दास बनाए रखना बेकार और महँगा साबित होगा अगर वाणिज्य और कारखाना उत्पादन में महानता प्राप्त कर चुका ब्रिटेन जैसा राष्ट्र उन्हें अपने माल का 'ग्राहक' न बना पाया।

अप्रत्याशित दुर्घटनाएँ हमारी कुशलतम नीतिगत योजनाओं को अस्तव्यस्त कर सकती हैं। हो सकता है कि जीत हर समय हमारे गले का हार न बन सके। लेकिन ऐसी भी जीतें होती हैं जिनके बाद किसी हार का अन्देशा नहीं होता। एक ऐसा साम्राज्य भी है जो क्षय के किसी भी क़ुदरती नियम से मुक्त है। वे जीतें बर्बरता के ऊपर विवेक की प्रशान्त जीतें हैं। वह साम्राज्य हमारी कलाओं और हमारी नैतिकताओं का, हमारे साहित्य और हमारे क़ानूनों का अक्षय साम्राज्य है।[20]

19. देखें, गौरी विश्वनाथन (1988), वही। ख़ास बात यह है कि अँग्रेज़ी साहित्य में धार्मिकता के आयामों की प्रशंसा करने वाले उपनिवेशवादी भारतीय या हिन्दू साहित्य के धार्मिक पहलुओं के कड़े निन्दक थे। इस सन्दर्भ में वे मात्रा के तर्क का इस्तेमाल करते थे कि संस्कृत के ग्रन्थ अपने सारतत्त्व में हिन्दू धार्मिक विश्वासों से कहीं अधिक जुड़े हुए हैं। मैकॉले ने मिल्टन और प्राच्य साहित्य की तुलना करते हुए कहा था कि मिल्टन ने ईसाइयत द्वारा प्रदत्त सत्य को ग्रहण अवश्य किया है, लेकिन प्राच्य साहित्य देशज धार्मिक प्रणालियों से कहीं ज़्यादा घुलामिला है। जब मैकॉले से कहा गया कि वे अपने इस कथन की कुछ अधिक व्याख्या करें, तो उन्होंने कहा कि दोनों के बीच 'अन्तर' दरअसल 'मात्रा' का है।

20. एरिक स्टोक्स (1953), वही : 45 पर उद्धृत

एरिक स्टोक्स को मैकॉले की इन बातों में चालीस साल पहले कही गई चार्ल्स ग्रांट और विलियम विल्बरफ़ोर्स की बातें ध्वनित होते सुनाई पड़ती हैं। लेकिन, कट्टर धर्मप्रचारवादी (इवांजिलिकल) मुहिम चलाने वाले क्लैफ़म सेक्ट के इन पुरोधाओं को ये विचार कहाँ से मिले थे?[21] ये विचार अँग्रेज़ी के मानकीकरण की मुहिम से प्राप्त हुए थे। मैकॉले अपने इस भाषण में एक ऐसे चिरस्थायी साम्राज्य की सम्भावनाएँ रेखांकित कर रहे थे जिसकी कल्पना थॉमस शेरिडान और सेमुअल जॉनसन ने अठारहवीं सदी में अँग्रेज़ी का मानकीकण करते हुए की थी। अँग्रेज़ी के इसी चिरस्थायी साम्राज्य को क़ायम करने के लिए ही मैकॉले ने अपनी शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी तैयार की थी। वे सांस्कृतिक और भाषाई साम्राज्यवाद की उसी परियोजना की अगली कड़ी थे।

ज्ञान और भाषा के सन्दर्भ में मैकॉले की दावेदारियाँ : एक समीक्षा

मैकॉले ने अपनी टिप्पणी में एक तरफ़ तो यह मानने में कोई संकोच नहीं किया कि उन्हें संस्कृत, अरबी या फ़ारसी नहीं आती, और उन्होंने इन भाषाओं की रचनाओं के कुछ अनुवाद ही पढ़े हैं, दूसरी ओर उन्होंने इन भाषाओं में लिखे गए ज्ञान को पूरी तरह से स्तरहीन करार दे कर ख़ारिज कर दिया। ऐसा उन्होंने किस आधार पर किया? उनकी टिप्पणी के कुछ समीक्षक मानते हैं कि राजा राममोहन रॉय के 1823 वाले पत्र के तर्कों ने मैकॉले की इसमें मदद की थी। हम ऊपर देख चुके हैं कि राममोहन के पत्र की दो-तीन अभिव्यक्तियाँ तो मैकॉले द्वारा सीधे-सीधे इस्तेमाल कर ली गई थीं। लेकिन वास्तव में इससे भी बहुत आगे जा कर राममोहन के पत्र ने मैकॉले के लिए यह तय करने की गुंजाइश प्रदान की कि भारतीय उपनिवेशितों के बौद्धिक जीवन से क्या हटाना है और उसकी जगह क्या लाना है। आंग्लवादियों के लिए गवर्नर-जनरल लॉर्ड एमहर्स्ट को लिखे गए इस पत्र की अहमियत कितनी थी, इसका अन्दाज़ा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि तीन साल बाद यानी 1835 में जब चार्ल्स ट्रेवेलियन ने अपनी रचना *ऑन द एजुकेशन ऑफ़ द पीपुल ऑफ़ इंडिया* में इसे आद्योपान्त उद्धृत कर डाला।[22]

मैकॉले ने अपनी टिप्पणी में एक तरफ़ तो यह मानने में कोई संकोच नहीं किया कि उन्हें संस्कृत, अरबी या फ़ारसी नहीं आती, और उन्होंने इन भाषाओं की रचनाओं के कुछ अनुवाद ही पढ़े हैं, दूसरी ओर उन्होंने इन भाषाओं में लिखे गए ज्ञान को पूरी तरह से स्तरहीन करार दे कर ख़ारिज कर दिया। ऐसा उन्होंने किस आधार पर किया ?

दरअसल, मैकॉले की कई बातें उनसे बारह साल पहले राममोहन ने अपनी चिट्ठी में कह दी थीं। उनके तर्कों के केन्द्र में भी 1813 के चार्टर का अनुच्छेद 43 था। इसी की व्याख्या से तय होने वाला था कि कम्पनी सरकार भारतवासियों की शिक्षा के लिए एक लाख रुपए किस मद में ख़र्च करेगी। राममोहन का कहना था : गवर्नर-जनरल को पुराने किस्म के ज्ञान की शिक्षा देने में धन नहीं ख़र्च करना चाहिए। देश में संस्कृत

21. अठारहवीं सदी के आख़िरी दशक में उभरे बेहद आक्रामक और कट्टर इंजीली धर्मप्रचारवादी सेक्ट का नाम क्लैफ़म इसलिए पड़ा कि उसकी ज़्यादातर प्रमुख हस्तियाँ क्लैफ़म नामक जगह पर रहती थीं। चार्ल्स ग्रांट और विलियम विल्बरफ़ोर्स इसी सेक्ट के सदस्य थे। मैकॉले के पिता ज़ैकरी मैकॉले भी इसके सदस्य थे। इतिहासकारों के अनुसार क्लैफ़म सेक्ट के प्रभाव के कारण ही विक्टोरियाई युग को उसकी 'आदरणीयता' प्राप्त हुई। इसी सेक्ट के प्रभाव को औद्योगिक क्रान्ति से उपजे व्यक्तिवाद को संयमित करने का श्रेय दिया जाता है। भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के सोच-विचार और नीति-निर्माण को निर्णायक रूप से प्रभावित करने में इसी सेक्ट द्वारा भेजे गए अधिकारियों की प्रमुख भूमिका रही। इस सेक्ट की प्रमुख हस्तियाँ ब्रिटिश उपयोगितावादी दर्शन और ब्रिटिश उदारतावाद के साथ भी गहराई से जुड़ी हुई थीं। एरिक स्टोक्स (1959) ने अपनी रचना *द इंग्लिश यूटिलिटेरियंस ऐंड इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली में इस सम्बन्ध को विस्तार से स्थापित किया है।

22. राजा राममोहन रॉय के इस पत्र के पूरे पाठ के लिए देखें, ज़ैस्टौपिल और मार्टिन मोइर (1999), वही : 110-114।

के बहुत से प्रोफ़ेसर मौजूद हैं। जिसे संस्कृत पढ़नी होगी वह उनसे पढ़ लेगा। सरकार को नौजवानों के दिमाग़ पर अमूर्त किस्म के ज्ञान का बोझ नहीं डालना चाहिए। वेदान्त, व्याकरण, न्यायसूत्र और मीमांसा जैसी ज्ञान-प्रणालियाँ हमारे काम की नहीं रह गई हैं। इन फ़ालतू बातों के बजाय नौजवानों को फ्रांसिस बेकन का दर्शन और इन्द्रियानुभववादी विज्ञान पढ़ाया जाना चाहिए। पश्चिम के राष्ट्रों की एशिया सम्बन्धी भव्य महत्त्वाकांक्षाएँ तभी पूरी हो सकती हैं जब यहाँ आधुनिक युरोप की कलाओं और विज्ञान का पौधा लगाया जाए। और यह तभी हो सकता है जब पाठ्यक्रम गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायनशास्त्र, शरीरशास्त्र और अन्य उपयोगी विज्ञानों से मिल कर बना हो। राममोहन की एक-एक बात मैकॉले और ट्रेवेलियन के लिए बेहद उपयोगी इसलिए थी कि वे 1818 में शंकर के *ब्रह्मसूत्र* का भाष्य लिख चुके थे। 1816 से 1818 के बीच उन्होंने अकेले दम पर उपनिषदों का शाब्दिक अनुवाद कर डाला था। पाँच उपनिषद बंगाली में और पाँच अँग्रेज़ी में अनूदित किए गए थे। यानी, वे एक ऐसी हस्ती थे जिनके बारे में यह कहा जा सकता था कि वे संस्कृत में उपलब्ध विद्या का ज्ञान प्राप्त करने के बाद उसे व्यर्थ का बता रहे हैं।[23] ज़ाहिर है कि ज़माना बदल चुका था। राममोहन के जिन विचारों को बीस के दशक में भारतीय इच्छा की प्रतिनिधि मानने से इंकार कर दिया गया था, उन्हीं विचारों को ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने शिक्षा और भाषा सम्बन्धी अपने निर्णय लेने के लिए इस अन्दाज़ में स्वीकार किया जैसे वे समूचे भारत की नुमाइन्दगी कर रहे हों। 1833 में एक बार पहले भी यही हुआ था जब हाउस ऑफ़ कॉमंस की शिक्षा सम्बन्धी चयन समिति के सामने राममोहन की गवाही को कमेटी के अध्यक्ष रॉबर्ट पील ने इस बात का सबूत माना था कि भारतवासी अँग्रेज़ी शिक्षा और युरोपीय ज्ञान-विज्ञान सीखने के लिए व्याकुल होते जा रहे हैं।

भारतीय समाज जिन ज्ञान-प्रणालियों के आधार पर अपनी भाषाओं में विद्या का सन्धान कर रहा था, वह प्रक्रिया कम्पनी सरकार की तरफ़ से अचानक ठप्प कर दी गई। जहाँ व्यावहारिक कारणों से अथवा स्वयं अँग्रेज़ों की अपनी रणनीतिक दुविधाओं के कारण यह प्रक्रिया ठप्प नहीं हो पाई, वहाँ इसे बेतहाशा मन्द कर दिया गया।

जो भी हो, भारतीय विद्या को अनुपयोगी और स्तरहीन करार देने का परिणाम यह निकला कि अँग्रेज़ों द्वारा विशाल पैमाने पर भारतीय ज्ञान-प्रणालियों की जगह पश्चिमी ज्ञान-प्रणाली की स्थापना की एक ऐसी मुहिम शुरू की गई जिसमें दोनों के बीच किसी संवाद की भी गुंजाइश नहीं थी (प्राच्यवादियों की 'क़लम लगाने' की रणनीति के तहत भी यह गुंजाइश केवल शुरुआती दौर में ही सम्भव थी, क्योंकि क़लम लगाने के बाद तो अँग्रेज़ी और युरोपीय ज्ञान-विज्ञान के फल और फूल ही पैदा होने वाले थे।) इस तरह भारतीय समाज जिन ज्ञान-प्रणालियों के आधार पर अपनी भाषाओं में विद्या का सन्धान कर रहा था, वह प्रक्रिया कम्पनी सरकार की तरफ़ से अचानक ठप्प कर दी गई। जहाँ व्यावहारिक कारणों से अथवा

23. मैकॉले और ट्रेवेलियन ने राममोहन के पत्र का अपने पक्ष में इस्तेमाल ज़रूर किया, लेकिन इसका यह मतलब निकालना उचित नहीं होगा कि राममोहन और इन दोनों के मक़सद में कोई अन्तर नहीं था. शिवाजी बंद्योपाध्याय (2012) ने कुछ बारीक़ विश्लेषण करके दिखाया है कि राममोहन का आज्ञाकारी भारतीय अपनी बौद्धिक उन्नति के लिए अपनी मर्ज़ी से युरोपीय ज्ञान-विज्ञान का अनुशीलन करने वाला था, जबकि मैकॉले का आज्ञाकारी भारतीय बाज़ार में खड़े एक ग्राहक की तरह युरोपीय वस्तुओं और ज्ञान के एक उपभोक्ता की तरह उभरता है. राममोहन एक ऐसी शिक्षा की तरफ़ इशारा कर रहे थे जो विचारों के खुले आदान-प्रदान की अपेक्षाओं पर टिकी थी, जबकि मैकॉले बाज़ार की गड़बड़ियों के कारण पैदा हुई दिक़्क़तों से निबटने के लिए युरोपीय विचारों की जानकारी देना चाहते थे.

स्वयं अँग्रेज़ों की अपनी रणनीतिक दुविधाओं के कारण यह प्रक्रिया ठप्प नहीं हो पाई, वहाँ इसे बेतहाशा मन्द कर दिया गया। सुदीप्त कविराज ने अपनी बेहतरीन रचना 'द सडन डेथ ऑफ़ संस्कृत नॉलेज' में इसे 'विशालतम पैमाने पर हुई ज्ञानमीमांसात्मक विच्छिन्नता' की संज्ञा दी है। कविराज के अनुसार यह ज्ञानोत्पादन सम्बन्धी विच्छिन्नता इतिहास के अपने तरह के सबसे बड़े प्रकरणों में से एक है :

> *इसमें शायद ही कोई विवाद हो कि उन्नीसवीं सदी के भारत में, उसके कुछ हिस्सों में कुछ समय बाद, विशालतम पैमाने पर एक 'ज्ञानमीमांसात्मक विच्छिन्नता' घटित हुई। अँग्रेज़ी ने गम्भीर, संकुल और उच्चस्तरीय ज्ञान के वाहक के तौर पर संस्कृत और इस्लामी सन्दर्भ में फ़ारसी-अरबी को प्रतिस्थापित कर दिया। इससे भी ज़्यादा अहम बात यह है कि यह 'भाषा-प्रतिस्थापन' दो तरह से विशिष्ट होने के साथ-साथ आपस में सम्बन्धित भी था। यह केवल एक नैसर्गिक भाषा संस्कृत से दूसरी नैसर्गिक भाषा अँग्रेज़ी में होने वाला अन्तरण ही नहीं था। ये नैसर्गिक भाषाएँ बेहद गहन अवधारणात्मक भाषाई सामग्री का आगार थीं, और यह सामग्री संज्ञानात्मक व्याकरण की विस्तृत संरचना का हिस्सा थी। अर्थात, इनमें वे मान्य विधियाँ निहित थीं जिनके ज़रिए 'नाना प्रकार के ज्ञान' को ज्ञान की तरह स्वीकृत, अर्जित, संग्रहीत, प्रसारित करने के साथ-साथ बौद्धिक व व्यावहारिक परम्पराओं की तरह जारी रखा जाता था। इस संज्ञानात्मक परिवर्तन का विस्तार कितना सम्पूर्ण था इसका अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि एक-दूसरे से ख़ासे अलग समझे जाने वाले गणित, तर्कशास्त्र, खगोलशास्त्र, औषधि, नैतिक विमर्श, धार्मिक चिन्तन, व्याकरण और सौन्दर्यशास्त्र जैसे ज्ञानानुशासनों में भी घटित हुआ। यानी जो कुछ भी 'ज्ञान' था, वह इसके कारण रूपान्तरित हो गया।*[24]

> इसमें शायद ही कोई विवाद हो कि उन्नीसवीं सदी के भारत में, उसके कुछ हिस्सों में कुछ समय बाद, विशालतम पैमाने पर एक 'ज्ञानमीमांसात्मक विच्छिन्नता' घटित हुई। अँग्रेज़ी ने गम्भीर, संकुल और उच्चस्तरीय ज्ञान के वाहक के तौर पर संस्कृत और इस्लामी सन्दर्भ में फ़ारसी-अरबी को प्रतिस्थापित कर दिया।

कविराज ने यह अवलोकन केवल संस्कृत, अरबी और फ़ारसी में उपलब्ध ज्ञान के सन्दर्भ में किया है, लेकिन यह विच्छिन्नता कहीं गहरी और व्यापक थी। मैकॉले-बेंटिक की जुगलबन्दी का प्रभाव चौतरफ़ा पड़ा। क्लासिकल भाषाओं के प्रभाव में भारतीय भाषाओं में होने वाले ज्ञानोत्पादन पर भी विपरीत असर पड़ा। न केवल भारतीय विज्ञान के विकास की अपनी संश्लिष्ट प्रक्रिया थम गई, बल्कि उसका युरोपीय विज्ञान से होने वाला लेन-देन भी ख़त्म हो गया। अँग्रेज़ी भाषा के आधिपत्य के कारण पहले से चली आ रही शिक्षा-व्यवस्था भी अगले कुछ दशकों में या तो नष्ट हो गई या नष्ट होने के कगार पर पहुँच गई।

ऐतिहासिक रूप से भीषण इस विच्छिन्नता के पीछे उपनिवेशवादियों द्वारा दिया गया एक दोहरा तर्क काम कर रहा था। इस तर्क का पहला आयाम यह था : भारत का तत्कालीन वर्तमान एक ऐसे बौद्धिक तलछट में पड़ा हुआ है जहाँ से उसे एकमात्र अँग्रेज़ी और पश्चिमी ज्ञान-प्रणाली के माध्यम का इस्तेमाल किए हुए नहीं निकाला जा सकता। जैसा कि हमने देखा है कि भारतीय अतीत के बारे में अपने मतभेदों

24. देखें, सुदीप्त कविराज (2005), 'द सडन डेथ ऑफ़ संस्कृत नॉलेज', *जरनल ऑफ़ इंडियन फ़िलॉसफ़ी*, खण्ड 33 : 119-142.

के बावजूद प्राच्यवादियों और आंग्लवादियों में इस बात पर सहमति थी। अर्थात, इस दावे के मुताबिक़ ज्ञान-विज्ञान के लिहाज़ से सत्रहवीं और अठारहवीं पतन की सदियाँ होनी चाहिए थीं। केवल तभी उन्नीसवीं सदी का पूर्वार्ध बौद्धिक तलछट का समय हो सकता था। यहाँ देखना होगा कि क्या इन भारतीय सदियों के बौद्धिक इतिहास-लेखन में अँग्रेज़ महाप्रभुओं और उनके स्थानीय पैरोकारों की इन दावेदारियों को सही ठहराने वाले प्रमाण मिलते हैं? इस तर्क का दूसरा आयाम यह था : अगर अँग्रेज़ों से पहले के भारत के पास ज्ञान-विज्ञान और कला-संस्कृति के लिहाज़ से कुछ था भी, तो भी उसे अँग्रेज़ों और उनके भारतीय समर्थकों के नेतृत्व में बनती हुई आधुनिकता के लिए उपयोगी नहीं माना जा सकता। इसलिए उसे इतिहास के कूड़ेदान में डाल देना ही उचित होगा। यहाँ देखना यह होगा कि क्या भारतीय ज्ञान-विज्ञान की उपयोगिता को ख़ारिज करते समय पश्चिमी ज्ञान द्वारा प्रदत्त विधियों और संहिताओं का प्रयोग किया गया, या उन्हें केवल राजसत्ता के बल पर एक सपाट क़िस्म का विचारधारात्मक दावा करके अपनी मौत मर जाने के लिए गुमनामी और अनुपयोग के अँधेरों में फेंक दिया गया? कहना न होगा कि उपनिवेशवादियों के इस दोहरे तर्क की पड़ताल यहाँ बहुत संक्षेप में ही की जाएगी, क्योंकि इस विषय पर उपलब्ध अनुसन्धानपरक साहित्य इतना विपुल है कि उसपर एक नहीं बल्कि कई खण्डों में ग्रन्थमालाएँ लिखी जा सकती हैं।

> चौदहवीं सदी से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक संस्कृत और अरबी के बीच परस्परव्यापी रचनाशीलता के प्रमाण उपलब्ध हैं। भारतीय विद्वानों ने बारहवीं और तेरहवीं सदी में ही फ़ारसी के विद्वानों की सोहबत में अरबी की रचनाएँ पढ़ना शुरू कर दी थीं। खगोलशास्त्र के दायरे में इस विद्वत्ता का भारत को बहुत लाभ हुआ।

अँग्रेज़ों के पहले भारत में ज्ञान–विज्ञान और कला–संस्कृति

जिस तरह युरोप में लैटिन ज्ञान-विज्ञान की भाषा थी, उसी तरह भारत में उससे भी बहुत पहले से संस्कृत, अरबी और फ़ारसी जैसी तीन क्लासिक भाषाएँ यही भूमिका निभा रही थीं। ध्रुव रैना के अनुसार इन तीनों भाषाओं के समृद्ध विमर्शी संसार अलग-अलग दायरों में बन्द नहीं थे, बल्कि इनके बीच एक कारगर अन्योन्यक्रिया चलती रहती थी। औषधि, खगोलशास्त्र और दर्शनशास्त्र में इस रचनात्मक आदान-प्रदान के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। इस प्रक्रिया में एक संकर और परस्पर गुँथी हुई ज्ञानार्जन की प्रक्रिया के ज़रिए भारतीय समाज ज्ञान का सन्धान करता था।[25] शेल्डन पोलोक के अनुसार 1550 से 1750 के बीच के समय (जिसे आंग्लवादियों और प्राच्यवादियों, दोनों ने बौद्धिक पतन का काल माना है) को भारत के बौद्धिक इतिहास का सबसे सृजनशील दौर कहा जाना चाहिए। इस दौरान व्याकरण, न्याय, धर्मशास्त्र, अलंकारशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष और गणित के अनुशासनों में विपुल रचनाशीलता सामने आई। यह केवल पुराने ज्ञान का दोहराव न हो कर एक ऐसा अनूठा नवीकरण था जिसमें हर अनुशासन नई अवधारणात्मक श्रेणियों और विमर्शी संहिताओं का अनावरण कर रहा था।[26] चौदहवीं सदी से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक संस्कृत और अरबी के बीच परस्परव्यापी

25. देखें, ध्रुव रैना (2013), 'रिविज़िटिंग सोशल थियरी ऐंड हिस्ट्री ऑफ़ साइंस इन अर्ली मॉडर्न साउथ एशिया ऐंड कोलोनियल इंडिया', *एक्सट्रीम ओरिएंट-एक्सट्रीम ऑक्सीडेंट,* अंक 13 (सत्रहवीं से उन्नीसवीं सदी के बीच मानवीय गतिशीलता और प्रौद्योगिकीय ज्ञान के परिसंचरण पर विशेषांक) : 191-210.

26. देखें, शेल्डन पोलोक की दो रचनाएँ : (2001), 'न्यू इंटलेक्चुअल कम्युनिटीज़ इन 17थ सेंचुरी इंडिया', *द इंडियन इकॉनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू,* खण्ड38, अंक 1 : 3-31; (2004), 'फ़ॉर्म्स ऑफ़ नॉलेज इन अर्ली मॉडर्न इंडिया', पब्लिक कल्चर, खण्ड 12, अंक 3 : 19-21

रचनाशीलता के प्रमाण उपलब्ध हैं। भारतीय विद्वानों ने बारहवीं और तेरहवीं सदी में ही फ़ारसी के विद्वानों की सोहबत में अरबी की रचनाएँ पढ़ना शुरू कर दी थीं। खगोलशास्त्र के दायरे में इस विद्वत्ता का भारत को बहुत लाभ हुआ। हिन्दू और जैन ज्योतिषियों ने अरबी-फ़ारसी में उपलब्ध तकनीकी औज़ारों के बारे में उत्साहपूर्वक जानकारी हासिल की और बड़ी संख्या में सम्बन्धित संहिताएँ लिखी गईं और उपकरणों का आविष्कार हुआ।[27]

कविराज ने अपने पूर्वोद्धृत लेख में अतीत के सन्धान में अकसर की जाने वाली एक ग़लती की ओर इंगित किया है जो मुख्यत: औपनिवेशिक इतिहास-लेखन की देन है। उन्होंने इसे 'साम्राज्यिक पूर्वग्रह' की संज्ञा दी है। इसके मुताबिक़ साम्राज्यिक सत्ता की मज़बूती को आर्थिक ख़ुशहाली, सामाजिक प्रगति और बौद्धिक विकास का पर्याय, और साम्राज्यिक सत्ता की कमज़ोरी का मतलब इन सभी क्षेत्रों में गिरावट के तौर पर मान लिया जाता है। ध्रुव रैना के अनुसार फ्रांस्वा बर्नियर द्वारा किए गए अवलोकन के आधार पर यह ग़लतफ़हमी पैदा होती है कि अपने कमज़ोर होते हुए प्रभाव और विस्तार के आख़िरी वर्षों में मुग़ल शासन केवल अपना तोपख़ाना दुरुस्त करने में ही दिलचस्पी दिखा रहा था। इस समझ के विपरीत मुग़ल हुकूमत के तहत अठारहवीं सदी चित्रकारी, संगीतशास्त्र और साहित्य के क्षेत्र में असाधारण उन्मेष की सदी थी। उर्दू साहित्य के लिए तो यह स्वर्णकाल था। दूसरे, अठारहवीं सदी के मध्य में जब मुग़ल हुकूमत अराजकता का शिकार होने लगी तो कवि, कलाकार, लेखक और अन्य गणमान्य लोग राजाश्रय की तलाश में उन क्षेत्रीय राजनीतिक शक्तियों की तरफ़ चले गए जो मुग़ल साम्राज्य की परिधि पर पनप रही थीं। वहाँ जा कर राज्य की मदद से इन लोगों ने चिन्तन-मनन की नई परम्पराओं और विचार-कुलों की स्थापना की। मसलन, अगर मुग़ल साम्राज्य में विज्ञान की उन्नति रुक गई थी तो राजा जय सिंह, जो स्वयं एक कुशल गणितज्ञ और खगोलविद थे, के राज्य में अठारहवीं सदी के पूर्वार्ध में जयपुर जैसे शहर और आमेर जैसी नई राजधानी का ज्यामितीय नियोजन और निर्माण किया जा रहा था। जय सिंह का रवैया ख़ासा सार्वदेशिक था, और उन्हें इस्लामिक और फ्रांसीसी परम्परा से निकली विद्वत्ता को पहलक़दमी लेकर अपनाने में कोई ऐतराज न था। अगर ज्ञान-विज्ञान का क्षय हो रहा था तो पूछने लायक सवाल यह है कि 1750 से 1850 के बीच दिल्ली, लखनऊ, हैदराबाद और लाहौर में फ़ारसी के प्रकाशक ईरान, तुर्की और मध्य एशिया के भी कुछ इलाक़ों से ज़्यादा बड़ी संख्या में पुस्तकें कैसे छाप रहे थे?

उन्नीसवीं सदी के दौरान वैज्ञानिक और तर्कसंगत चिन्तन और हिन्दू मानस के बीच शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोध दिखाने के मामले में न केवल उपनिवेशवादी अँग्रेज़ अपनी भूमिका निभा रहे थे, बल्कि उपनिवेशवाद को तिरछी निगाह से देखने वाले अँग्रेज़ भी यह बताने में पीछे नहीं थे कि हिन्दुओं के पास आधुनिक विज्ञान को सम्बोधित करने वाली वैज्ञानिक विरासत नहीं है।

उन्नीसवीं सदी के दौरान वैज्ञानिक और तर्कसंगत चिन्तन और हिन्दू मानस के बीच शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोध दिखाने के मामले में न केवल उपनिवेशवादी अँग्रेज़ अपनी भूमिका निभा रहे थे, बल्कि उपनिवेशवाद को तिरछी निगाह से देखने वाले अँग्रेज़ भी यह बताने में पीछे नहीं थे कि हिन्दुओं के पास आधुनिक विज्ञान को सम्बोधित करने वाली वैज्ञानिक विरासत नहीं है। इस बारे में वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद के साम्राज्यवाद विरोधी पैरोकार सैमुअल लॉब का उदाहरण दृष्टव्य है। लॉब का कहना था कि चिन्तन के विज्ञानसम्मत तौर-तरीक़े हिन्दू

27. देखें, श्रीरामुलु राजेश्वर सरमा (1999), 'द एस्ट्रोलैब इन संस्कृत', *इंडियन जरनल ऑफ़ हिस्ट्री ऑफ़ साइंस*, खण्ड 34, अंक 2 : 145-158.

चिन्तनशीलता के चिह्नित लक्षणों में फ़िट नहीं बैठते।[28] इस तरह की दलील के जवाब में बंगाल के प्रत्यक्षवादी विचारक नगेंद्रनाथ घोष ने उसी समय यह दावा किया था कि प्राचीनकालीन हिन्दुओं को विज्ञान पर महारत हासिल थी और उनका मानस किसी भी तरह से अवैज्ञानिक नहीं था। इसी तरह एक अन्य प्रत्यक्षवादी विद्वान राजकृष्ण मुखर्जी ने भारतीय गणित की उपलब्धियाँ रेखांकित करते हुए दिखाया कि किस तरह आधुनिक वैज्ञानिक खोजें भारतीय गणित की ऋणी हैं। अपने शुरुआती दौर में बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय भी प्रत्यक्षवाद से प्रेरित हुए थे। उस समय उन्होंने भी कहा था कि हिन्दू मानस को अवैज्ञानिक मानना तथ्यत: आपत्तिजनक है।[29] दरअसल, लॉब का तर्क वैसा ही था जैसा मैकॉले और उनके साथियों ने दिया था। भारतीय विद्वान बीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों से इस दलील का खण्डन कर रहे हैं। ऐसी कई विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण रचनाएँ हैं जो बेहद विश्वसनीय ढंग से इस दावे का खण्डन करते हुए प्राचीन और मध्ययुगीन भारत में वैज्ञानिक चिन्तन, खोजों, सिद्धान्तीकरण और विमर्श के पर्याप्त प्रमाण पेश करती हैं। इनमें 1903 में प्रकाशित *अ हिस्ट्री ऑफ़ हिन्दू केमिस्ट्री* जैसी रचना है। प्रेसीडेंसी कॉलेज, कलकत्ता में केमिस्ट्री के प्रोफ़ेसर प्रफुल्ल चंद्र रॉय की इस कृति में प्राचीन काल से सोलहवीं सदी के मध्य तक की अवधि में भारतीय रसायनशास्त्र की उपलब्धियों का 544 पृष्ठ लम्बा ब्योरा दर्ज है। इसी तरह 1915 में लंदन से प्रकाशित ब्रजेंद्रनाथ सील की रचना *द पॉज़िटिव साइंसेज़ ऑफ़ एंशियेंट हिन्दूज़* और 1918 में न्यूयॉर्क से प्रकाशित विनय कुमार सरकार की रचना *हिन्दू अचीवमेंट्स इन एक्ज़ेक्ट साइंसेज़* भी इसी श्रेणी में आती हैं।[30]

> धर्मपाल का विश्लेषण बताता है कि मैकॉले द्वारा भारत को विज्ञान से वंचित बताना एक पहले से चल रही प्रचारात्मक मुहिम का परिणाम था जो चार्ल्स ग्रांट और विल्बरफ़ोर्स जैसे धर्मप्रचारवादियों ने भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के सभ्यतामूलक औचित्य को न्यायसंगत ठहराने के लिए चलाई थी।

अँग्रेज़ों से पहले के भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की दिशा-दशा पर अनुसन्धान में अपना सारा जीवन खपाने वाले मनीषी धर्मपाल ने अपनी विख्यात रचना *इंडियन साइंस ऐंड टेक्नॉलॅजी इन द एटींथ सेंचुरी* में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के भारतीय प्रकरण की प्रामाणिक उपनिवेश-पूर्व तस्वीर खींची है। धर्मपाल ने युरोपीय अभिलेखागारों का इस्तेमाल करते हुए उन युरोपीय मुसाफ़िरों, सरकारी अधिकारियों, फ़ौजी अफ़सरों और चिकित्सकों द्वारा दिए गए ब्योरे ढूँढ़ निकाले जिन्होंने भारत में काफ़ी समय बिताया था। अपनी इस रचना में उन्होंने यह भी समझाया है कि जो युरोपीय प्रेक्षक शुरू में भारतीय विज्ञान के विकसित रूप से चमत्कृत हो कर उसकी सराहना कर रहे थे, वे ही कैसे बाद में भारतीय विज्ञान का अवमूल्यन करने में जुट गए। धर्मपाल का

28. इस कथन के लिए देखें, सेमअुल लॉब (1872), 'इनफ़्लुएंस ऑफ़ वेस्ट ऑन ईस्ट', *इंडियन ऑब्ज़र्वर*, 6 जनवरी, एस इरफ़ान हबीब और ध्रुव रैना (1989), 'कॉपरनिकस, कोलम्बस, कोलोनियलिज़्म ऐंड द रोल ऑफ़ साइंस इन नाइंटींथ सेंचुरी इंडिया', *सोशल साइंटिस्ट*, खण्ड 17, अंक 3/4 : 51-66।

29. बंगाल में प्रत्यक्षवादी विद्वत्ता के लिए देखें, जेराल्डाइन एच फ़ॉर्ब्स (1975), *पॉज़िटिविज़्म इन बेंगाल : अ केस स्टडी इन ट्रांसमिशन ऐंड एसिमिलेशन ऑफ़ अवर आइडियोलॅजी*, पीएचडी थीसिस, युनिवर्सिटी ऑफ़ इलिनॉय, इरफ़ान हबीब और ध्रुव रैना (1989), वही में उद्धृत।

30. देखें, प्रफुल्ल चंद्र रॉय (1903), *हिस्ट्री ऑफ़ हिन्दू केमिस्ट्री*, द बेंगाल केमिकल ऐंड फ़र्मास्युटिकल वर्क्स लिमिटेड, कलकत्ता; विनय कुमार सरकार (1918), *हिन्दू अचीवमेंट्स इन एक्ज़ेक्ट साइंसेज़ : अ स्टडी इन द हिस्ट्री ऑफ़ साइंटिफ़िक डिवेलपमेंट*, लोंगमेंस, ग्रीन एंड कं., न्यूयॉर्क; और, ब्रजेंद्रनाथ सील (1915), द पॉज़िटिव साइंसेज़ ऑफ़ द एंसिएंट हिन्दूज़, लोंगमेंस, ग्रीन एंड कं., लंदन।

विश्लेषण बताता है कि मैकॉले द्वारा भारत को विज्ञान से वंचित बताना एक पहले से चल रही प्रचारात्मक मुहिम का परिणाम था जो चार्ल्स ग्रांट और विल्बरफ़ोर्स जैसे धर्मप्रचारवादियों ने भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के सभ्यतामूलक औचित्य को न्यायसंगत ठहराने के लिए चलाई थी। धर्मपाल इसमें कोलब्रुक जैसे ब्रिटिश प्राच्यवादियों की कारिस्तानी को भी रेखांकित करते हैं जिन्हें भारतीय विज्ञान प्राचीन काल में तो कारगर और उपयोगी लगता है, पर बाद में वे उसे जड़ता का शिकार बताने लगते हैं।[31]

जहाँ तक सामाजिक ज्ञान और रचनात्मक साहित्य सम्बन्धी बौद्धिक उत्पादन का सवाल है, प्रतिष्ठित इतिहासकारों के अनुसार भारत की धरती पर सत्रहवीं से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक के ढाई सौ साल विपुल सांस्कृतिक ज्ञान के उत्पादन की अवधि के रहे हैं। ख़ास बात है कि इस बौद्धिक उत्पादन की भाषा संस्कृत, अरबी और फ़ारसी न हो कर भारत की स्थानीय भाषाएँ थीं जिन्हें मैकॉले ने कूड़ा-कचरा करार दिया था। जॉन रिचड्‌र्स ने सवाल पूछा है कि क्या भारत की इन सदियों में लोगों, जिंसों और विचारों का परिसंचरण आधुनिक युग की तरह सघन और तीव्र था? समाज की गतिशीलता के इस प्रमाण के लिए रिचर्स्‌ पूरे विश्वास के साथ एक लोकप्रिय धार्मिक आन्दोलन के कारण होने वाले नए क़िस्म के सांस्कृतिक उत्पादन का उल्लेख करते हैं। रिचड्‌र्स का कहना है कि मात्रा, सघनता और विविधता के लिहाज़ से उत्तरोत्तर बढ़ते हुए इस सांस्कृतिक उत्पादन का केन्द्र उत्तर भारत था। वे अपील करते हैं कि हमें औपनिवेशिक चश्मा उतार कर नई आँखों से इन तीन सदियों में बनी नई संस्थाओं, नए सामाजिक रूपों, नई सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों और नई उत्पादकता को देखना चाहिए। रिचड्‌र्स ने नवीन सांस्कृतिक उत्पादन का कारण बने जिस लोकप्रिय धार्मिक आन्दोलन को उत्तर भारत में केन्द्रित बताया था, और जिसे हम सब भक्ति आन्दोलन के नाम से जानते हैं, वह एक अखिल भारतीय परिघटना था।[32] इस अवधि की विशेषता केवल इतनी ही नहीं है। 1640 से 1840 के बीच दो सौ वर्ष के दौरान उत्तर और मध्य भारत में ब्रजभाषा में काव्यशास्त्र और काव्य की बड़े पैमाने पर रचना हुई।

> प्रतिष्ठित इतिहासकारों के अनुसार भारत की धरती पर सत्रहवीं से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक के ढाई सौ साल विपुल सांस्कृतिक ज्ञान के उत्पादन की अवधि के रहे हैं। ख़ास बात है कि इस बौद्धिक उत्पादन की भाषा संस्कृत, अरबी और फ़ारसी न हो कर भारत की स्थानीय भाषाएँ थीं जिन्हें मैकॉले ने कूड़ा-कचरा करार दिया था।

इसमें न केवल संस्कृत के काव्यशास्त्र को आधार बनाया गया, बल्कि उससे परे जाते हुए उल्लेखनीय नवाचार करते हुए एक नए काव्यशास्त्र का पूरा ढाँचा ही खड़ा कर दिया गया। संस्कृत-साहित्य की दुनिया में काव्यशास्त्र के आचार्य और कवि की हस्तियाँ अलग-अलग होती थीं, पर यह एक ऐसा अनूठा काल था जब आचार्यत्व और कवित्व का मणिकांचन संयोग हुआ। जो आचार्य था, वही कवि भी था। जो सैद्धान्तिक थे, वही अभ्यासकर्ता भी थे। काव्यशास्त्रीय निरूपण संस्कृत के सीमित दायरे से निकल कर जन-भाषा में होने के कारण रचना-प्रक्रिया की बारीक़ियाँ आम लोगों के लिए सुलभ हुईं। बहुत बड़े पैमाने पर अभिजन से लेकर सर्वजन तक ब्रजभाषा में काव्य-रचना की लोकतांत्रिक सम्भावनाएँ न केवल खुलीं, बल्कि ठोस धरातल पर घटित होने लगीं। कवित्त, सवैए और दोहे रचना लोकप्रिय जन-संस्कृति

31. देखें, धर्मपाल (2000), *इंडियन साइंस ऐंड टेक्नॉलॉजी इन द एटींथ सेंचुरी : सम कंटेम्प्रेरी युरोपियन एकाउंट*, (कलेक्टिड राइटिंग्ज़ ऑफ़ धर्मपाल-खण्ड1), अदर इंडिया प्रेस, गोवा।

32. देखें, रिचड्‌र्स, एफ़ जॉन (1997), 'अर्ली माडर्न इंडिया ऐंड वर्ल्ड हिस्ट्री', *जरनल ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री*, खण्ड 8, अंक 2 : 197-209.

की गतिविधियों का सामान्य अंग बन गया। ब्रजभाषा काव्य और उसके साथ-साथ विकसित होने वाली काव्यकला की यह व्याप्ति केवल हिन्दी-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि उसने महाराष्ट्र और दक्षिण भारत को भी स्पर्श किया। स्वाभाविक तौर से उसका एक रिश्ता उर्दू-साहित्य के तत्कालीन विकास से भी बना। ब्रजभाषा की काव्य-रचना को उर्दू और फ़ारसी के लफ़्ज़ अपनाने से परहेज़ नहीं था, और दूसरी तरफ़ उस ज़माने में रेख़्ता, रेख़्ती या हिन्दवी की रचनाशीलता भी जनपदीय भाषाओं के साथ गहरी दोस्ती से लाभान्वित होती थी।[33]

शेल्डन पोलोक ने अपनी बहुचर्चित रचनाओं में भारत के 'वर्नाकुलराइज़ेशन' के बारे में प्रभावशाली विमर्श पेश किया है। वे कहते हैं कि दूसरी सहस्राब्दी की शुरुआती शताब्दियाँ क्षेत्रीय भाषाओं (तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, मराठी, ब्रज वग़ैरह) के उदय की हैं। यह प्रक्रिया युरोप जैसी नहीं है जहाँ 'वर्नाकुलराइज़ेशन' लैटिन भाषा की क़ब्र पर हुआ था। पोलोक के अनुसार भारत में जो क्षेत्रीय भाषाकरण हुआ, उसके कारण संस्कृत ख़त्म नहीं हुई, बल्कि उसके आधार में संस्कृत और उसकी बौद्धिक परम्परा थी।[34] पोलोक का यह दावा ब्रिटिश प्राच्यवादी प्रोजेक्ट के उस एकतरफ़ापन को रेखांकित करता है जो भारतीय विद्याओं की अभिव्यक्ति केवल क्लासिक भाषाओं के दायरे में ही करता है, और उनसे प्रभावित और उनके ज़रिए संसाधित अन्य भारतीय भाषाओं के बौद्धिक उद्यम को दृष्टि से ओझल रखता है। संस्कृत और इन भाषाओं के बीच हुई अन्योन्यक्रिया के चलते *महाभारत* दक्षिण एशिया की राजनीतिक कल्पनाशीलता को अजस्र स्रोत बना। संस्कृत काव्यशास्त्र के लक्षण ग्रन्थों ने ब्रज तथा अन्य भाषाओं में पुनर्संस्कार प्राप्त करके लोकप्रिय काव्यान्दोलनों को जन्म दिया। *रामायण* की कहानी विभिन्न भाषाओं में अलग-अलग तरह से कही गई और सामाजिक ज्ञान और संहिताओं का अहम स्रोत साबित हुई।

शेल्डन पोलोक ने अपनी बहुचर्चित रचनाओं में भारत के 'वर्नाकुलराइज़ेशन' के बारे में प्रभावशाली विमर्श पेश किया है। वे कहते हैं कि दूसरी सहस्राब्दी की शुरुआती शताब्दियाँ क्षेत्रीय भाषाओं (तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, मराठी, ब्रज वग़ैरह) के उदय की हैं। यह प्रक्रिया युरोप जैसी नहीं है जहाँ 'वर्नाकुलराइज़ेशन' लैटिन भाषा की क़ब्र पर हुआ था।

वस्तुस्थिति यह है कि विश्लेषित अवधि में स्थानीय भाषाओं में केवल रचनात्मक साहित्य की ही रचना नहीं हुई थी। वेल्चरु नारायण राव और संजय सुब्रह्मण्यम ने दक्षिण भारत के सन्दर्भ और ख़ासकर तेलुगु भाषा के माध्यम से राजनीतिक विचार के क्षेत्र में योगदान का विस्तृत ब्योरा पेश किया है। ये दोनों इतिहासकार यह भी कहते हैं कि थोड़ी-सी कोशिशों से इसी तरह का अनुसन्धान मराठी भाषा के सन्दर्भ में भी किया जा सकता है। राव और सुब्रह्मण्यम के अनुसार मध्ययुगीन आन्ध्र के काकातीय राज्य से विजयनगर साम्राज्य के दौर तक समाज और राजनीति के प्रबन्धन के राजनीतिक सिद्धान्त का विकास हुआ। ये इतिहासकार इस साहित्य को नीति-साहित्य की श्रेणी में रखते हैं।[35] राव और सुब्रह्मण्यम ने डेविड शुलमैन के साथ मिल कर 1600-1800

33. देखें, एलिसन बुश (2011), *पोएट्री ऑफ़ किंग्ज़ : द क्लासिकल हिंदी लिट्रेचर ऑफ़ मुग़ल इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, यूएसए; और, स्टुअर्ट आर मेकग्रेगर (2003), 'दि डिवेलपमेंट ऑफ़ अ ट्रांसरीजनल ईडियम', शेल्डन पोलोक (सम्पा.), *लिटरेरी कल्चर्स इन हिस्ट्री : रिकंस्ट्रक्शंस फ़्रॉम साउथ एशिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली : 912-957.

34. देखें, शेल्डन पोलोक की दो रचनाएँ : (1998), 'इंडिया इन द वर्नाकुलर मिलेनियम : लिटरेरी कल्चर ऐंड पॉलिटी, 1000-1500', डेडलस,खण्ड127, अंक 3 : 41-74; और, (1998), 'द कॉस्मोपॉलिटन वर्नाकुलर', *द जरनल ऑफ़ एशियन स्टडीज़,* खण्ड 57, अंक 1 : 6-37।

के बीच भारत में इतिहास-लेखन की देशज विधियों के समृद्ध ब्योरे भी पेश किए हैं। उनकी बहुचर्चित रचना *टेक्स्चर ऑफ़ टाइम : राइटिंग हिस्ट्री इन साउथ इंडिया* सप्रमाण दिखाती है कि भारत में इतिहास-लेखन और ऐतिहासिक चेतना की अनुपस्थिति का दावा करने वाला विचार किस तरह आधारहीन है और ज़्यादा-से-ज़्यादा युरोकेन्द्रित आग्रहों का परिणाम है।[36]

भारतीय विद्या की मैकॉलेवादी आलोचना और उसकी व्यापक स्वीकारोक्ति का एक बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि आगे चल कर संस्कृत वांगमय की प्रचलित छवि महज़ कर्मकाण्डीयता, धर्मशास्त्रीयता और आध्यात्मिक जीवन संसाधित करने वाले पाठों की बनती चली गई। तथ्य यह था कि संस्कृत साहित्य में सौन्दर्यशास्त्र का प्रतिपादन करने वाली रचनाओं (भरत का *नाट्यशास्त्र,* धनिका-धनंजय की कृति *दशरूपक,* भामा और दण्डी की कृतियाँ काव्यालंकार और काव्यादर्श, मम्मट का *काव्यप्रकाश,* वामन का *काव्यालंकारसूत्र,* आनंदवर्धन का *ध्वन्यालोक*, अभिनव गुप्त की *अभिनव भारती),* राजनीतिशास्त्र की श्रेणी में आने वाली रचनाएँ (कौटिल्य का *अर्थशास्त्र* और कल्हण की *राजतरंगिणी),* भाषाशास्त्र की श्रेणी में आने वाली रचनाएँ (पाणिनि की *अष्टाध्यायी* और भर्तृहरि का *वाक्यपदीयम),* कामविज्ञान की श्रेणी में आने वाली रचनाएँ (वात्स्यायन का *कामसूत्र)*[37] के साथ-साथ गणित, रेखागणित, बीजगणित, भूगोल, उल्काविज्ञान, धातुविज्ञान, नौकाविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, कृषि, अभियांत्रिकी, जन्तुविज्ञान, शल्यचिकित्सा और आयुर्विज्ञान में महत्त्वपूर्ण योगदान करने वाला साहित्य (बोधायन रचित *शुल्वसूत्र,* आर्यभट्टरचित *आर्यभट्टीयम,* वराहमिहिर रचित *बृहत्संहिता,* भास्कराचार्य रचित *महाभास्करीयम*, चरक की *चरकसंहिता*, सुश्रुत की *सुश्रुतसंहिता*, वाग्भट्टकृत *अष्टांगहृदय* और *रसरत्नसमुच्चय,* माधवकर कृत *माधवनिदान* और रोगनिदान, नागार्जुन कृत *रसहृदय* आदि) अननिगत कृतियों के रूप में मौजूद था। वस्तुत: मैकॉलेवाद के प्रभाव ने भारतीय ज्ञान-प्रणालियों को विमर्श की दुनिया से ओझल करने में निर्णायक भूमिका निभाई।[38]

> इस प्रश्न पर भी ग़ौर करना ज़रूरी है कि जब सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में भारतीय ज्ञान–विज्ञान विकसित और विपुल था, तो उपनिवेशवादियों ने उसे किस आधार पर स्तरहीन और अनुपयोगी बता कर ख़ारिज किया। युरोप से आया हुआ बुद्धिवादी विज्ञान स्वयं को एक प्रणाली के रूप में ढालने के लिए कुछ पद्धतिमूलक सिद्धान्तों का कड़ाई से इस्तेमाल करता था।

एक अत्यन्त विशाल वांगमय के इस संक्षिप्त विवरण के बाद इस प्रश्न पर भी ग़ौर करना ज़रूरी है कि जब सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में भारतीय ज्ञान-विज्ञान विकसित और विपुल था, तो उपनिवेशवादियों ने उसे किस आधार पर स्तरहीन और अनुपयोगी बता कर ख़ारिज किया। युरोप से आया हुआ

35. देखें, वेल्चरू नारायण राव और संजय सुब्रह्मण्यम (2009), 'नोट्स ऑन पॉलिटिकल थॉट इन मेडीवल ऐंड अर्ली मॉडर्न साउथ इंडिया', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, खण्ड 43, अंक 1 : 175-210।

36. देखें, वेल्चरू नारायण राव, डेविड शुलमैन और संजय सुब्रह्मण्यम (2003), *टेक्स्चर ऑफ़ टाइम : राइटिंग हिस्ट्री इन साउथ इंडिया* 1600-1800, अदर प्रेस, न्यूयॉर्क।

37. भरत, वात्स्यायन, अभिनव गुप्त, आनंदवर्धन, पाणिनि, कौटिल्य, भर्तृहरि आदि के योगदान पर विश्लेषणात्मक जानकारीपूर्ण लेखों के लिए देखें, राधावल्लभ त्रिपाठी की रचनाएँ जो *प्रतिमान समय समाज संस्कृति* के अंक दो से ग्यारह में प्रकाशित हुई हैं।

38. भारतीय ज्ञान-प्रणालियों पर 34 विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा गहन चर्चा के लिए देखें, कपिल कपूर और अवधेश कुमार सिंह (सं.) (2005), *इंडियन नॉलेज सिस्टम्ज़,* दो खण्ड, आईआईएएस-शिमला और डी.के. प्रिंट वर्ल्ड, नई दिल्ली। उच्च-माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के लिए राष्ट्रीय शैक्षिक और अनुसंधान परिषद ने इस सम्बन्ध में 2011 में एक पूरक पुस्तक प्रकाशित की है : *संस्कृत वांगमय में विज्ञान का इतिहास।*

बुद्धिवादी विज्ञान स्वयं को एक प्रणाली के रूप में ढालने के लिए कुछ पद्धतिमूलक सिद्धान्तों का कड़ाई से इस्तेमाल करता था। सुदीप्त कविराज पूछते हैं कि पश्चिमी संज्ञानात्मक प्रणालियाँ किसी भी तरह के वैज्ञानिक विचार की पुष्टि या खण्डन के लिए जिस पुष्टिकरण-प्रक्रिया पर निर्भर थीं, उसे भारत की पारम्परिक ज्ञान-विज्ञान प्रणालियों के खण्डन के लिए इस्तेमाल क्यों नहीं किया गया? लेकिन, उपनिवेशवादियों ने भारतीय ज्ञान-प्रणालियों को ख़ारिज करने से पहले उन्हें इस तरह की कसौटियों पर कसना मुनासिब नहीं समझा। कविराज अपने ही इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देते हैं :

> *क्या इस तरह का अस्वीकरण एक सच्चा 'वैज्ञानिक' अस्वीकरण कहा जा सकता है? क्या इन पारम्परिक विचारों को वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ अपना कर अयोग्य घोषित किया गया, या बिना इसके ही उन्हें कलंकित बता दिया गया। एक बुद्धिवादी ज्ञान-प्रणाली को अस्वीकरण की प्रक्रिया के एक स्वीकृत प्रारूप का पालन करना ही चाहिए था। यद्यपि पश्चिमी ज्ञान-प्रणाली के पास अस्वीकरण का एक साफ़तौर पर विकसित और व्यापक रूप से लागू कियाजा चुका मॉडल था, फिर भी उसे 'सत्य' प्रतीत होने वाली एक बड़ी ज्ञान-राशि को अस्वीकार करने के लिए कसौटी के तौर पर इस्तेमाल नहीं किया गया। ... ख़ारिज कर दिए जाने के बावजूद प्रपत्तियाँ विज्ञान के क्षेत्र में प्रपत्तियाँ ही रहती हैं ... लेकिन औपनिवेशिक सन्दर्भ में ऐसा नहीं हुआ। आयुर्वेदिक औषधि प्रणाली की प्रपत्तियाँ पुष्टिकरण की प्रक्रिया से गुज़ारे बिना मिथ्या कह कर ख़ारिज दी गईं। उन्हें थोक में ठुकरा दिया गया ... विचारधारात्मक आधार पर। ... यानी नए बुद्धिवादी विज्ञान ने अपने विरोधियों पर जो विजय प्राप्त की वह उसकी अपनी पद्धतिमूलक प्रक्रियाओं के ख़िलाफ़ जा कर की गई थी। उसे उन नियमों को तोड़ कर हासिल किया गया था जिन्हें उत्तम वैज्ञानिक आचरण के बुनियादी नियमों की तरह स्थापित किया गया था। ... ज्ञान-प्रणालियाँ लाज़िमी तौर पर सत्ता की प्रणालियों से जुड़ी होती हैं। सत्ता-प्रणालियों में होने वाले रूपान्तरणों के ज़रिए वे क़ायम होती हैं, और उन्हीं के कारण उनका रुतबा गिर जाता है। ... बौद्धिक दृष्टि से देखें तो इतने बड़े पैमाने पर संस्कृत की ज्ञान-प्रणालियों का अचानक ख़त्म होना किसी भी तरह से सामान्य मृत्यु की घटना नहीं कही जा सकती। यह मृत्यु कुछ उपकरणों के इस्तेमाल का नतीजा थी, और ये उपकरण ज्ञान की बेहतर तकनीकों के परिणाम नहीं थे, बल्कि सत्ता-प्रदत्त उपकरण थे।*[39]

यहाँ कविराज द्वारा रेखांकित किए गए एक और विश्लेषण का उल्लेख विषयानुकूल होगा। सत्ता के दम पर और विचारधारात्मक रवैए के आधार पर अंजाम दिया गया भारतीय ज्ञान-प्रणालियों का अस्वीकरण भिन्न-भिन्न तरीक़ों से औपनिवेशिक इतिहास ही नहीं, उसके प्रति की गई प्राच्यवादी और राष्ट्रवादी अनुक्रियाओं द्वारा भी सही ठहराया गया है। औपनिवेशिक सिद्धान्त ने युरोपियन संज्ञानात्मकता को बुद्धिवादी और भारतीय संज्ञानात्मकता को ग़ैर-बुद्धिवादी बता कर दोनों के बीच एक स्थूल और अकसर अनिवार्यतावादी क़िस्म का फ़र्क़ करते हुए भारतीय ज्ञान-प्रणालियों के पश्चिमी ज्ञान-प्रणालियों से प्रतिस्थापन को 'सभ्यताकारी प्रक्रिया' करार दिया। इसके विपरीत युरोपीय प्राच्यवादियों ने भारत को एक असभ्य समाज मानने की इस थीसिस का कड़ा प्रतिवाद करते हुए यह तो दिखाया कि संस्कृत की सार्वदेशिकता और भारतीय इस्लाम की भव्य संस्कृति के रूप में भारत के पास एक महान सभ्यतामूलक अतीत था, लेकिन इसी के साथ

39. देखें, सुदीप्त कविराज (2005), वही.

प्राच्यवादी और सामान्य राष्ट्रवादी इस बात पर सहमत भी हो गए कि संस्कृत-आधारित प्राचीन सभ्यता की उपलब्धियाँ पहली सहस्राब्दी तक सीमित रहीं, और उसके बाद भारत के बौद्धिक पतन का सिलसिला शुरू हो गया। अर्थात, उपनिवेशवादियों ने जो किया, उसे थोड़े हीले-हवाले के बाद प्राच्यवादियों और राष्ट्रवादी हलकों की तरफ़ से भी मान्यता मिल गई।

अभय कुमार दुबे वरिष्ठ पत्रकार एवं समाज विश्लेषक हैं। विगत दो दशक से विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी एस डी एस) दिल्ली में प्रोफ़ेसर हैं, भारतीय भाषा कार्यक्रम के निदेशक हैं एवं हिन्दी शोध पत्रिका *प्रतिमान* के सम्पादक हैं।
सम्पर्क : abhaydubey@csds.in

बच्चों पर शारीरिक दण्ड की समाजशास्त्रीय पड़ताल

कंचन शर्मा

पाठशाला के तीसरे अंक में हमने अनुशासन बनाए रखने के लिए दिए जाने वाले शारीरिक दण्ड के दार्शनिक और ऐतिहासिक पहलुओं की पड़ताल की थी। ख़ासतौर पर बच्चों को दिए जाने वाले शारीरिक दण्ड के गहरे समाजशास्त्रीय तर्क और आधार हैं। अब जबकि शिक्षा का अधिकार क़ानून (2009) किसी भी तरह के शारीरिक दण्ड को प्रतिबन्धित करता है, समाज में इसकी स्वीकार्यता एवं मान्यता को समझना रोचक विषय है। इस आलेख में स्कूल तंत्र के तीन प्रमुख आयाम अभिभावक, शिक्षक एवं विद्यार्थियों के नज़रिए से इसके व्यावहारिक पहलुओं को समझने की कोशिश की है। सं.

बच्चों पर होने वाली शारीरिक हिंसा की दार्शनिक व ऐतिहासिक जड़ों की तलाश इस पत्रिका के पूर्व अंक में की जा चुकी है। यह लेख उसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए बच्चों पर हो रहे शारीरिक दण्ड की समाजशास्त्रीय पड़ताल करता है। शोधकर्ता द्वारा अभिभावकों, छात्रों और शिक्षकों से साक्षात्कार व प्रश्नावली तकनीकी की मदद से उस व्यवहारात्मक पहलू को समझने का प्रयास किया गया है जो इस व्यवस्था को बनाए रखने में मदद करता है। समाजशास्त्रीय नज़रिए से बच्चों और वयस्कों के सम्बन्धों के रूप, अनुशासन व शिक्षा का अर्थ और 'बालक' की व्यवहारात्मक समझ महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

बच्चों पर शारीरिक दण्ड के समाजशास्त्रीय कारणों के तीन पहलू उभरते हैं। पहला, बालक[1]/ बच्चे की समझ क्या है (अवधारणात्मक व व्यवहारात्मक स्तर पर); दूसरा, शिक्षा व अनुशासन के स्वरूप व उपयोगिता के सम्बन्ध में अभिभावक व शिक्षक क्या विचार रखते हैं; तीसरा, शिक्षकों पर भरोसा और भय की संस्कृति की स्वीकार्यता का बरक़रार रहना। इस लेख में इन तीन पहलुओं पर चर्चा करते हुए इस जटिल समस्या की गहराई का पता लगाने का प्रयास करेंगे।

बालक कौन

समाज में 'बालक' को किस अर्थ में लिया जाता है? बालक-वयस्क सम्बन्ध इस समझ पर काफ़ी हद तक निर्भर करता है। इस समझ को निर्मित करने में संविधान की ज़्यादा मदद नहीं ली जा सकती क्योंकि संविधान में न केवल अलग-अलग स्थान पर बालक को अलग-अलग तरीक़े से परिभाषित किया गया है, बल्कि वह बालक की उस समझ को समझने में भी अपूर्ण है जो बालक के सन्दर्भों से निर्मित होती है। इसलिए हम इसे दो तरीक़ों से समझने का प्रयास करेंगे। पहला, संविधान क्या कहता है अर्थात क़ानूनी समझ क्या है। और दूसरा, समाज में व्यवहारगत क्या व्याप्त है। पहले तरीक़े का सहारा लें तो निकल कर आता है कि भारतीय बालक को अलग-अलग तरह से परिभाषित किया गया है जैसे– बाल विवाह निषेध क़ानून

1. यहाँ बालक किसी लिंग विशेष का पर्याय न होकर, इसका सम्बन्ध बच्चे से है जो लिंग-आधारित न होकर सभी को समाहित करता है।

एक लड़के को 21 वर्ष व एक लड़की को 18 वर्ष की आयु पूरी न होने तक बालक मान कर उनके विवाह का निषेध करता है। यहाँ पर भी एक लड़के व लड़की को बालक के रूप में देखने का निर्धारित स्तर अलग-अलग है। इसी प्रकार यदि खनन क़ानून पर चर्चा की जाए तो वह कहता है कि 18 वर्ष से कम आयु का कोई भी व्यक्ति किसी भी खनन कार्य में काम करने योग्य नहीं माना जाएगा। वहीं दूसरी ओर बाल मज़दूर प्रतिबन्ध क़ानून कहता है कि 14 वर्ष से कम आयु वाले व्यक्ति को बालक मान कर किसी भी कार्य में नहीं लगाया जाएगा।

जहाँ अनुच्छेद 45, 14 वर्ष तक के बच्चों की शिक्षा की बात करता है, वहीं अनुच्छेद 326, 18 वर्ष से अधिक उम्र के लोगों को मताधिकार देता है। मताधिकार से वंचित करने का मूल तर्क अपरिपक्वता है। ऐसी स्थिति में बचपन की जो अवधारणा बनती है उसकी सीमा 18 वर्ष तक जाती है परन्तु अनुच्छेद 45 मात्र 14 वर्ष तक के बालकों के सन्दर्भ में अपनी आवाज़ को बुलन्द करता है। इस प्रकार 'बालक' किसे कहा जाए? इसे लेकर अलग-अलग मत मौजूद हैं।

> बिष्ट के 'बालक कौन है' अध्ययन से यह निकल कर आया कि भारतीय समाज में वयस्कों की दृष्टि में बालक वह है, जो निरन्तर आवश्यकता, सहारा, मार्गदर्शन व सुरक्षा के लिए अध्यापकों व अभिभावकों पर निर्भर रहता है, और एक वयस्क वह है, जो बालकों को यह सब उपलब्ध कराता है।

निष्कर्ष के तौर पर निकल कर आता है कि राज्य अपनी सहूलियत व उपयोगिता के अनुसार बालक को अलग-अलग तरीक़े से परिभाषित करता है। एक बालक काम करने के लिए तो 14 वर्ष के पश्चात वयस्क बन जाता है परन्तु मताधिकार के लिए इसे बालक ही माना जाता है। चूँकि खनन प्रक्रिया में भारी कार्य करना होता है जिसके लिए आवश्यक शारीरिक क्षमता ज़रूरी है अत: खनन प्रक्रिया में कार्य करने के लिए उसकी आयु 18 वर्ष होना आवश्यक है। लेकिन शिक्षा का अधिकार 6 से 14 वर्ष की आयु तक ही सीमित कर दिया जाता है। इस प्रकार के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय संविधान में बहुत ही चालाकी से बालक को परिभाषित किया गया है जो न केवल राज्य के दोहरेपन को प्रकट करता है बल्कि 'बच्चे' की परिभाषा व समझ के विवाद को भी बढ़ावा देता है।[2]

वहीं दूसरी ओर, कई ऐसे शोध हैं जो इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयास करते हैं। मसलन, बिष्ट (2008) द्वारा 'बालक कौन है' नामक शोध द्वारा वयस्क दृष्टिकोण से बालक को समझा गया। इस अध्ययन से यह निकल कर आया कि भारतीय समाज में वयस्कों की दृष्टि में बालक वह है, जो निरन्तर आवश्यकता, सहारा, मार्गदर्शन व सुरक्षा के लिए अध्यापकों व अभिभावकों पर निर्भर रहता है, और एक वयस्क वह है, जो बालकों को यह सब उपलब्ध कराता है। शोध में कुछ वयस्कों के द्वारा कहा गया, "हम भारतीय परिवार के रूप में बालक को कभी उसकी मनमर्ज़ी नहीं चलाने देते, हमारे अपने कुछ मूल्य हैं, जिन्हें हम अपने बच्चों से पालन करवाना चाहते हैं... चाहे बल प्रयोग से ही।"[3]

यह अध्ययन हमारी पड़ताल के दूसरे आयाम पर हमें ले जाता है अर्थात भारतीय समाज में बच्चे और वयस्क के सम्बन्ध किस रूप में हैं। ये अध्ययन साफ़तौर पर बताते हैं कि यहाँ वयस्क को भरण-पोषण करने वाला और

2. शर्मा, कंचन (2014), 'आख़िर बालक कौन ? क़ानूनी उलझनें और बच्चों का भविष्य', *शिक्षा विमर्श*, वर्ष 16, अंक 6.

3. Bisht, R (2008), 'Who is A Child?: The Adults' Perspective within Adult–Child Relationship in India' *Interpersona*, Vol. 2, No. 2.

बच्चे को ग्रहण करने वाला (receiver) समझा जाता है। इसी अध्ययन की भाँति रमन (2008) भी अपने अध्ययन में वयस्क और बच्चे के सम्बन्ध में दो मुख्य केन्द्रीय विशेषताएँ पाते हैं : कर्तव्य व उत्तरदायित्व। वे कहते हैं, "परम्परागत रूप से बालकों को निर्णय लेने सम्बन्धी मामलों में वयस्कों पर निर्भर माना जाता है। वयस्कों के लिए भी बालक का पालन-पोषण एक ज़िम्मेदारी के रूप में देखा जाता है और ये माना जाता है कि ये ज़िम्मेदारी तभी ख़त्म होती है जब बच्चे का विवाह हो जाता है। बच्चे और वयस्क का सम्बन्ध ज़िम्मेदारी से आरम्भ होकर नियंत्रण का रूप धारण कर लेता है।"[4] हालाँकि इस सुरक्षा के भाव का उदय प्यार से माना जा सकता है परन्तु जिस रूप में बड़े स्तर पर भारतीय वयस्क इस भूमिका को निभाते हैं वो आधिकारिक उपागम पर होता है।

शोधकर्ता द्वारा अपने अध्ययन में भी वयस्कों से बात करने के दौरान यह पाया गया कि वयस्क बच्चों को एक आधिकारिक ज़िम्मेदारी के तौर पर लेते हैं और ये रूप बच्चों को गौण स्थान देता है। अभिभावकों से हुए साक्षात्कार से यह पहलू स्पष्ट तौर पर निकल कर आया कि अभिभावकों के विचार में 'डर पैदा करने की भावना' एक आवश्यक पहलू है। अभिभावकों की समझ में बालकों की शैक्षिक प्रगति व अनुचित व्यवहार में सुधार के लिए विद्यालयों में दण्ड का भय होना ज़रूरी है। कुछ अभिभावकों ने कहा कि उन्हें भी बालपन में इसी प्रकार से रहना सिखाया गया था, क्योंकि बचपन में हम इतने समझदार नहीं होते कि सभी बातों को समझ पाएँ। अतः हमारे भले के लिए ही बड़े हम पर सख़्ती करते हैं, जिससे हम भविष्य में सफल रहते हैं। एक अभिभावक ने शारीरिक दण्ड को करेले की संज्ञा देते हुए कहा कि करेला जब खाते हैं, वह कसेला लगता है परन्तु स्वास्थ्य की दृष्टि से वह काफ़ी बेहतर है। ऐसे ही कुछ अन्य कथनों को बॉक्स-1 में शामिल किया गया है।

बॉक्स-1

"बिना डर के कभी कोई काम नहीं होता, चाहे पढ़ाई का हो या ज़िन्दगी का कोई भी काम हो।"

"सजा मिलनी ठीक है, यह ज़रूरी होता है तभी बच्चे सुधरेंगे।"

"स्कूल में सख़्ती होना बहुत ज़रूरी है, बच्चे स्कूल से भागते हैं, पढ़ाई नहीं करते हैं... टीचर इन सब बातों का ध्यान रखें, इन्हें ग़लतियों पर मारें व सख़्त व्यवहार करें... तो ये तो बढ़िया ही है... जब स्कूल में सख़्ती होगी तभी तो पढ़ाई सही होगी।"

"करेला जब खाते हैं वह कसेला लगता है परन्तु स्वास्थ्य की दृष्टि से उससे बेहतर कुछ नहीं है।"

"अगर सज़ा पूरी तरह ख़त्म कर दी जाए तो वो बच्चे जो मार से ही मानते हैं, वो तो पूरी तरह बरबाद हो जाएँगे... तो स्कूल में डर बहुत ज़रूरी है।"

"पहले प्यार से समझाओ, अगर नहीं माने तो छड़ी उठाओ, अगर तब कर लेता है तो इसका मतलब उसे छड़ी का डर है, इस डर से यदि बालक पढ़ने लगे तो ये तो उसके लिए ही अच्छा है... बच्चों के लिए डर बहुत ज़रूरी होता है... घर पर माता-पिता का डर और स्कूल में टीचर का डर।"

स्रोत : अभिभावकों से लिया गया साक्षात्कार

अनुशासन की समझ

इसी के साथ जो दूसरा पहलू निकल कर आता है वह है, अनुशासन। जीवन जीने के तरीक़े को समाज का वयस्क किस अर्थ में ग्रहण करता है और अपने बच्चों से किस प्रकार की

4. Raman, V (2000), 'Politics of Childhood: Perspectives from the South', Economic and Political Weekly, Vol. 35, No. 46, pp. 4055–4064.

अपेक्षा रखता है, इसे हम बॉक्स-2 की मदद से समझ सकते हैं।

बॉक्स-2

> "अनुशासन का मतलब प्यार नहीं होता... कुत्ते की दुम सौ साल नली में रखो तब भी सीधी नहीं होती पर डण्डा दिखाओ तो सीधी... अत: अनुशासन के लिए दण्ड ज़रूरी है।"
>
> "अनुशासन का मतलब है बच्चे टीचर की बात मानें, सब काम समय पर करें, बड़ों का सम्मान करें, और पढ़ाई के साथ-साथ अच्छी बातें सीखें।"
>
> "स्कूल में अनुशासन तब आता है जब घर से ही माँ-बाप उन्हें ये सिखाएँ... हमारी माँ इतनी सख़्त थीं कि स्कूल में कभी कुछ ग़लत करने से पहले यह सोच कर डर लगता था कि घर पर पता चल गया तो क्या होगा।"
>
> स्रोत : शिक्षकों और अभिभावकों से लिया गया साक्षात्कार

इस पहलू के साथ जो एक अन्य जड़ जुड़ती है वह है स्कूली अनुशासन और शिक्षा व डर का आपसी सम्बन्ध। इस पर चर्चा करते हुए सुवासिनी अय्यर (2013) अपने अध्ययन की तर्ज़ पर बताती हैं कि स्कूली अनुशासन को प्रायः अधिगम के साथ जोड़ दिया जाता है। उनके शोध में यह पाया गया कि अध्यापकों द्वारा अनुशासन बनाए रखने के लिए शारीरिक दण्ड देने से लेकर अच्छे बच्चे और गन्दे बच्चे का लेबल दिया जाना सामान्यतः प्रयोग में लाया जाता था। अध्यापकों द्वारा गन्दे बच्चे का लेबल उन बच्चों को दिया जाता था जो टेस्ट में कम नम्बर लाते थे। शिक्षकों द्वारा छात्रों को थप्पड़ मारना, मुर्ग़ा बनाना, अच्छे बच्चे-गन्दे बच्चे का लेबल देना और उनके लिए मूर्ख, नालायक जैसे शब्दों का प्रयोग साधारण घटना है। अध्यापकों के लिए अच्छे बच्चे वे हैं, जो समय पर काम करें और शान्त बैठें। विद्यालय में बच्चों को अनुशासित करने के लिए 'अच्छे बच्चे कैसे... ऐसे, मुँह पर उँगली कैसे... ऐसे' नामक एक संस्कृति प्रयोग प्रतिदिन किया जाता था।[5] वह अपने शोध में यह पाती हैं कि अनुशासन, दण्ड और पढ़ाई (लर्निंग) का आपस में अटूट सम्बन्ध है। सामान्यतः विद्यालय में यह विश्वास किया जाता है कि लर्निंग एक शान्त गतिविधि है। छात्रों से यह उम्मीद की जाती थी कि शिक्षक द्वारा पढ़ाते समय वे शान्त व एक सही तरीक़े से बैठें। और यही अनुशासन का प्राय बना दिया जाता है।

अभिभावकों का अटूट विश्वास

अभिभावकों से हुए साक्षात्कार से एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू जो उभर कर सामने आया, वह यह कि अभिभावकों की शिक्षकों के प्रति अटूट श्रद्धा है। और वे मानते हैं कि विद्यालय में बालक के ग़लत व्यवहार के लिए यदि कोई शिक्षक सख़्ती करते हैं या दण्ड देते हैं तो इसमें उन्हीं के बच्चों की कोई कमी रही होगी। इस प्रकार के विचार को मज़बूती कहाँ से मिलती है, इसपर चर्चा करते हुए राजपूत व वालिया (2001) कहते हैं, "गुरु को भारतीय दर्शन / शास्त्रों में उच्च स्थान की स्वीकृति है व समाज में शक्ति के विभाजन में गुरु को उच्च स्थान देना ही गुरु के द्वारा शारीरिक दण्ड के प्रयोग को मान्य बना देता है।"[6] अध्ययन न्यादर्श में शामिल सभी अभिभावकों का यह मानना है कि शिक्षक यदि बालक को दण्ड देता है तो वह उसी के भले के लिए होता है। इसमें शिक्षक का अपना निजी हित या बालक से निजी दुश्मनी का पहलू नहीं होता, बल्कि शिक्षक यह सब बालक द्वारा भविष्य में होने वाली या करने

5. Iyer, S (n.d.), 'An Ethnographic Study of Disciplinary and Pedagogic Practices in a Primary Class' (2013), *Journal of Interdisciplinary Economics*, SAGE Publications, Contemporary Education Dialogue, 10(2) pp 163–195.

6. Rajput, J S, & Walia, K (2001), 'Reforms in Teacher Education in India', *Journal of Educational Change*, Vol. 2, No. 3, pp 239–256.

वाली ग़लतियों को रोकने के लिए करता है। इन विचारों की अभिव्यक्ति की कुछ झलकियाँ बॉक्स-3 में प्रदर्शित की गई हैं।

बॉक्स–3

"बच्चों की जब ग़लती होती है तब ही तो टीचर मारते हैं, वो भी इनके भले के लिए... टीचर बच्चों का दुश्मन तो नहीं है।"

"टीचर बच्चों के दुश्मन नहीं होते, जो बिना बात पर मारने लगें... घर में बच्चों को सँभालना आसान है पर एक टीचर की सोचो, जो इतने सारे बच्चों को 6-8 घण्टे के लिए सँभालते हैं।"

"कोई भी टीचर यह नहीं सोचता कि उनका बालक ग़लत दिशा में जाए... उनके भले के लिए ही टीचर मारते हैं।"

"कोई टीचर कभी भी बच्चे के ग़लत के लिए नहीं मारता, उनके भले के लिए करते हैं वो ये... उनके दुश्मन नहीं हैं वो। बच्चे अगर स्कूल से भाग जाएँगे, पढ़ाई नहीं करेंगे, लड़ाई करेंगे तो टीचर क्या करेगा।"

स्रोत : अभिभावकों से लिया गया साक्षात्कार

अभिभावकों की सहमति

छात्रों की भाँति अभिभावकों से भी यह पूछा गया कि शिक्षक-अभिभावक बैठकों में जाकर वे क्या करते हैं, क्या कहते हैं? साक्षात्कार में शामिल किए गए दस अभिभावकों में से नौ ने कहा कि वे जब भी विद्यालय जाते हैं तो बालक की शैक्षिक प्रगति के बारे में पूछने के साथ-साथ अध्यापक को यह भी बोल कर आते हैं कि किसी भी तरह की अनुशासनहीनता करने पर और पढ़ाई में मन न लगाकर पढ़ने पर वे बिना देरी किए सज़ा देने में नरमी न करें। कुछ का कहना था कि ऐसे सम्मेलन होना बहुत ज़रूरी है क्योंकि इसके द्वारा हमें हमारे बच्चों की ग़लतियों का पता चलता रहता है, और बच्चे में भी डर बना रहता है कि कुछ भी ग़लत करने पर हमारे माँ-बाप को इसकी जानकारी मिल जाएगी। वहीं कुछ ने कहा कि चूँकि हमारे बालक हमसे नहीं डरते इसलिए हम जब स्कूल जाते हैं, तब हम उनकी सारी शिकायत अध्यापक को बताते हैं। बच्चे अध्यापक के डर से घर पर भी अनुशासन में रहते हैं और सारी बात मानते हैं। यहाँ एक अन्य बिन्दु जो उजागर करने योग्य है वह यह कि जिन अभिभावकों से साक्षात्कार किया गया उनमें से अधिकतर अभिभावकों के बच्चे सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले और निम्न परिवारों के थे। ऐसी स्थिति में बढ़ती प्रतियोगिता के कारण बालक पीछे न रह जाए, ये भावना अभिभावकों को यह निर्णय लेने पर मज़बूर करती है कि यदि बालक डाँट-मार से भविष्य में कुछ बन जाता है, तो मार ही ठीक है। अतः इस सन्दर्भ में भी इस समस्या को समझना ज़रूरी है कि कैसे भविष्य निर्माण को लेकर होने वाली असुरक्षा व प्रतियोगिता भी इस समस्या में निहित है।

नेविने (2012) का अध्ययन भी बताता है कि "अभिभावकों का अटूट विश्वास परम्परागत दण्ड मान्यताओं पर है। इन मान्यताओं के अनुसार शारीरिक दण्ड छात्रों के अधिगम स्तर में सुधार, सुधारात्मक व्यवहार के लिए और कक्षा में शिक्षकों की सम्माननीय स्थिति को बनाए रखने में मददगार है।" इसी तरह इस अध्ययन से भी यह निकल कर आया कि अभिभावक अपने बालकों के व्यवहार व अधिगम स्तर में सुधार के लिए दण्ड को आवश्यक मानते हैं।[7]

पूनम बत्रा (2009) इस समस्या की जड़ों को वयस्कों की अनुमति में देखते हुए कहती हैं कि शारीरिक दण्ड को एक सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ के तौर पर देखने की आवश्यकता है। वयस्क व बालक के मध्य असमान शक्ति सम्बन्ध के कारण यह समस्या प्रतिदिन कक्षा की

7. Gerald, N K, Augustine, M K, & Ogetange, T B (2012), 'Teachers and Pupils Views on Persistent Use of Corporal Punishment in Managing Discipline in Primary Schools in Starehe Division, Kenya', *International Journal of Humanities and Social Science,* Vol. 2, No. 19, pp. 268–274.

एक संस्कृति के रूप में उभरती है। अधिकतर विद्यालयों में बालक व शिक्षक के सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक स्तर में अन्तर इस समस्या के केन्द्र में है। अलग-अलग पृष्ठभूमि से आने वाले बालकों के सन्दर्भों को शिक्षक नहीं समझ पाते व साथ ही अधिकतर शिक्षक और प्रशिक्षण संस्थान चुप्पी (मौन) को ही प्रभावी कक्षा का पर्याय मानते हैं।[8] अतः इस समस्या को मिलने वाले सांस्कृतिक अनुमोदन के सन्दर्भ में समझना आवश्यक है। बॉक्स-4 व 4.1 में कुछ अभिभावकों व बच्चों के बयानों को प्रस्तुत किया गया है।

बॉक्स-4

"मैं जब स्कूल जाती हूँ तो सख़्ती करने के लिए बोल कर आती हूँ क्योंकि एक टीचर भी एक माँ की ही तरह बच्चों का अच्छा-भला सब जानते-समझते हैं, और जानते हैं कि कौन-सा बालक कैसा है।"

"मैं जब स्कूल जाती हूँ तो बोल कर आती हूँ कि मैडम एक बार प्यार से समझाओ, अगर न माने तो मारने में नरमी मत करना।"

"मैं जब स्कूल जाती हूँ तो सब शिकायत बता कर आती हूँ इनकी... मैं तो बोल कर आती हूँ कि अगर कहना न माने, पढ़ाई ना करे तो सख़्ती करना।"

"हम पहले पूछते हैं कि पढ़ाई कैसी चल रही है। सब ठीक चलता है तो ठीक, अगर नहीं तो बोल कर आता हूँ सर को, कि ठीक न पढ़े-लिखे तो पकड़ कर हड्डी तोड़ दो।"

स्रोत : अभिभावकों से लिया गया साक्षात्कार

बॉक्स-4.1

"बच्चों के मम्मी-पापा ख़ुद आकर बोलते हैं मारने को। मेरे पापा ने भी मुझे इस स्कूल में इसीलिए डाला क्योंकि इसमें बहुत सख़्ती है।"

"पीटीएम वाले दिन जो बच्चे अच्छे होते हैं मैडम उन्हें अच्छा बोलती हैं, जो शैतान बच्चे हैं, उन्हें गन्दा बोलती हैं, उनकी अच्छाई नहीं देखतीं बस शिकायत करती हैं।"

स्रोत : बच्चों से हुई बातचीत

दण्ड का आत्मसातीकरण

किसी भी दमनात्मक शक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह जिसका शोषण कर रही हो, उसे स्वीकृति प्रदान करता रहे। इसके लिए यह आवश्यक है कि शोषित हो रहे लोग इस बात का आत्मसातीकरण करें कि यह व्यवस्था उनके भले के लिए है।[9] इस विचार को जब स्कूली दण्ड व्यवस्था में ढूँढ़ा गया तो यह उभर कर आया कि बच्चों ने दण्ड व्यवस्था को अपने मन-मस्तिष्क में गहरे से आत्मसात कर लिया है जैसे– जब छात्र-छात्राओं से पूछा गया कि "क्या विद्यालय में दण्ड दिया जाना ठीक है?" तो कुछ छात्र-छात्राओं का कहना था कि "हाँ, दण्ड देना ठीक है।" इसे ज़रूरी बताए जाने के कारणों पर जब चर्चा की गई तो उनका ये मानना था कि शिक्षक यह सब उन्हीं के भले (ताकि वे पढ़ाई में अच्छे हों और अच्छी बातें सीखें) के लिए करते हैं।

यदि टीचर ऐसा न करे तो स्कूल बिगड़ जाएगा व बच्चे पढ़ाई नहीं करेंगे। कुछ ने कहा कि "टीचर तब ही मारते हैं जब हम लोग कोई ग़लती करते हैं... ग़लती करने पर पिटाई होना तो ठीक है।" कुछ ने दण्ड को अपने विद्यालयी अनुभव की सामान्य परिघटना कहा जिसमें उन्हें कुछ ग़लत नज़र नहीं आता। जैसे– गिजुभाई (2006) अपने स्कूली अनुभवों में से एक अनुभव में बताते हैं कि जब वे अपनी कक्षा के बालकों

8. Batra, Poonam (2009), 'Teachers and Corporal Punishment', *Eliminating Corporal Punishment in Schools*, NCPCR, New Delhi.

9. अल्थूजर, ग्रामसी, कमला भसीन आदि के लेखन में इस प्रकार के विवरण देखने को मिलते हैं।

से दण्ड दिए जाने पर चर्चा करते हैं तो बालक अध्यापक द्वारा बालकों की पिटाई करने को सही बताते हुए कहते हैं, "सबक़ तो याद होना ही चाहिए, न होगा तो मास्टर और क्या करेंगे? सज़ा ही देंगे। वह और कर ही क्या सकते हैं!"[10] इस प्रकार यहाँ यह देखा जा सकता है कि दण्ड व्यवस्था को स्वयं बालक ही वैधता दे रहा है, जिसके कारण यह समस्या और अधिक गम्भीर रूप धारण कर लेती है। बॉक्स 4.1 में कुछ छात्र-छात्राओं के विचारों को उन्हीं की भाषा में लिखा गया है, जिसके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि विद्यालयों में शारीरिक दण्ड की जड़ें बालमन पर गहरे से आत्मसात हैं (देखें बॉक्स-5)।

बॉक्स–5

"स्कूल में ज़्यादा मारना नहीं चाहिए पर थोड़ी-बहुत सज़ा देनी चाहिए ताकि बच्चे काम करें, बच्चे फिर डर कर काम करके लाते हैं।"

"स्कूल में नॉर्मल सज़ा मिलती है, मतलब थोड़ी-बहुत मारते हैं ज़्यादा नहीं, डाँटते हैं थोड़ा-बहुत और हाथ खड़ा करवा देते हैं।"

"जब ग़लती करते हैं तब मारते हैं, ऐसा करना ठीक है क्योंकि स्कूल बिगड़ा हुआ है, बच्चे भाग जाते हैं घर, तो मारना ज़रूरी है।"

"जब बच्चे भागते हैं, शोर करते हैं या यूनिफ़ॉर्म पूरी नहीं पहन कर आते तब ही सरजी मारते हैं, बिना बात पर कुछ नहीं कहते। सरजी ठीक करते हैं, नहीं तो बच्चे बात नहीं मानेंगे।"

स्रोत : बच्चों से हुई बातचीत

निष्कर्ष

क्षेत्र अध्ययन में हुई बातचीत को मद्देनज़र रखने के साथ-साथ हमें फूको के उन विचारों को भी समझना आवश्यक है जहाँ वे अनुशासन की उपस्थिति पर ही प्रश्न चिह्न लगाते हैं। फूको (1979) अपनी पुस्तक *अनुशासन व दण्ड* में विचार करते हैं कि आख़िर लोग अपराध क्यों करते हैं? इसपर विचार करते हुए वे कहते हैं कि निम्न सामाजिक स्तर के लोग अपराध करते हैं, अपराध के द्वारा वे सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाना चाहते हैं तथा सामाजिक रूप से उच्च वर्ग का विरोध प्रदर्शित करना चाहते हैं। इस सन्दर्भ में अनुशासन अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका में आ जाता है। फूको कहते हैं कि लगातार निरीक्षण एवं बलपूर्वक अनुशासन अपराधियों की इच्छाशक्ति को तोड़ देता है, उन्हें प्राणहीन शरीर के रूप में ढाल देता है, क्योंकि प्रशासकों के लिए इन प्राणहीन शरीरों को नियंत्रित करना सरल प्रतीत होता है। फूको के अनुसार अनुशासन शारीरिक गतिविधियों को नियंत्रित करने का एक तरीक़ा है। यह एक प्रकार की शक्ति है। और अनुशासन ही एकमात्र ऐसा तरीक़ा है, जिसके द्वारा इस नियंत्रण को सम्भव बनाया जा सकता है।

फूको के इन विचारों के अनुकूल जब स्कूली व्यवस्था को समझने का प्रयास किया जाता है तो सम्पूर्ण स्कूली प्रक्रिया में शिक्षक शक्तिशाली अवस्था में और बालक ऐसी स्थिति में नज़र आता है, जहाँ मात्र उसे निश्चित नियमों का पालन कर अपने व्यवहार को नियंत्रित करना होता है। एक शिक्षक के द्वारा बालक को अज्ञानी व स्वयं को ज्ञानी समझना, माता-पिता द्वारा बच्चों के अच्छा प्रदर्शन करने को शिक्षा का पर्याय मान लेना, स्कूली शिक्षा को अनुशासन का काल बना देना, और बच्चों द्वारा इस पूरी व्यवस्था को आत्मसात कर लेने की प्रक्रिया इस समस्या को मज़बूती प्रदान करती है। समाज में बड़े (लिंग, उम्र, जाति, वर्ग, नस्ल इत्यादि के आधार पर) और छोटे के मध्य का पदानुक्रम और बड़े की प्राधिकारी शक्ति को स्वीकार कर चुनौती ना देने की प्रवृत्ति समाज का वह पहलू है जो अलग-अलग स्थान पर हिंसा के रूप में प्रकट होता है। जैसे– कभी बच्चों पर शारीरिक दण्ड के रूप में, कभी दलितों को मार डालने की घटना के रूप में, तो कभी घरेलू हिंसा जैसी घटना के रूप में।

10. गिजुभाई (2006), *दिवा स्वप्न*, अनुवादित : काशीनाथ त्रिवेदी, नई दिल्ली : ग्रन्थमाला–1

सन्दर्भ

Batra, Poonam (2009), *'Teachers and Corporal Punishment'*, *Eliminating Corporal Punishment in Schools*, NCPCR, New Delhi

Bisht, R. (2008), 'Who is A Child?: The Adults' Perspective within Adult–Child Relationship in India'. *Interpersona,* Vol. 2, No. 2

Gerald, N K, Augustine, M K, & Ogetange, T B (2012), 'Teachers and Pupils Views on Persistent Use of Corporal Punishment in Managing Discipline in Primary Schools in Starehe Division, Kenya', *International Journal of Humanities and Social Science*, Vol. 2, No. 19, pp. 268–274

Rajput, J S, & Walia, K (2001), 'Reforms in Teacher Education in India', *Journal of Educational Change*, Vol. 2, No. 3, pp. 239–256

Raman, V (2000), 'Politics of Childhood: Perspectives from the South', *Economic and Political Weekly*, Vol. 35, No. 46, pp. 4055–4064.

Iyer, S (n.d.), 'An Ethnographic Study of Disciplinary and Pedagogic Practices in a Primary Class' (2013), *Journal of Interdisciplinary Economics,* SAGE Publications, Contemporary Education Dialogue, 10(2) pp. 163–195

गिजुभाई (2006), *दिवा स्वप्न,* अनुवादित : काशीनाथ त्रिवेदी, नई दिल्ली : ग्रन्थमाला–1

फूको, शक्ति की अवधारणा, लेखक : नाथन विदर, शोधार्थी 9 : 2010(1), नई दिल्ली : विकासशील समाज अध्ययन पीठ (CSDS), pp. 36–41।

अल्थूजर, ग्रामसी, कमला भसीन आदि के लेखन में इस प्रकार के विवरण देखने को मिलते हैं।

शर्मा, कंचन (2014), 'आख़िर बालक कौन ? क़ानूनी उलझनें और बच्चों का भविष्य', *शिक्षा विमर्श*, वर्ष 16, अंक 6।

कंचन शर्मा दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग की शोधार्थी हैं व लेखन कार्य से जुड़ी हैं ।
सम्पर्क : kanchansharmacei@gmail.com

अलग-अलग मिज़ाज की किताबें उर्फ़ विधाओं की विधा

प्रभात

साहित्य समाज का दर्पण है, साहित्य के बिना सभ्यता का अर्थ नहीं, साहित्य मानव मात्र की अभिलाषा, जिजीविषा का प्रतिबिम्ब है, वग़ैरह बातें आमतौर पर कही-सुनी या लिखी-पढ़ी जाती हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि पूरा समाज साहित्यहीनता की जकड़ में है।

स्कूलों के स्तर पर शुरू होने वाली साहित्य की यह उपेक्षा ताउम्र बनी रही आती है। स्कूल और पुस्तकालय जो इस दिशा में सचमुच कोई बदलावकारी काम कर सकते थे उनपर नज़र डालें तो वहाँ उजाड़ ही दिखाई देता है। बड़ों के साहित्य में फिर भी थोड़ी बहुत हलचल है पर बाल साहित्य के नाम पर अभी भी हमारा हाथ और दिल तंग ही है। साहित्यहीनता की इस चिन्ता में लेखन, प्रकाशन और रुचियों सहित, साहित्य की विधाओं की पड़ताल करता प्रभात का यह लेख। सं.

लगभग बीस साल पहले प्रोफेसर कृष्ण कुमार ने लिखा था, "साक्षर समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा आज साहित्य के सम्पर्क के बग़ैर जी रहा है। और यह भी कोई नहीं कह सकता कि इस हिस्से के सदस्य किसी मौखिक परम्परा से जुड़े हैं। साहित्य जिनकी ज़रूरत है, है और ऐसे लोग बहुत थोड़े हैं। शेष में इस बात का भी अहसास नहीं है कि वे वंचित हैं, न ही वे अपरिचय के बावजूद साहित्य के सम्मानी हैं। साहित्य एक सिमटी हुई दुनिया का रस है और जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है, यह दुनिया और सिमट रही है, जो कि लाज़िमी है क्योंकि साहित्यहीनता की दुनिया फैल रही है।"



'साहित्य एक सिमटी हुई दुनिया का रस है।' यह आज भी उतनी ही बड़ी वास्तविकता है बल्कि अब तो यह और तीव्रता से महसूस होता है कि 'साहित्यहीनता की दुनिया फैल रही है।'

स्कूल और पुस्तकालय, दो ऐसी आधुनिक व्यवस्थाएँ हैं जो साहित्यहीनता के उजाड़ से जूझने में मददगार हो सकती हैं। पुस्तकालयों में बाल साहित्य की विधाओं की बहुलता को बढ़ाना और स्कूलों में बाल साहित्य के लिए जगह बनाना कारगर क़दम साबित हो सकते हैं।

हमारे यहाँ हिन्दी में बड़ों के साहित्य में अलग-अलग विधाओं में जितना काम हुआ है,





बच्चों के साहित्य में भी उतना ही खोजेंगे तो वह नहीं मिलेगा। हिन्दी में बच्चों के लिए लेखन को उतनी गम्भीरता से नहीं लिया गया। कविता की तो फिर भी एक परम्परा हिन्दी में दिखाई देती है लेकिन कहानी में वैसी स्थिति नहीं है। नाटक में भी नहीं। यूँ छापने को प्रकाशकों ने अपना उद्योग चलाने के लिए कूड़ा-करकट बहुत छापा है, लेकिन जिसे बच्चों के लिए साहित्य के रूप में सहेजना चाहें वैसा कम ही देखने में आता है। उपन्यास की ही बात करें तो हिन्दी में *एक डर पाँच निडर, अनारको के आठ दिन, नाचघर* जैसे दो-तीन उदाहरण और याद आ सकते हैं। पत्र विधा में *पिता के पत्र पुत्री के नाम* के बाद कोई किताब याद नहीं आती। अगर बच्चों के लिए संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा, रिपोर्ताज, यात्रा वृत्तान्त इत्यादि विधाओं की कुछ अच्छी किताबें खोजने निकलेंगे तो बहुत आशा नहीं बँधेगी। लेकिन अगर हम बच्चों में साहित्य के प्रति रुझान विकसित करना चाहते हैं, उन्हें साहित्य में रस लेना सिखाना चाहते हैं और उन्हें ऐसे पाठक के तौर पर बढ़ते हुए देखना चाहते हैं जो पुस्तकालय में अपनी ज़रूरत और सुरुचि के अनुरूप किताबें खोज-खोज कर पढ़ें, तो हमें उन्हें साहित्य का एक समृद्ध संसार देना ही होगा। हम देखते ही हैं कि किसी बच्चे की विज्ञान में गहरी रुचि होती है लेकिन साहित्य में नहीं होती। किसी की गणित में ज़्यादा रुचि होती है लेकिन संगीत में नहीं। किसी की साहित्य में तो गहरी रुचि होती है लेकिन दस्तकारी में बिलकुल नहीं होती। वहीं किसी की साहित्य, संगीत, विज्ञान, चित्रकला, सिनेमा इत्यादि सबमें रुचि हो सकती है। बच्चों की रुचियाँ बदलती भी रहती हैं। ऐसे में अलग-अलग मिज़ाज वाले बच्चों के लिए हम पुस्तकालय संग्रह में अलग-अलग मिज़ाज की सुरुचिपूर्ण किताबें रख सकें तभी हम कह सकेंगे कि किताबों की एक समृद्ध दुनिया हम बच्चों को दे पा रहे हैं। फिलहाल हिन्दी पट्टी के पुस्तकालयों की समस्या यही है कि बच्चों की रुचियों का क्षेत्र जितना विस्तृत है या हो सकता है उसकी तुलना में बच्चों के

लिए किताबों की विषयवस्तु का क्षेत्र बहुत ही सीमित है। हमारे यहाँ बच्चों के लिए जीवनियों, आत्मकथाओं, इतिहास, संगीत, चित्रकला, पर्यावरण, सिनेमा आदि अनेकानेक विषयों पर उम्दा किताबों का ख़ासा अभाव है। इस अभाव को लेखकों की बच्चों के लिए लिखने की इच्छाशक्ति और प्रकाशकों का दृष्टिपूर्ण रवैया काफ़ी हद तक दूर कर सकता है। बीते दशक में बच्चों के लिए छपी किताबों पर एक नज़र डालें तो लगता है कि कुछ बेहतर शुरुआत हुई तो है।

लेखन और प्रकाशन के स्तर पर पुस्तकालय संग्रह को समृद्ध बनाने की दिशा में जितना काम करने की ज़रूरत है, उतनी ही ज़रूरत किताबों में बच्चों की रुचि के निर्माण की भी है। बच्चों के लिए केवल किताबें उपलब्ध करा देना भर पर्याप्त नहीं है। ठीक वैसे ही जैसे हिन्दी भाषा की पाठ्यपुस्तक के रूप में एनसीईआरटी की *रिमझिम* जैसी ऐतिहासिक रूप से बेहतरीन पाठ्यपुस्तक उपलब्ध करवा देना भर पर्याप्त नहीं है। उसपर उतने ही सुरुचिपूर्ण ढंग से पठन-पाठन का काम करवाने में समर्थ भाषा रसिक शिक्षकों की भी ज़रूरत होगी, ऐसे ही पुस्तकालय की किताबों में रुचि का विकास करने के लिए किताबों में गहरी रुचि रखने वाले और किताबों की दुनिया को उम्मीद से देखने वाले लाइब्रेरियनों की भी ज़रूरत होगी।

जब शिक्षकों और लाइब्रेरियनों में अलग-अलग मिज़ाज की किताबों के प्रति सजगता होगी तभी वे बच्चों को संग्रह की इस विविधता के आस्वाद के बारे में कुछ बता सकेंगे और इससे सम्बन्धित कुछ गतिविधियाँ भी सोच सकेंगे। इसी ख़्याल से एक अवसर पर हमने शिक्षिकाओं के एक समूह के साथ विधाओं की समझ के लिए काम किया। हमने बोर्ड पर विधाओं का वर्गीकरण करते हुए एक ख़ाका खींचा—

साहित्य की मौखिक धारा की इतनी कम चर्चा होती है कि लगता है जैसे यह प्राचीन काल की कोई बात है, लेकिन वास्तव में यह सच नहीं है। कृषि युग में फली-फूली यह धारा औद्योगिक युग में क्षीण अवश्य पड़ी है लेकिन जहाँ-जहाँ कृषि युग बचा हुआ है वहाँ-वहाँ मौखिक परम्पराएँ भी बची हुई हैं। यह हमारी कम-नज़र है कि हम उधर देखते ही नहीं हैं। लेकिन गिजुभाई, विजयदान देथा, कोमल कोठारी, हबीब तनवीर, ए के रामानुजन जैसे कुछ लोगों ने देखने की कोशिश की तो उन्हें यह धारा दिखी। गीता रामानुजन जैसी व्यक्ति देखने की कोशिश करती हैं तो उन्हें आज भी यह दिख जाती है और वे पशु-पक्षियों और लोक की अनेक कथाएँ वहाँ से सहेज लाती हैं। वहीं

साहित्य की विधाएँ

मौखिक साहित्य				
कथा	काव्य	कथेतर	नाटक	अन्य
लोककथा	लोक कविता	मौखिक इतिहास	ख्याल	पहेलियाँ
लोकगाथा	लोक गीत	लोक विज्ञान	तमाशा	गुड्ड (मौखिक सवाल जवाब)
फेबल	लोक खेलगीत	औषधीय ज्ञान	नौटंकी	कहावतें
परीकथाएँ	तुकबन्दियाँ	मौसम विज्ञान	राम लीला	
किस्से	लोकगाथा	कृषि विज्ञान	रास लीला	
किंवदंतियाँ				
मिथक कथाएँ				

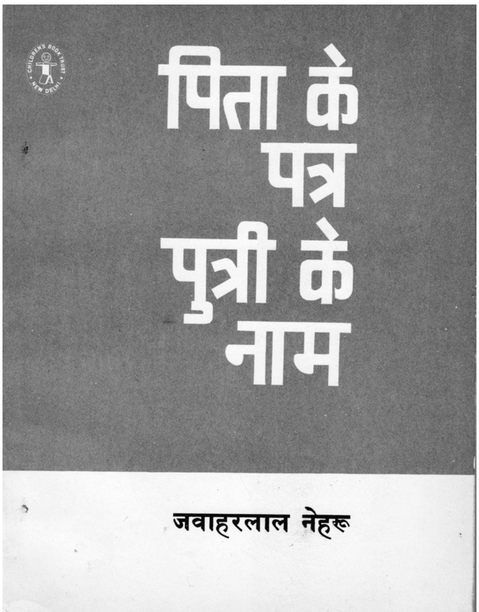
लिखित साहित्य				
कथा	काव्य	कथेतर	नाटक	अन्य
कहानी	कविता	आत्मकथा	नाटक	पत्रिकाएँ
उपन्यास	गीत	जीवनी	एकांकी	स्तरानुसार किताबें
चित्र कहानी	खेल गीत	संस्मरण		
शब्द रहित चित्र कहानी	खण्ड काव्य	डायरी		
	महाकाव्य	रिपोर्ताज		
	गज़ल	पत्र		
	लोरी	रेखाचित्र		
	शिशु गीत	निबन्ध		
		यात्रा वृत्तान्त		
		अवधारणा आधारित किताबें		
		गतिविधियाँ		
		ज्ञान के विविध अनुशासनों पर आधारित किताबें		

मदन मीना जैसे कुछ व्यक्ति गाथाएँ खोज लाते हैं। मौखिक परम्परा में आज भी बच्चों के लिए गीत, खेलगीत, पहेलियाँ आदि स्थानीय भाषाओं में मौजूद हैं, और इस साहित्य को सहेजने का ऐतिहासिक दायित्व अब हम पर आ चुका है।

लिखित साहित्य की धाराओं जैसे– कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि की पहचान में कोई विशेष समस्या अकसर नहीं आती है। कथेतर विधाओं के बारे में हमें थोड़ा देखने और जानने की ज़रूरत पड़ती है कि संस्मरण, जीवनी से कैसे अलग हैं। कि संस्मरण असल में किसी के साथ बिताए कुछ समय की स्मृति हैं। यात्रा वृत्तान्त भी किन्हीं स्थान या स्थानों के साथ बिताए गए समय की स्मृति ही होते हैं लेकिन वह स्मृति यात्रा पर केन्द्रित है, और उसमें यात्रा के वर्णन की प्रमुखता रहती है। रिपोर्ताज अख़बारी रपट नहीं है, भले ही यह विधा द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अख़बारों के लिए युद्ध की रपटें भेजने की प्रक्रिया में ही विकसित हुई।

रेखाचित्र विधा के बारे में लगता है कि वह हिन्दी में महादेवी वर्मा के साथ जन्मी और उन्हीं के साथ ख़त्म भी हो गई। इस विधा में आगे और कोई उल्लेखनीय काम नहीं हो सका। महादेवी वर्मा को जीव-जन्तुओं से गहरा लगाव था। *गिल्लू गिलहरी, गौरा गाय* आदि के रेखाचित्र उन्होंने लिखे। महादेवी वर्मा ने संस्मरणों की किताब *अतीत के चलचित्र* लिखी। उनके संस्मरण और रेखाचित्र पढ़ने के बाद यही समझ में आता है कि रेखाचित्र में शब्दों के माध्यम से पात्र का चित्र खींच देने पर ज़ोर रहता है। बल्कि ऐसा कहें तो यह बिलकुल भी ज़्यादा कहना नहीं होगा कि जैसे चित्रकार रेखाओं के माध्यम से किसी चित्र को आकार देते हुए जीवन्त करता है, ऐसे ही साहित्य में रेखाचित्र लिखने वाला शब्दों के माध्यम से पात्र के चित्र को साकार करते हुए जीवन्त कर देता है।

निजी तौर पर मुझे 'डायरी' साहित्य की सबसे कठिन विधा लगती है। डायरी ऐसा रोज़नामचा भर नहीं है जिसमें आज मैंने ये किया, वो किया, यहाँ नाचा, वहाँ कूदा जैसी सूचनाएँ भर दी जाएँ। डायरी असल में ख़ुद से संवाद की विधा है। आत्मसाक्षात्कार की विधा है। हालाँकि कुछ लोग डायरी में तमाम रोया-पुकारी, काटा-फाँसी की अभिव्यक्ति को भी वाज़िब मानते हैं। लेकिन डायरी साहित्यिक विधा तो एक साहित्यिक की डायरी जैसी लिखी जाकर ही हो सकती है, जिसे पढ़कर लेखक के आत्मसंघर्ष और जीवन की सच्चाइयों का साक्षात्कार किया जा सके। डायरी सच लिखने की विधा है और सच लिखना ख़ासा कठिन है। अपने ही सच का सामना करना ख़ासा कठिन है। डायरी में अगर व्यक्ति कुछ सच लिखे मगर कुछ सच छिपाए, तो वह डायरी ही क्या हुई? अपनी भीतरी और बाहरी, सुखद और दुखद उलझनों को सुलझाते हुए डायरी का एक जो उद्देश्य हो सकता है, आत्मविकास, वह सच्चाई को छिपाकर प्राप्त नहीं किया जा सकता।



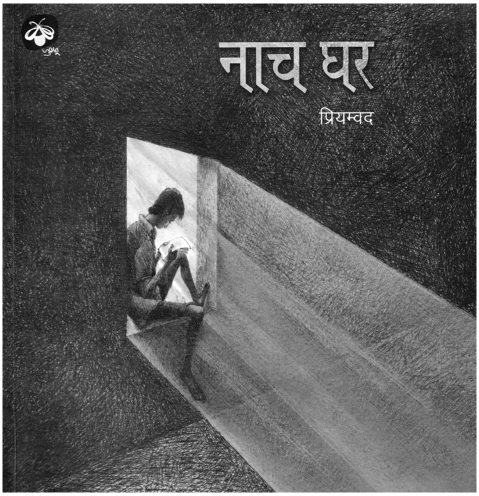
साक्षात्कार या इंटरव्यू ऐसी विधा है जिसमें आप सामने वाले के पास अपने सवाल लेकर जाते हैं और उन सवालों पर सामने वाले के जवाब सुनकर या लिखकर लाते हैं। मैंने एक बार बच्चों की एक पत्रिका के लिए एक व्यक्ति से एक कुत्ते का साक्षात्कार करके लाने के लिए कहा। वह व्यक्ति कुत्ते का बड़ा ही दिलचस्प साक्षात्कार लिखकर लाया। कुत्ते की तरफ़ से उसने बड़े ही रोचक जवाब लिखे। अब इसे कुत्ते का साक्षात्कार तो कह सकते हैं लेकिन साक्षात्कार नाम की कथेतर विधा में इसे नहीं रख सकते क्योंकि इसमें कुत्ते की ओर से जो जवाब सोचे गए थे वे काल्पनिक थे। जबकि मान लीजिए आपने किसी अभिनेत्री का साक्षात्कार लिया। मान लीजिए आपने शबाना आज़मी का साक्षात्कार लिया। उन्होंने आपके सवालों के जो जवाब दिए उन्हें आप लिखकर लाए तो यह साक्षात्कार विधा के तहत रखी जाने वाली रचना होगी।

उपन्यास और कहानी में भी जीवन की कहानी होती है और आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण, यात्रा वृत्तान्त आदि में भी जीवन की कहानी होती है। फिर उपन्यास और कहानी को कथा व आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण आदि को कथेतर क्यों कहते हैं? यह एक सवाल अकसर आता है। कथा में जीवन की सच्चाई होती है जबकि कथेतर में सच्चा जीवन होता है। इस बारीक़ से अन्तर के कारण उपन्यास और कहानी को कथा में व आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण आदि को कथेतर में शुमार करते हैं।

कथाएँ कल्पना का सहारा लेकर जीवन की सच्चाइयों को अभिव्यक्त करती हैं, जबकि कथेतर विधाएँ कल्पना का सहारा नहीं लेतीं। वे जीवन के सत्यों और तथ्यों को प्रमुखता से रखती हैं। सत्य और तथ्य ही दो बीज शब्द हैं जो कथेतर को कथा से इतर यानी अलग करते हैं। उदाहरण के लिए, प्रेमचन्द की कहानी 'ईदगाह' में कल्पना के सहारे बुने गए चरित्रों- हामिद और अमीना के माध्यम से कहानी कही गई है। लेकिन *सत्य के साथ मेरे प्रयोग* इसीलिए

कथेतर है कि उसमें गाँधी के बारे में काल्पनिक कुछ भी नहीं है। उसमें गाँधी के जीवन के सत्य और तथ्य हैं। 'ईदगाह' में जहाँ जीवन की सच्चाई है, तो *सत्य के साथ मेरे प्रयोग* में सच्चा जीवन है। कथेतर कथाएँ व्यक्तियों की भी हो सकती हैं, और किसी नदी या साइकिल की भी। साहित्य के इन विविध रूपों पर विस्तृत चर्चा के बाद हमने मान लिया कि शिक्षिकाओं को विधाओं की विद्या आ गई है।

एक शिक्षिका ने शनिवार को विधाओं की विद्या सीखी तो सोमवार को स्कूल में जाकर बच्चों को पुस्तकालय में ले जाकर विधाओं की विद्या सिखाने पर काम शुरू कर दिया। चौथी-पाँचवी के बच्चे थे। पुस्तकालय उन्होंने पहली बार ही देखा था। बस्ते से अलग तरह की किताबों के बीच एकाएक ख़ुद को पाकर कुछ तो शरमा रहे थे, कुछ ख़ासे चुप हो गए थे, वहीं कुछ की आँखें फटी-की-फटी रह गईं कि ''हैंअअSSS? हमारे स्कूल में फूलों-सी रंगीन और ख़ुशबूदार किताबें हैं और हमें दिखाई ही नहीं गईं?''



शिक्षिका बोलीं, 'हमें आज इन किताबों का वर्गीकरण करना है।' बच्चों को लगा कि यह वर्गीकरण कोई ऑपरेशन जैसा काम है तभी तो कभी-कभार खुलने वाले इस कमरे में किया जा रहा है। वे डॉक्टर नहीं थे पर ऑपरेशन के लिए तैयार हो गए थे क्योंकि उन्हें ऐसा ही आदेश मिला था। सब एक साथ बोले, "जी मैम।"

"जो किताब तुम्हें कविता जैसी लगे उसे अलग कर दो, और जो कहानी जैसी लगें उन्हें अलग रखो। बड़े बच्चे छोटों की मदद करेंगे। आत्मकथा और जीवनियों को मिला मत देना, क्योंकि वे एक जैसी दिखाई देंगी। रिपोर्ताज का तो मुझे भी समझ में नहीं आ रहा कि किस किताब में मिलेंगे। हम मान लेते हैं कि हमारी लाइब्रेरी में रिपोर्ताज नहीं हैं। लेकिन नाटक तो हैं उन्हें अलग रखना है।" शिक्षिका कहती जा रही थीं और बच्चे समझ नहीं पा रहे थे कि क्या मिलाना है और क्या अलग करना है। वे किताबों को फटाफट हाथों में लेकर कभी इधर तो कभी उधर रख रहे थे। आसिफ़ बेला को अलग रखने के लिए किताबें दे रहा था और समीना चन्दर को। किताबों की अलग-अलग ढेरियाँ बन रही थीं, लेकिन शिक्षिका ने पाया कि बहुत देर हो गई है, भोजन की घण्टी लगने वाली है लेकिन विधाओं के वर्गीकरण की विद्या बच्चों को नहीं दी जा सकी है। वे बोलीं, "ऐसा करो। समय कम है। विधाओं के बारे में मैं जो समझ रही हूँ, तुम अभी नहीं समझ पा रहे हो। तुम तो फिलहाल ऐसा करो कि परियों की कहानियाँ अलग कर दो, राजा-रानी वाली अलग कर दो, और महापुरुषों की अलग कर दो।"

एक बच्चे ने पूछा, "मैडम, महापुरुष कौन– अर्जुन, द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह वग़ैरह।"

"अरे नहीं। वे अलग चीज़ हैं?" फिर कुछ सोचकर बोलीं, "वे नहीं होते, नेहरूजी, गाँधीजी, अम्बेडकर, वल्लभ भाई पटेल, भगत सिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद आदि आज़ादी के समय में बहुत सारे हुए थे।"

"हाँ-हाँ मैडम, हम समझ गए। हमारे राजस्थान में भी तो कुछ लोग हुए थे, कालीबाई, नानाभाई खाँट, जिनका पाठ हमारी हिन्दी की किताब में है। लेकिन उनकी तो किताब है ही नहीं।" बच्चे ने कहा।

"नहीं है तो कोई बात नहीं। देखो अब समय बहुत हो गया। नहीं हो रहा तो सभी किताबों को पहले जहाँ रखी थीं, वैसे-के-वैसे वापस रख दो।" शिक्षिका कुछ निराशा से बोलीं।

शिक्षिका की ईमानदारी, लगन और उत्साह में कोई कमी नहीं थी लेकिन वे जो काम करना चाहती थीं उसे कर नहीं पाईं। इस विफलता ने उन्हें बेचैन कर दिया। कुछ दिनों बाद उन्होंने बच्चों को साहित्य की विधाओं से परिचित कराने का एक अपना ही तरीक़ा विकसित कर लिया। उन्होंने बच्चों से लेखन पर कुछ काम करवाए। एक काम के तहत उन्होंने बच्चों से कहा, "आज तुम सब अपने-अपने जीवन की कहानी लिखो। अपने और अपने परिवार, गाँव-शहर आदि के बारे में वे सच्ची घटनाएँ लिखो जो तुम्हारे जीवन में घटीं।" बच्चों के इस लेखन को प्रदर्शित करते हुए उन्होंने एक नाम दे दिया– आत्मकथा। अगले दिन उन्होंने बच्चों से कहा, "आज तुम अपने सबसे अच्छे दोस्त के जीवन के बारे में वैसे ही लिखो जैसे तुमने अपने बारे में लिखा था।" और उन रचनाओं को प्रदर्शित करते हुए उन्होंने नाम दिया– जीवनी। उसके अगले दिन उन्होंने बच्चों को अपने आसपास रहने वाले किसी बुज़ुर्ग या किसी स्त्री से गाँव का इतिहास जानने को लेकर वे क्या-क्या बातें पूछेंगे उन्हें लिख लेने को कहा। जब बच्चों ने सवाल लिख लिए तो उन्होंने बच्चों को उन बुज़ुर्ग लोगों के पास भेज दिया और कहा कि उनसे इन सवालों के जवाब पूछो और लिखकर लाओ। इन रचनाओं को प्रदर्शित करते हुए शिक्षिका ने लिखा– साक्षात्कार। इसी तरह से शिक्षिका ने पत्र, रिपोर्ताज आदि विधाओं से परिचित कराने के तरीक़े विकसित कर लिए। जहाँ चाह वहाँ राह।



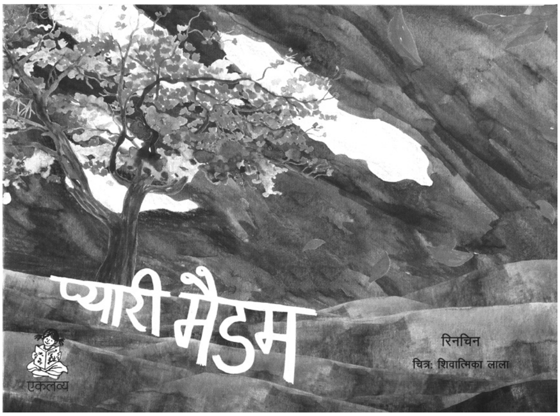
एक शहरी अजनबी को गड़रिए की गाडर में सभी भेड़ें एक जैसी दिखाई देती हैं, लेकिन गड़रिया जानता है कि भेड़ों के रेवड़ में राम दुलारी कहाँ चल रही है और फ़िरोज़ा कहाँ। कल्कि मेमना कहाँ छुपा है और अल्बर्ट भेड़ा कहाँ। बेहतरीन पाठक तो किताबों को दूर से देखकर ही बता देता है फलाँ किताब *महँगू की टाई* है और वह जो बड़ी-सी है, असल में *बिल्ली के बच्चे* है। बच्चे बेहतरीन पाठक होकर ही किताबों के वर्गीकरण के काम में बेहतर दिलचस्पी ले सकते हैं। इसलिए पुस्तकालय में किताबों का उम्दा संग्रह होना भर पर्याप्त नहीं है, बेहतर पाठक होना भी ज़रूरी है। किताबों को दूर से देखने मात्र से बेहतर पाठक नहीं बना जा सकता। इसके लिए तो किताबों को पढ़ना ही होगा, और किताबें बिना रुचि के पढ़ी नहीं जा सकतीं। किताबों में रुचि जगाने का काम भी लाइब्रेरियन के कई कामों में से एक है। इसके लिए आजकल नई चाल के पुस्तकालयों में बच्चों के साथ अनेक गतिविधियाँ की जाती हैं।

पुस्तकालय की किताबों का इस्तेमाल करते हुए हावभाव के साथ कविताएँ करवाना, गीत गाना, बातचीत करते हुए कहानी पढ़कर सुनाना (read aloud), किताब की झलक, ख़ज़ाने की खोज, किताब की चर्चा, किताब पर नाटक करना आदि कई गतिविधियाँ हैं जो पुस्तकालय में यदि नियमित की जाएँ तो बच्चे किताबों की ओर खिंचेंगे भी और उन्हें पढ़ेंगे भी।

जब बच्चों को पुस्तकालय की किताबें पढ़ने का तीन-चार साल का अनुभव हो जाए, और वे

बहुत सारी किताबें पढ़ चुके हों, तब कहीं मानना चाहिए कि बाल साहित्य के संसार से उनका आरम्भिक परिचय हुआ है।

इन गतिविधियों से गुज़रते हुए वे किताब के नाम के साथ-साथ लेखक, चित्रकार, अनुवादक, प्रकाशक आदि के नामों की ओर ध्यान देना शुरू कर देते हैं। किताब में कविता है कि कहानी, नाटक है कि जीवनी, इस तरह से वे देखने की शुरुआत करते हैं। तब अगर विधाओं के वर्गीकरण जैसा काम भी उनके साथ हो तो वे कुछ सहजता से इस काम में हिस्सा ले सकेंगे। तब यह जानकर उन्हें कुछ रोमांच भी हो सकता है कि कविता की किताबों के भीतर भी अलग-अलग तरह की कविताएँ हैं। उनमें कुछ तुकों वाली हैं तो कुछ बिना तुकों वाली भी। कुछ ऐसी जिनमें बोलकर पढ़ने में अच्छा लगता है, वहीं कुछ ऐसी हैं जिन्हें बड़ी आसानी से गाया जा सकता है। उन्हें यह जानना रोमांचित कर सकता है कि वर्णन की तरह लिखी हुई हर किताब का स्वाद एक जैसा नहीं है। जैसे कि सभी हरी सब्जियाँ भिण्डी नहीं हैं। उनका हरा तरह-तरह का हरा है। उनमें कोई लौकी है, कोई तुरई, कोई ग्वार की फली है तो कोई चौलाई की। इसी तरह किताब के छोटे-बड़े वर्णनों में किसी में कहानी छिपी है तो किसी में किसी की याद, किसी में विचार ही विचार हैं तो किसी में जानकारी ही जानकारी।



अगर बच्चों को वर्गीकरण के काम में भी कहानी पढ़ने, सिनेमा देखने या क्रिकेट खेलने जैसा ही आनन्द आए तो वर्गीकरण पर काम करना अच्छा, नहीं तो ख़राब। अच्छा इसलिए कि अब भाषा के विशिष्ट प्रयोगों को पहचानने की उनकी क्षमता विकसित हो रही है। और ख़राब इसलिए कि अगर वे ऊब रहे हैं, तो इस काम का क्या मतलब। इसका सीधा-सा मतलब यही है कि अभी उन्हें और समय चाहिए।

बच्चों के बनिस्बत शिक्षकों और लाइब्रेरियनों को विधा सजग और विधा रसिक होना चाहिए। बच्चों को यह सब समझने के लिए काफ़ी समय पड़ा है लेकिन शिक्षकों और लाइब्रेरियनों पर तो यह ज़िम्मेदारी आ गई है कि पुस्तकालय की सैकड़ों-हजारों किताबें पढ़कर वे अच्छी तरह यह समझ लें कि विधाओं का विभाजन अपने-आप में कोई बहुत स्पष्ट विभाजन नहीं है। विधाएँ एक-दूसरे में आवाजाही भी करती रहती हैं। पत्र शैली में कोई कहानी आपको लिखी हुई मिल सकती है, जैसे कि रवीन्द्रनाथ टैगोर की कहानी ‘स्त्री का पत्र’। *रामचरित मानस* का शिल्प कविता का है लेकिन वस्तुतः वह राम कथा है। कुछ लेखकों का गद्य इतना काव्यात्मक होता है कि पढ़ते हुए कविता का आस्वाद मिलता है।

विधाएँ कोई स्थिर चीज़ भी नहीं हैं। नए लेखक नई विधाएँ ईजाद कर देते हैं। कवि राजेश जोशी लिखते हैं, “किसी विधा में ऐसे विघटन सम्भव हो सकते हैं जिनसे न केवल उसका पूरा चरित्र बदल जाए बल्कि एक नई विधा भी जन्म ले सकती है। उद्योगीकरण ने जिस तरह महाकाव्य को विघटित कर दिया और उपन्यास जैसी विद्या का जन्म हुआ। प्रौद्योगिकी के कारण होने वाले बदलाव के क्या-क्या परिणाम होंगे, वह किस-किस तरह से अपने को व्यक्त करेगा, इसको देखने के लिए शायद सब्र की भी ज़रूरत

है और बहुत पैनी नज़र की भी।

मुझे लगता है इस बीच पाठकों की रुचि में बदलाव आया है, या आ रहा है। कहानी व उपन्यास के बनिस्बत अब संस्मरण, यात्रा वृत्तान्त, आत्मकथाओं या पुराने शहरों की गाथाओं के प्रति आकर्षण बढ़ा है। कथा से ज़्यादा कथेतर पर बात हो रही है। विधाएँ अपने बने बनाए खाँचों से बाहर आ रही हैं, या उनमें कसमसाती-सी प्रतीत हो रही हैं। कथेतर विधाओं में लेखन बढ़ रहा है। कई बार तो जिसे नॉस्टेल्जिया कहा जाता था, वह भी बढ़ता दिख रहा है। इन बदलावों के कोई कारण तो होने ही चाहिए। ये सारी विधाएँ कहीं-न-कहीं स्मृतियों पर आश्रित विधाएँ हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि सूचना और मेमॅरी बॉक्स के रिश्ते में हो रहे बदलाव के साथ ही, स्मृति और सृजनात्मकता का भी रिश्ता बदल रहा है!"

प्रिय कवि की यह टिप्पणी यह कहने को प्रेरित करती है कि मनुष्य जाति के लम्बे इतिहास में तमाम भाषाओं की मौखिक और लिखित परम्पराओं में साहित्य की विधाओं का उदय और अस्त होना चलता रहता है।

सन्दर्भ

कृष्ण कुमार, 2001, *स्कूल की हिन्दी*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 23 ।

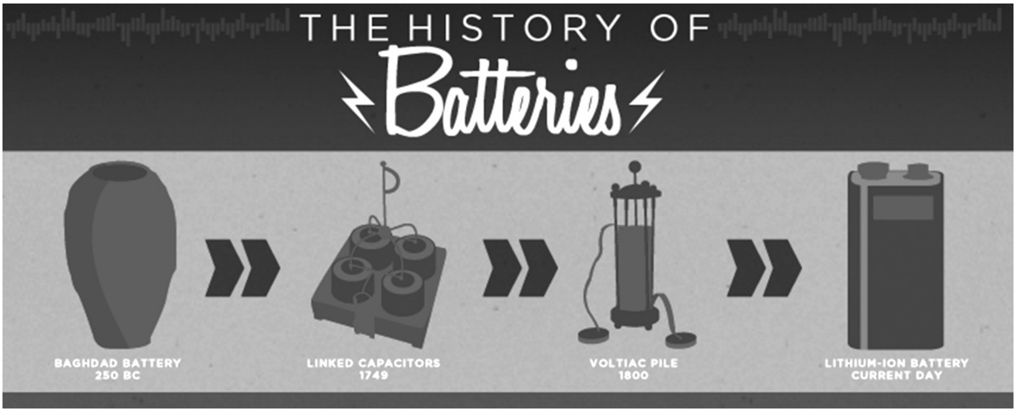
राजेश जोशी, 'कवि की छोटी नोट बुक', *बनास जन*, अंक 34, जुलाई-दिसम्बर 2019।

प्रभात : शिक्षा के क्षेत्र में स्वतंत्र कार्य। दो कविता संग्रह *अपनों में नहीं रह पाने का गीत* साहित्य अकादमी, से व *जीवन के दिन* राजकमल से प्रकाशित। बच्चों के लिए कविता, कहानियों की कई किताबें प्रकाशित। विभिन्न लोक भाषाओं में बच्चों के लिए ढेर सारी किताबों का पुनर्लेखन-सम्पादन। 'युवा कविता समय सम्मान', 2012, सृजनात्मक साहित्य पुरस्कार, 2010, बिग लिटिल बुक अवार्ड- 2019।

सम्पर्क : prabhaaat@gmail.com

नोबेल पुरस्कार के बहाने एक इक़बालिया बयान

सुशील जोशी



इस वर्ष रसायन शास्त्र में नोबेल पुरस्कार एक ऐसी खोज या कहें कि जुगाड़ों की ऐसी श्रृंखला के लिए दिया गया है जो दिखने में काफ़ी साधारण लगती है। पुरस्कार का प्रशस्ति-पत्र पढ़ा तो लगा कि अरे! ये इतनी सामान्य-सी बातों के व्यावहारिक उपयोग के लिए इतना बड़ा पुरस्कार मिला है। अन्तत: अनुसन्धान की इस पूरी श्रृंखला का जो परिणाम है वह सबकी आँखों के सामने है, अत्यन्त उपयोगी है और जिसके बिना शायद संचार क्रान्ति की बात भी नहीं हो सकती– लीथियम आयन बैटरी। हर मोबाइल, लैपटॉप को ताक़त देने वाली यही चीज़ है। बार-बार चार्ज की जा सकने वाली बैटरी। लेकिन मैं इसे एक अलग ही नज़रिए से देखूँगा।

इस पूरे सिलसिले में जिन अवधारणाओं का इस्तेमाल हुआ है वे लगभग सारी-की-सारी हमें स्कूल-कॉलेज में पढ़ाई गई थीं। ऑक्सीकरण-अवकरण, परमाणु संरचनाएँ, इलेक्ट्रॉनिक विन्यास, आयनीकरण, विभव वग़ैरह और आवर्त तालिका में तत्त्वों के गुणों में उतार-चढ़ाव यानी आवर्तता। इन्हीं सब बातों का उपयोग करके वैज्ञानिकों ने क्या चीज़ बनाई है! मुझे याद है जब कॉलेज में ऑक्सीकरण-अवकरण पढ़ाए गए थे तो मेरे दिमाग़ में यह कभी नहीं कौंधा था कि यह ऊर्जा को एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित करने का एक महत्त्वपूर्ण ज़रिया है। हाँ, इतना ज़रूर समझ में आया था कि जब आग जलती है तो ऑक्सीकरण होता है और हम खाना पकाते हैं या आग तापते हैं। मगर तब भी यह सामान्य अवधारणा पकड़ में नहीं आई थी कि यह रासायनिक ऊर्जा के ऊष्मीय और प्रकाशीय ऊर्जा में बदलने का उदाहरण है। चलिए, सिलसिलेवार आगे बढ़ते हैं।

बैटरी क्या है और यह किस तरह काम करती है?

मोटेतौर पर बैटरी एक ऐसा उपकरण है जो पदार्थों की रासायनिक ऊर्जा को ऑक्सीकरण-अवकरण (रिडॉक्स) रासायनिक क्रियाओं के ज़रिए विद्युत ऊर्जा में परिवर्तित करती है। बैटरी के लिए उपयोग किए जाने वाले पदार्थ ऐसे



फोटो : साइंसः ए वे ऑफ़ लाईफ़ (एकलव्य फ़ाउण्डेशन)

पदार्थ होते हैं जिनकी रासायनिक ऊर्जा आसानी से मुक्त की जा सकती है। इसका मतलब है कि ये पदार्थ आसानी से ऐसे रासायनिक परिवर्तनों में भाग लेते हैं जिनमें ऊर्जा मुक्त होती है। रिडॉक्स रासायनिक क्रियाएँ हमारे जीवन की शायद सबसे साधारण और सबसे महत्त्वपूर्ण रासायनिक क्रियाएँ होंगी। वस्तुओं का जलना, प्रकाश-संश्लेषण, जंग लगना, भोजन का पचना और कार्बनिक पदार्थों का सड़ना आदि सभी ऐसी रासायनिक क्रियाओं के उदाहरण हैं। जैसे– आग जलना एक ऐसी रासायनिक क्रिया है जिसमें सेल्यूलोज़ या पेट्रोल, डीज़ल, एलपीजी जैसे किसी ईंधन की ऑक्सीजन से क्रिया होती है। ईंधन का ऑक्सीकरण हो जाता है, लेकिन साथ ही ऑक्सीजन का अवकरण होता है। इसी प्रकार से धातु पर जंग लगने के दौरान धातु और ऑक्सीजन की क्रिया होती है। प्रकाश-संश्लेषण काफ़ी जटिल क्रिया है जिसमें कार्बन डाई-ऑक्साइड का अवकरण होता है और पानी का ऑक्सीकरण। अन्तत: हमें ऑक्सीजन मुक्त होती दिखती है।

इन रासायनिक क्रियाओं की एक ख़ास निशानी होती है, वह यह कि इनमें इलेक्ट्रॉनों का आदान-प्रदान होता है। यानी इन क्रियाओं में एक रासायनिक पदार्थ इलेक्ट्रॉन देता है तो कोई और पदार्थ उन इलेक्ट्रॉनों को ग्रहण कर लेता है। जो पदार्थ इलेक्ट्रॉन देता है उसका ऑक्सीकरण हो जाता है और इलेक्ट्रॉन ग्रहण करने वाला पदार्थ अवकृत हो जाता है। जो रिडॉक्स रासायनिक क्रियाएँ विद्युत-रासायनिक नहीं होती हैं, जैसे– जंग का लगना या किसी चीज़ का जलना, उनमें इलेक्ट्रॉनों का आदान-प्रदान सीधे एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को हो जाता है। विद्युत-रासायनिक रिडॉक्स रासायनिक क्रियाओं में बस फ़र्क़ यह हो जाता है कि इनमें इलेक्ट्रॉनों का आदान-प्रदान सीधे न होकर एक विद्युत् परिपथ के ज़रिए होता है, तभी तो हमें करंट प्राप्त होता है।

बैटरी के काम करने का सिद्धान्त सीधा-सादा है और हमें स्कूल में पढ़ाया गया था।

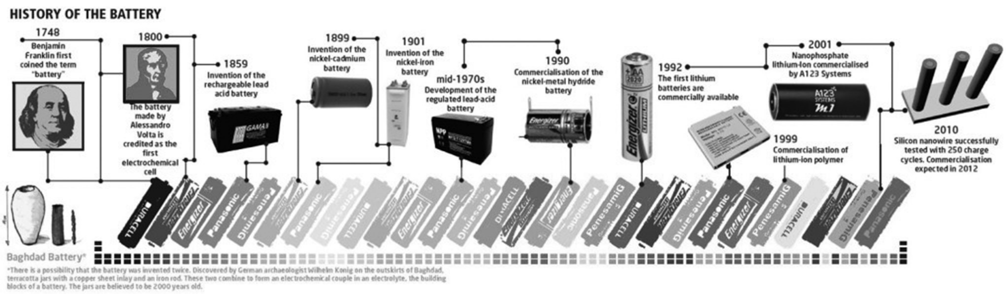
किसी भी सेल में दो इलेक्ट्रोड होते हैं जिनके बीच में एक इलेक्ट्रोलाइट (विद्युत-अपघट्य पदार्थ) भरा होता है। बैटरी के ऋणाग्र (एनोड) पर ऑक्सीकरण क्रिया होती है जिसकी वजह से इलेक्ट्रॉन परिपथ में बहने लगते हैं। इसी के साथ धन इलेक्ट्रोड (कैथोड) पर अवकरण क्रिया होती है जिसके लिए इलेक्ट्रॉन परिपथ से प्राप्त होते हैं। शुरुआती सेल में एनोड टिन या जस्ते का था और कैथोड ताँबे या चाँदी का था।

सेल में इलेक्ट्रोलाइट (विद्युत-अपघट्य) एक माध्यम की तरह काम करता है जिसके ज़रिए आयनों का प्रवाह होता है। कुछ बैटरियों को छोड़ दें तो अधिकांश बैटरियों में इलेक्ट्रोलाइट द्रवीय अवस्था में (नमक, अम्ल या क्षार के घोल) होते हैं। सेल के बाहर तार में करंट इलेक्ट्रॉनों के ज़रिए बहता है, पर सेल के अन्दर करंट का प्रवाह आयनों द्वारा होता है। प्रारम्भिक सेल में ताँबे और जस्ते के इलेक्ट्रोड्स का उपयोग किया गया था। ऐसी सेल करंट तो पैदा करती है लेकिन एक दिक़्क़त है।

इसे प्राथमिक सेल कहते हैं और हमें इसकी रचना व क्रियाविधि पढ़ाई गई थी, हालाँकि हमने सेल बनाकर नहीं देखा था। इसलिए विश्वास भी नहीं हुआ था। और सबसे बड़ी बात यह थी कि हमसे यह सवाल किसी ने नहीं पूछा था (और हमने भी किसी ने नहीं पूछा था) कि क्या इस पूरी क्रिया को उल्टी दिशा में चलाया जा सकता है। ज़्यादा वैज्ञानिक शब्दों में कहें तो यह सवाल कभी नहीं उठा कि क्या यह सेल उत्क्रमणीय है? क्या एक बार बिजली पैदा करने के बाद हम ऐसा कुछ कर सकते हैं कि यह अपनी मूल अवस्था में पहुँच जाए? यह सवाल न उठना आश्चर्य की बात है। यह आश्चर्य की बात इसलिए है कि हमें इसके तत्काल बाद एक और किस्म की सेल के बारे में पढ़ाया गया था– द्वितीयक सेल या संग्राहक सेल। जी हाँ, ये सेल रिचार्ज किए जा सकते हैं। यह ठीक उसी सवाल का जवाब है। यह एक ऐसी सेल होती है जिससे आप बिजली पैदा कर सकते हैं और फिर फ़ुर्सत में इसमें से बिजली प्रवाहित करके इसे मूल अवस्था में ला सकते हैं। लेकिन इसके बारे में हमें सर्वथा स्वतंत्र रूप से पढ़ाया गया था। लेड-एसिड बैटरी इस महत्त्वपूर्ण सवाल के जवाब के रूप में नहीं, बल्कि एक अनोखे आविष्कार के रूप में प्रकट हुई थी कि बैटरी में चलने वाली विद्युत-रासायनिक क्रिया उल्टी दिशा में भी चल सकती है। बहरहाल, वैज्ञानिकों ने लेड-एसिड बैटरी भी पिछली सदी के मध्य में बना ली थी। इसकी विशेषता क्या है?

लेड–एसिड बैटरी

लेड-एसिड बैटरी में दो लेड (यानी सीसे) के इलेक्ट्रोड होते हैं और इलेक्ट्रोलाइट के रूप में सल्फ्यूरिक अम्ल होता है। दोनों में से एक इलेक्ट्रोड को थोड़ा ऑक्सीकृत करके लेड ऑक्साइड में परिवर्तित कर दिया जाता है। जब इसे परिपथ में जोड़ते हैं तो एनोड यानी धन इलेक्ट्रोड पर ऑक्सीकरण की क्रिया होती है जिसमें इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन तथा लेड सल्फेट बनते हैं। दूसरी ओर, कैथोड यानी ऋण इलेक्ट्रोड पर लेड ऑक्साइड का अवकरण होकर लेड सल्फेट बनता है। इस बैटरी को परिपथ में जोड़ने पर विद्युत प्रवाह होता है। लेकिन यदि इसमें से



विद्युत प्रवाहित की जाए तो यह अपनी मूल स्थिति में लौट आती है। कारों, इन्वर्टर वग़ैरह में ऐसी बैटरी का ही उपयोग होता है।

दिक़्क़त यह है कि लेड के इस्तेमाल की वजह से ये बैटरियाँ बहुत वज़नी होती हैं। आप चाहते हैं कि बैटरी का कुल वज़न कम हो। दूसरी बात यह है कि इनमें इलेक्ट्रोलाइट के रूप में तेज़ाब का इस्तेमाल होता है जो थोड़ा ख़तरनाक है। लिहाज़ा इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए क्षारीय बैटरियों का आविष्कार हुआ। ऐसी क्षारीय या अल्केलाइन बैटरियों में प्रमुख थी निकल-कैडमियम और निकल-लौह बैटरियाँ और अन्तत: निकल-धातु हाइड्राइड बैटरियाँ अस्तित्व में आईं।

लीथियम बैटरी

लेकिन यदि आप चाहते हैं कि आपके उपकरण इतने हल्के-फुल्के हों कि उन्हें आसानी से साथ लेकर चला जा सके, तो बैटरी अत्यन्त हल्की होनी चाहिए और उनमें इलेक्ट्रोलाइट तरल अवस्था में नहीं होना चाहिए। हल्का-फुल्का बनाने के लिए ज़रूरी है कि ऐसे पदार्थों का उपयोग किया जाए जिनका घनत्व कम हो। धातुओं में सबसे हल्की धातु (यानी सबसे कम घनत्व वाली धातु) कौन-सी है? परमाणु भार को देखें तो सबसे कम परमाणु भार वाली धातु लीथियम है। तो वैज्ञानिकों ने अपना ध्यान लीथियम पर केन्द्रित कर दिया। लीथियम की खोज 1817 में हुई थी और इसका परमाणु भार मात्र 3 था। लीथियम का घनत्व है 0.53 ग्राम प्रति घन सेमी।

इसके विद्युत-रासायनिक गुण भी काफ़ी अनुकूल थे। हमें या तो बताया नहीं गया था या हमने ठीक से सुना नहीं था कि सेल बनाने के लिए धातुओं का चुनाव किन आधारों पर किया जाता है। एनोड ऐसे पदार्थ का बनाया जाना चाहिए जो आसानी से इलेक्ट्रॉन मुक्त कर सके जो अवकरण के लिए उपलब्ध हो जाएँ। एनोड स्वयं इलेक्ट्रॉन छोड़कर ऑक्सीकृत हो जाता है। आमतौर पर एनोड धातुओं के बनाए जाते हैं। दूसरी ओर, कैथोड ऐसे पदार्थ का होना चाहिए जो आसानी से इलेक्ट्रॉन ग्रहण करके अवकृत हो सके। कैथोड, धातु ऑक्साइड के बनाए जाते हैं। हमें ऑक्सीकरण और अवकरण की जो परिभाषा शुरू में बताई गई थी (और जो हमारे दिमाग़ में टिकी रही) वह थी : किसी पदार्थ से ऑक्सीजन का जुड़ना। बाद में यह भी जोड़ा गया था कि किसी पदार्थ से हाइड्रोजन का निकलना भी ऑक्सीकरण है। इसी प्रकार से किसी पदार्थ से ऑक्सीजन निकल जाना अवकरण है।

" मेरा कहना सिर्फ़ इतना है कि हमारे शिक्षण में किसी वजह से कुछ अवधारणाओं को उनका सही स्थान नहीं मिल पाया था। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि सही तरीक़े से पढ़ाते तो 2019 का नोबेल पुरस्कार मैं जीत लाता। सिर्फ़ इतनी अर्ज़ है कि कम-से-कम इन बातों की सराहना तो कर पाता। "

मुझे याद है कि कभी यह भी बताया गया था कि यह ऑक्सीकरण-अवकरण की सीमित परिभाषा है और सामान्य रूप से किसी पदार्थ से इलेक्ट्रॉन निकलना तथा अवकरण का मतलब पदार्थ में इलेक्ट्रॉन का जुड़ना होता है। तब मुझे यह परिभाषा अनावश्यक विस्तार लगी थी और मैंने यह सोचा था कि इस तरह से तो दुनिया की सारी क्रियाओं को ऑक्सीकरण-अवकरण में बाँटा जा सकता है। लेकिन मेरा सोचना सही नहीं था। इतनी व्यापक परिभाषा के बावजूद सारी क्रियाएँ ऑक्सीकरण या अवकरण नहीं होतीं। जैसे– बैरियम क्लोराइड और सोडियम सल्फेट को मिलाने पर हमें बैरियम सल्फेट और सोडियम क्लोराइड मिलते हैं। यह रिडॉक्स क्रिया नहीं है। ख़ैर!

तो सवाल यह है कि कौन-सी धातुएँ आसानी से इलेक्ट्रॉन छोड़ेंगी ताकि उनका उपयोग एनोड के रूप में किया जा सके। एक बार फिर मैं बताना चाहूँगा कि हमें एक अवधारणा पढ़ाई

गई थी– अवकरण ऊर्जा। किसी भी तत्त्व की अवकरण ऊर्जा के मान से पता चलता है कि वह कितनी आसानी से इलेक्ट्रॉन को मुक्त कर देगा। लीथियम की अवकरण ऊर्जा (लीथियम से लीथियम धनायन बनने की ऊर्जा) –3.05 V है। यानी लीथियम और लीथियम आयन के उपयोग से उच्च वोल्टेज वाली हल्की-फुल्की बैटरी बन सकती है।

तो लीथियम को लेकर कोशिशें शुरू हो गईं। मैं यहाँ इनकी टेक्नॉलॉजी में नहीं जाऊँगा। मुख्य बात यह है कि इतने महत्त्वपूर्ण आविष्कार के मूल में विज्ञान की निहायत साधारण व बुनियादी अवधारणाएँ थीं। एक के बाद एक समस्याएँ आती गईं और नोबेल विजेता नए-नए जुगाड़ करते गए। जैसे– एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह थी कि लीथियम बहुत ही क्रियाशील धातु है। इस समस्या को सुलझाने के लिए लीथियम परमाणुओं को कतिपय अन्य पदार्थों में धँसाकर रखने की युक्ति आज़माई गई, वग़ैरह।

मेरा कहना सिर्फ़ इतना है कि हमारे शिक्षण में किसी वजह से इन अवधारणाओं को उनका सही स्थान नहीं मिल पाया था। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि सही तरीक़े से पढ़ाते तो 2019 का नोबेल पुरस्कार मैं जीत लाता। सिर्फ़ इतनी अर्ज़ है कि कम-से-कम इन बातों की सराहना तो कर पाता।

सुशील जोशी एकलव्य द्वारा संचालित विज्ञान एवं टेक्नालॉजी पर आधारित फीचर सेवा *स्रोत* के सम्पादक हैं। वे एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के अनुभवों पर आधारित पुस्तक *जश्न-ए-तालीम* के लेखक हैं। विज्ञान शिक्षण एवं विज्ञान लेखन में इनकी गहरी रुचि है।
सम्पर्क : rusushil@yahoo.com

लिखना
प्राथमिक कक्षाओं में बच्चों के साथ कुछ अनुभव

पारुल बत्रा दुग्गल

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 में लेखन को नवाचार के रूप में अपनाने की ज़रूरत को रेखांकित किया गया है। यद्यपि आमतौर पर शिक्षकों का इस बात पर ज़ोर होता है कि बच्चे सही तरीक़े से लिखें। लिखने के माध्यम से अपने विचारों की अभिव्यक्ति को महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता है। मशीनी रूप से शुद्ध लेखन की माँग विचारों को अभिव्यक्त करने में बाधा बनती है।

प्रस्तुत लेख में भाषा शिक्षण की शुरुआती कक्षाओं में लेखन को देखने के नज़रिए और उसे समझने की कोशिश की गई है।

पारुल ने प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के साथ अपने लेखन-शिक्षण अनुभवों को लेखन की परम्परागत धारणाओं के बरअक्स तौलने और उनकी व्याख्या करने का प्रयास किया है। इस मक़सद के लिए उन्होनें ने बाल-लेखन के कई उदाहरण लेते हुए अपनी बात को रखा है। यह लेख, शुरुआती कक्षाओं में किस तरह से लेखन की शुरुआत की जाए और कैसे सृजनात्मक लेखन के लिए पुस्तकालय की मदद ली जाए जैसे विषयों कें बारे में चर्चा करता है। सं.

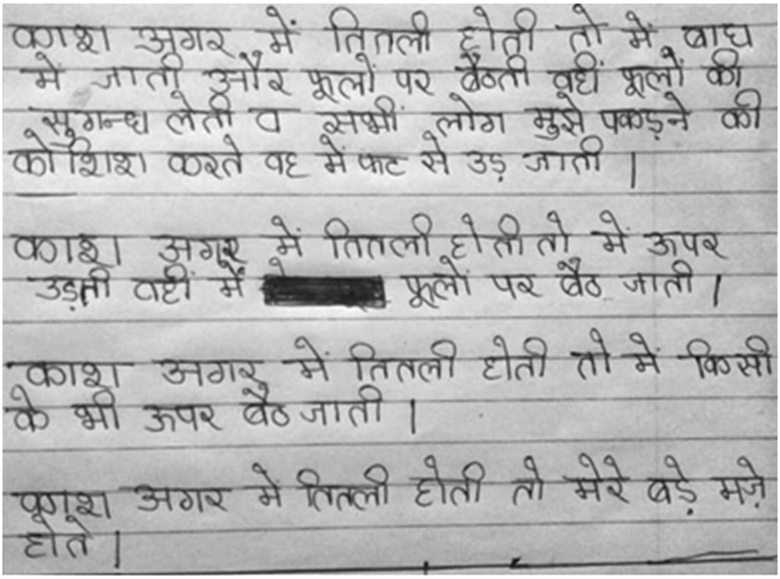
अकसर शिक्षक और अभिभावक यह शिकायत करते दिखते हैं कि प्राथमिक कक्षाओं में उनके बच्चों को ढंग से हिन्दी पढ़ना और लिखना नहीं आता। कुछ बच्चे तो वर्णमाला को पहचानने में ही पूरा साल लगा देते हैं वहीं कुछ एक साल में वर्णमाला सीखने के बाद अक्षरों को जोड़कर अटक-अटक कर पढ़ते रहते हैं, और मात्राओं को भी नहीं पहचान पाते। लिखने के नाम पर वे बोले गए या बोर्ड पर लिखे गए शब्दों को देखकर लिख लेते हैं। या प्रश्नों के तयशुदा उत्तर लिख लेते हैं, लेकिन मन से कुछ लिखने को कहो तो मुँह ताकते नज़र आते हैं। या कहते हैं कि आप ही बता दीजिए कि क्या लिखना है?

अधिकतर शुरुआती प्राथमिक कक्षाओं में लिखने को लेकर कुछ इस तरह की प्रक्रियाएँ होती हैं:

- आड़ी-खड़ी रेखाएँ बनाना
- वर्ण या मात्रा लिखना
- बोर्ड से देखकर लिखना
- शब्द से वाक्य बनाना
- दिए गए प्रश्नों के उत्तर लिखना
- श्रुतलेख
- सुलेख
- चित्र देखकर लिखना
- याद किया हुआ लिखना;
- दिए हुए विषय पर निबन्ध, पत्र, आदि लिखना।

यहाँ मान लिया जाता है कि एक ख़ास ढर्रे में बाँधकर ही बच्चों को लिखना सिखाया जा सकता है। इसके लिए बच्चों को इस ख़ास क्रम में लिखना सिखाया जाता है। जब बच्चे स्कूल आते हैं तो उनकी फ़ाइन मोटर ग्रिप (पेंसिल पकड़ने वाली ग्रिप) विकसित नहीं हुई होती है। इसके लिए उन्हें आड़ी और खड़ी रेखाएँ काग़ज़ पर उकेरनी होती हैं। इसके बाद वर्णमाला की आकृतियाँ बनाना सीखना होता है। लेकिन यह बेहद नीरस होता है और सही आकृति न बना पाने पर उसे बार-बार मिटाना और फिर से लिखना होता है। इसमें कई बच्चे शुरुआत में ही निराश हो जाते और सोचते हैं कि वे अब कभी भी

सही आकृति बनाना नहीं सीख सकेंगे। फिर उन्हें बिना मात्रा वाले कुछ सन्दर्भहीन शब्द लिखना सिखाया जाता है जैसे– गमला, अदरक, रमन, चल, घर... आदि। और यह माना जाता है कि बच्चे मात्रा के साथ पूरे शब्द नहीं लिख सकेंगे। इसके बाद अनिवार्य रूप से 'आ' की मात्रा के साथ शुरू होने वाले शब्द जैसे- ताला, माला, लाला, आदि सिखाए जाते हैं।



चित्र 1. बालिका का लेखन 'अगर मैं तितली होती तो...'

स्कूल में किसी भी बच्चे का अधिकतर समय कुछ इसी तरह की प्रक्रियाओं में ही गुज़रता है। बच्चे जिस तरह के वाक्य बोलते हैं और जिन शब्दों से दैनिक जीवन में परिचित भी हैं, लेखन की बात आते ही उन्हें दरकिनार कर दिया जाता है। बच्चों को किसी विषय पर अपने विचार बनाने, कहने या लिखने के लिए कोई जगह भाषा शिक्षण की इस विधि में नहीं होती है। लेकिन असल में हम तो पढ़ना-लिखना सीखते ही इसलिए हैं ताकि अपनी बात को व्यवस्थित और सुसंगत ढंग से मौखिक और लिखित रूप में अभिव्यक्त कर उन्हें लोगों तक पहुँचा सकें।

बच्चों को लिखना सीख लेने के बाद भी किस विषय पर लिखने के लिए कहा जाता है? अधिकांशतः लेखन के लिए प्राथमिक कक्षाओं में 'मेरा स्कूल', 'राष्ट्रीय त्योहार', 'विज्ञान के चमत्कार', 'मेरी रेल यात्रा', 'पर्यावरण प्रदूषण' और 'गाय' जैसे विषयों पर निबन्ध लिखने के लिए दिए जाते हैं। विषय के ढाँचे से बाहर जाकर कुछ सृजनात्मक विचारों को ला पाना मुश्किल हो जाता है। अगर कक्षा के सभी बच्चों से 'मेरी शाला' पर निबन्ध लिखवाया जाए तो अमूमन एक से ही विचार आएँगे। इसके विपरीत अगर बच्चों को कहा जाए कि 'अगर तुम कंघी, तितली, मच्छर, फूल, कटोरी या जूता होते तो क्या होता?' या 'अगर टॉफ़ियाँ पेड़ पर लगतीं तो क्या होता?' तो हर बच्चे की अपनी एक अलग ही कहानी होती। यह लेखन की कला विकसित करने की तरफ़ एक छोटा प्रयास होता जिसमें विचारों की खुली आवाजाही होती। जब लिखने में कल्पनाएँ उड़ान भरेंगी तभी हर बच्ची आगे जाकर एक लेखिका बन सकेगी। यहाँ ऐसी ही एक बच्ची की कल्पना और सृजनशीलता उसके लेखन में दिखती है। (चित्र 1)

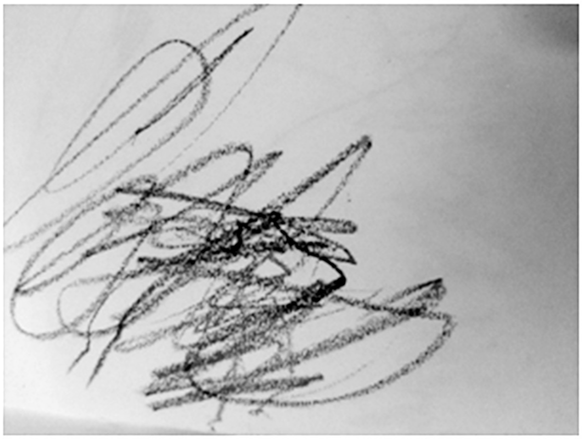
वैसे हम भाषा सीखने की जन्मजात क्षमता के साथ पैदा होते हैं लेकिन हममें कई ग़ैर-जन्मजात कौशलों को भी सीखने की क्षमता है। पढ़ने और लिखने का कौशल इन ग़ैर-जन्मजात कौशलों का हिस्सा है। इन्हें उतना ही स्वाभाविक रूप से सिखाया जाना ज़रूरी है जैसे हमारा सामाजिक वातावरण हमें हमारी मातृभाषा बोलना सिखा देता है। हालाँकि इन्हें सीखने के लिए अनुकूल वातावरण के साथ-साथ अभ्यास और सायास निर्देश भी आवश्यक हैं।

पढ़ना और लिखना सीखने में अवधारणात्मक

(विषयवस्तु) और प्रक्रियात्मक (कोई भी प्रक्रिया कैसे की जाती है, यह समझना और उसे बार-बार करके सीखना, जैसे– कार चलाना, रोटी बनाना या बुनाई), दोनों तरह का ज्ञान आवश्यक है। लेकिन हमारी कक्षाओं में पढ़ने-लिखने के एक ही पक्ष यानी प्रक्रियात्मक ज्ञान पर ही ज़ोर दिया जाता है जिसमें बार-बार दोहराव यानी किसी चीज़ को एक से अधिक बार पढ़ने, याद करने और लिखकर दोहराने पर बल दिया जाता है। यह माना जाता है कि अभ्यास से लगातार सुधार आता है। तथ्यों को बार-बार दोहराना या रटवाना और लिखने के नाम पर बार-बार लिखने का अभ्यास कराया जाता है। इस प्रक्रिया में भी विचारों से ज़्यादा शुद्ध और सुन्दर लेखन को ही महत्त्व दिया जाता है। क्या ड्रिल 'समझ' पैदा करने में कोई मदद करता है? पढ़ने और लिखने के वास्तविक मायने 'समझकर पढ़ना' और 'लिखकर समझा पाना' भी हैं, जिसमें पढ़ने और लिखने के साथ अर्थ-ग्रहण करने की प्रक्रिया भी लगातार चलती रहती है। क्या ड्रिल से समझ बन सकती है? यदि बच्चों की बात करें तो उन्हें इस तरह की 'यांत्रिक प्रक्रियाओं' (जैसे– वर्णमाला को दस बार लिखना) में कोई मज़ा नहीं आता।

बच्चों के चित्र और शुरुआती लेखन

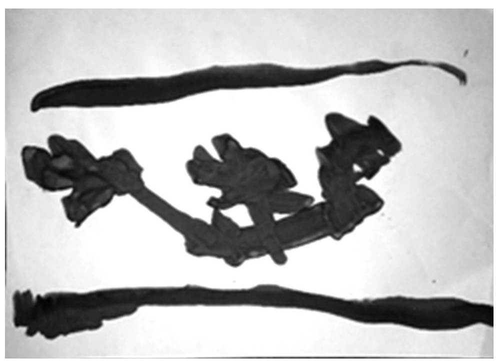
मैं अपने कक्षा के अनुभवों से यह समझ पाई कि हर बच्चा लिखने की अपनी अवस्था में होता है और लिखने की यह शुरुआत स्कूल आने के काफ़ी पहले चित्र बनाने के माध्यम से शुरू हो जाती है। अकसर बच्चों की इन रचनाओं को हम महज गूदागादी (doodling) कहकर अनदेखा कर देते हैं क्योंकि उनमें हमें कोई मतलब समझ नहीं आता। (चित्र 2)



चित्र 2. प्रारम्भिक चित्र और लेखन

गूदागादी भी लिखने की एक ज़रूरी अवस्था है। इस अवस्था में बच्चे बड़ों को देखकर उनकी तरह लिखने का प्रयास कर रहे होते हैं– लम्बे वाक्य एक लाइन में बाएँ से दाएँ, लिखने को वे पकड़ रहे होते हैं। अकसर वे 'डूडलिंग' करते समय उस वाक्य को बोल भी रहे होते हैं जिसे वे लिखने का प्रयास कर रहे होते हैं। 'डूडलिंग' लिखना सीखने के लिए ज़रूरी है क्योंकि इससे बच्चों के मन में लिखने के बारे में कुछ बुनियादी अवधारणाएँ बनती हैं और वे स्वतंत्र लेखन के आदी बनने लगते हैं। ये बूझ या अबूझ रचनाएँ ही लेखन की शुरुआत है।

उदाहरण के लिए, नीचे दिए गए चित्र 3 को ही देखिए। इसमें बच्चे ने दो नीली रेखाओं के भीतर क्या बनाया है कहना कुछ मुश्किल है, लेकिन बच्चा बता पाता है कि ये दरअसल नदी में तीन मछलियाँ और एक शार्क (जो तीन नीली आकृतियों के नीचे) है और शार्क, मछलियों को काट रही है। (चित्र 3)



चित्र 3. तीन मछलियाँ और एक शार्क

इसी तरह चित्र 4 है जिसमें बच्चे से बात करने पर पता चलता है कि आम के पेड़ पर आम लगे हैं और सेब के पेड़ पर सेब। यानी बच्चे को यह स्पष्ट है कि उसने क्या बनाया है, और यह भी कि वह अपने ज़ेहन में आए विचार



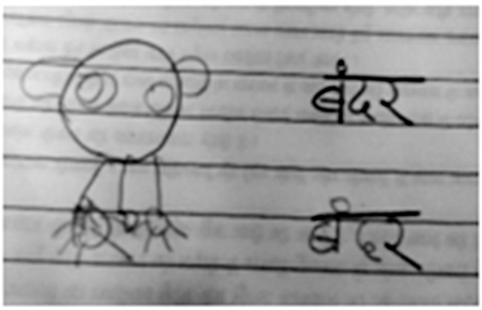
चित्र 4. आम का पेड़ और सेब का पेड़

को लिखित रूप में सम्प्रेषित करने की क्षमता रखता है। वह, जो उसने बनाया है, उसपर बातचीत करना चाहता है और यह भी कि लोग उसकी अभिव्यक्ति में दिलचस्पी लें। लेकिन बच्चे ने क्या बनाया है उसके ज़रिए वह क्या दर्शाना चाहता है उस तक पहुँचने के लिए बच्चे से बात करना ही एकमात्र ज़रिया है।

इसलिए बच्चों से उनके द्वारा की गई गूदागादी, उनके द्वारा बनाई आकृतियों व चित्रों पर बात करना ज़रूरी है। गूदागादी, चित्रों पर की गई बातचीत उनको न केवल और लिखने के लिए और उसपर बातचीत करने के लिए प्रेरित करती है, बल्कि धीरे-धीरे उनकी यह समझ भी पुख़्ता होती है कि कहाँ लिखना है, कितनी जगह चाहिए होगी! अलग-अलग तरह के संकेत, आकार, आदि हो सकते हैं, और आकारों को छोटा-बड़ा भी किया जा सकता है जो लिखने की औपचारिक शुरुआत के लिए बहुत मददगार होता है।

तब धीरे-धीरे चित्रों से वर्ण लेखन पर आ सकते हैं जैसे– अगर उनके चित्रों पर शिक्षिका लेबलिंग (चित्र को नाम देना या व्याख्या कर देना) कर दे तो वे शिक्षिका के लिखे हुए को देखकर हू बहू लिख सकते हैं और अपने चित्र को एक सार्थक नाम भी दे सकते हैं, शुरुआत वर्ण की बजाय शब्द से करना ज़रूरी है। जैसे– यहाँ बच्चे ने बंदर का चित्र बनाया और साथ में शिक्षिका ने 'बंदर' लिख दिया और बच्चे ने शिक्षिका के लिखे हुए को देखकर नीचे 'बंदर' लिखा। (चित्र 5)

इस तरीक़े से शिक्षिका बच्चों के मन की बात को ही शब्द दे रही होती है। इससे बच्चे यह समझने लगते हैं कि चित्र भी अपनी बात कहने का एक माध्यम हो सकते हैं। उनके मन में चीज़ों, व्यक्तियों और घटनाओं की जो छवि होती है उसे वे चित्रों में उकेरने का प्रयास करते हैं। निश्चित तौर पर ये वही चीज़ें होती हैं जिनसे उनका जुड़ाव होता है या जिनका उनके मन पर गहरा प्रभाव होता है। एक तरह से यह उनके अनुभवों के प्रतीक ही होते हैं। शिक्षिका का बच्चे के चित्र पर उससे पूछकर 'बंदर' लिखना, लिखने के कार्यात्मक प्रयोग को तो दर्शाता ही है साथ ही बच्चे के मन में लिखने की अवधारणा भी उभरने लगती है।

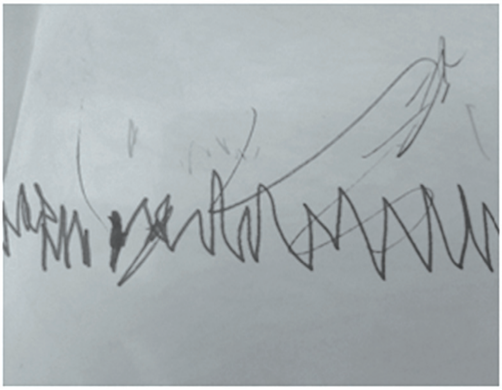


चित्र 5. बंदर

यहाँ चित्र लेखन के द्वारा बच्चे के मन में यह समझ भी विकसित होती है कि बोलने के अलावा लिखना भी अपनी बात कहने का एक तरीक़ा हो सकता है। प्राथमिक कक्षाओं में 'शुरुआती कक्षाओं' (पहली और दूसरी) में पढ़ाने वाले शिक्षकों का इस चित्र लेखन को पढ़ने-लिखने की तैयारी के रूप में देखना आवश्यक है।

चित्र बनाने के साथ

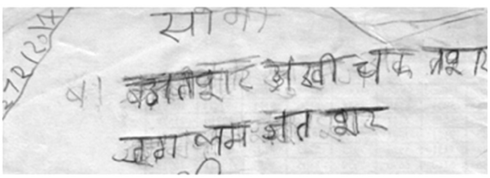
चित्रों और गूदागादी के बाद कुछ ऐसी रचनाएँ मिलेंगी जिनका अर्थ बच्चा ही बता पाएगा। उसने अपनी तरफ़ से एक पूरी बात



चित्र 6. गूदागादी भी लेखन की शुरुआत है

कहने की कोशिश की है। यह हमारे लिए अर्थपूर्ण नहीं होता, लेकिन बच्चे के मन में निश्चित तौर पर इसका एक अर्थ होता है और हम इस अर्थ तक पहुँच सकें इसके लिए हमारा बच्चे से बात करना आवश्यक हो जाता है।

लिखने के लिए ज़रूरी है कि बच्चे ने चित्र बनाने के साथ क्या बनाया है उसे लिखने का प्रयास भी करें। शुरुआती दौर में यह गूदागादी



चित्र 7. प्रारम्भिक वाक्य लेखन

जैसा दिखता है लेकिन अक्षरों और शब्दों को सीखने के साथ यह बाक़ायदा एक पूरी बात में बदलते हुए दिखता है।

बच्चे के विचार या कक्षा में हुई बातचीत भी लिखने के लिए विचार मुहैया कराती है। जैसे, कभी कक्षा में किसको कौन-सी मिठाई पसन्द है पर चर्चा हुई, तो मुझे लड्डू पसन्द हैं और मेरे दोस्त को जलेबी, दोनों के नाम के साथ मिठाई लिखा जा सकता है। साथ ही बच्चों को कुछ ऐसे वाक्यों पर काम करने के लिए दिया जा सकता है जिसमें वाक्य संरचना समान हो और एक या दो शब्द बदल रहे हों, जैसे–

आज मैंने रास्ते में पेड़ देखा।

आज मैंने रास्ते में पहाड़ देखा।

आज मैंने रास्ते में नाला देखा।

या फिर किसी कहानी के शीर्षक में अपना नाम रखकर देखो-

धानी के तीन दोस्त
सलमान के तीन दोस्त
आयशा के तीन दोस्त
रिमशा के तीन दोस्त

इससे बच्चे भाषा और वाक्य संरचना से परिचित होते हैं और एक-दो शब्दों के उलटफेर के साथ आसानी से अपनी बात कह पाते हैं।

बातचीत और स्वतंत्र लेखन

कृष्ण कुमार ने अपनी पुस्तक *बच्चे की भाषा और अध्यापक* में कहा है, "अध्यापक की हैसियत से हमें बच्चों को लेखन से परिचय बातचीत के एक रूप में देना चाहिए।" (अध्याय 4, पृष्ठ 49) जैसे, किसी कहानी पर चर्चा करने के बाद उससे कोई नई कहानी बनाने के सुराग़ मिल सकते हैं या फिर कक्षा के बच्चों के किसी विषय या घटना से जुड़े अनुभवों को सुनने के बाद बच्चों को उन्हें लिखने को कहा जा सकता है। बातचीत करने से लेखन के लिए ख़ाका भी मिल जाता है कि क्या-क्या हुआ, क्या-क्या हो सकता है, या फिर क्या-क्या देखा, आदि। किसी चित्र पर बातचीत करके उसके बारे में अपने विचार लिखे जा सकते हैं। इस तरह किसी मुद्दे पर दूसरों के विचार सुनने से और बातचीत करने से नए विचार बनते हैं।

एक बार दूसरी और तीसरी कक्षा के बच्चों को अपने मित्र, पसन्दीदा चीज़ या भाई-बहन

को अपने मन के विचार लिखकर बताने को कहा गया। बच्चों ने अपने मन की बातें लिखीं। जो बच्चे लिखना सीखने की शुरुआत कर रहे थे उन्होंने भी अपने मन की बात को लिखने की कोशिश की।

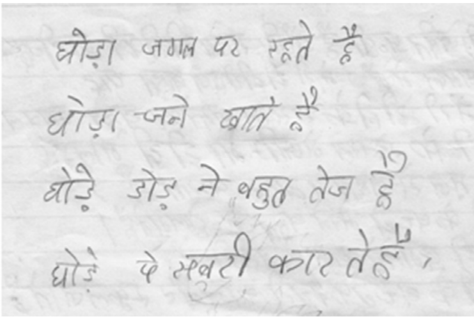
कक्षा 2 के एक बच्चे ने लिखा–

घोड़ा जंगल पर रहते है

घोड़ा चने खाते है

घोड़े डोड़ ने बहुत तेज है

घोड़े पे सबरी कार ते है,



चित्र 8. घोड़े पर विचार

यहाँ बच्चे ने मानक वर्तनी का उपयोग नहीं किया है, लेकिन वह घोड़े के बारे में जो जानता है वह बता रहा है और उसे बताने की उत्कण्ठा भी झलकती है। ज़रूरी यह है कि बच्चे में अपनी बात को लिखकर बताने की इच्छा बनी रहे। यहाँ बहुवचन और एकवचन की अवधारणा बन चुकी है लेकिन उसका प्रयोग कैसे करना है, यह सीख रहा है। पहले दो वाक्यों में घोड़ा लिखा है और बाद के दो वाक्यों में घोड़े। बच्चे के लेखन में वर्तनी की 'अशुद्धियों' को निस्सन्देह नज़रअन्दाज करना चाहिए। वर्तनी की ये अशुद्धियाँ बच्चे के जीवन में स्थाई नहीं रहेंगी। ये उसके लिखना सीखने की स्वाभाविक प्रक्रिया का हिस्सा मात्र हैं।

पुस्तकालय की मदद से लेखन

एक अन्य सन्दर्भ में भोपाल शहर के एक सरकारी स्कूल में कक्षा 2 से 5 तक की बालिकाओं के साथ लेखन की कुछ गतिविधियाँ की गईं। इनमें से लगभग सभी लड़कियों को पढ़ना आता था और कक्षा 2 और 3 की कुछ लड़कियाँ ऐसी थीं जो अभी उतने अच्छे तरीक़े से लिख नहीं पाती थीं। इन बच्चियों के साथ कक्षा में पढ़ने-लिखने को लेकर परम्परागत तरीक़े से ही काम हुआ था और इन्होंने हाल में अपने स्कूल प्रांगण में लाइब्रेरी खुलने के बाद कुछ कहानियों और कविताओं की किताबें और बाल-पत्रिकाएँ पढ़ना शुरू किया था। मैंने इन बच्चियों के साथ किताबों को लेकर कुछ गतिविधियाँ करना तय किया।

पहले कुछ दिनों तक बालिकाओं को कहानियाँ सुनाईं और उन्हें ख़ूब सारे चित्र बनाने दिए जिससे वे मुझसे और लाइब्रेरी की किताबों से थोड़ा परिचित हो जाएँ।

फिर बालिकाओं के समूह बनाए गए। एक समूह में कक्षा 2 से 5 की एक-एक बच्ची थी, इस तरह एक समूह में कुल चार बालिकाएँ थीं। कुल तीन समूह बने। हर समूह को एक किताब दी गई और उन्हें बताया गया कि किताब पढ़ने के बाद क्या करना है।

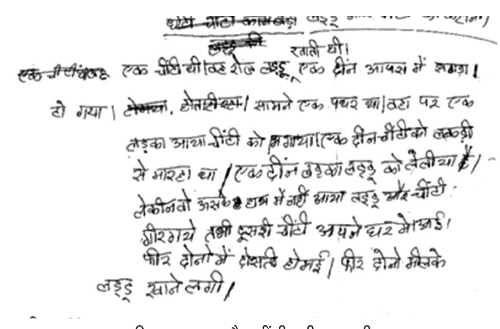
समूह 1

किताब का नाम : *छोटी चींटी काम बड़ा* (प्रकाशन– राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली)

यह एक चित्रकथा है जिसमें पुलक विश्वास के बनाए हुए चित्र हैं और कोई भी कहानी लिखी हुई नहीं है।

सभी बालिकाओं को समूह में चित्रकथा देखने के बाद आपस में चर्चा करके इस किताब के लिए एक कहानी लिखनी थी और उसे एक नया शीर्षक भी देना था।

उन्होंने जो लिखा उसे चित्र 9 में पढ़ सकते हैं।



चित्र 9. लड्डू और चींटी की कहानी

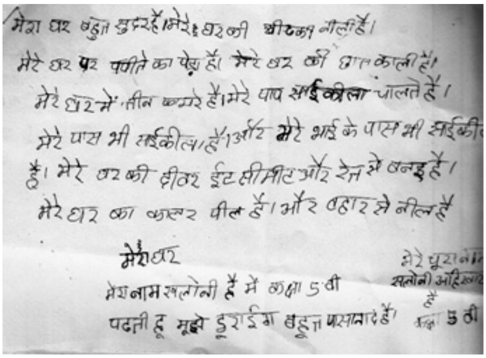
समूह 2

किताब का नाम : *मेरा घर* (प्रकाशक– तूलिका)।

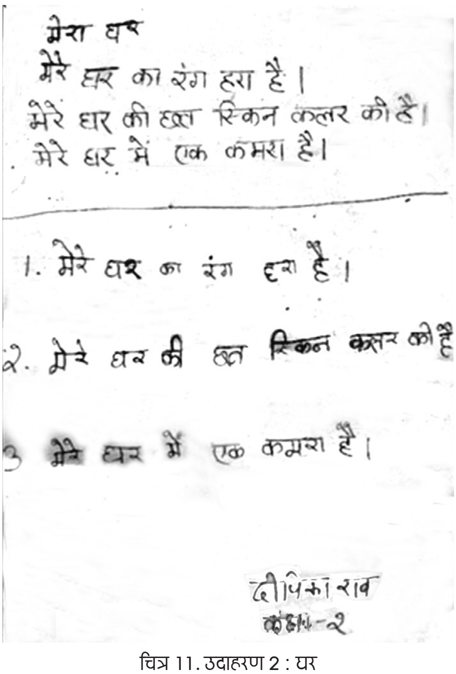
यह दो बच्चों के बीच का संवाद है जिसमें एक बच्चा अपने घर के विभिन्न हिस्सों (खिड़की, दरवाज़े, छत आदि) के बारे में बताता है कि किस तरह उसका घर सबसे अच्छा है।

सभी बालिकाओं को समूह में कहानी पढ़ने के बाद कहानी के फ़ॉर्मेट के अनुसार ही अपने घर का विवरण लिखना था।

चित्र 10 और 11 'मेरे घर' के दो उदाहरण देखें।


मेरा घर बहुत सुन्दर है। मेरे घर की खीडकी नीली है।
मेरे घर पर पपीते का पेड़ है। मेरे घर की छत काली है।
मेरे घर में तीन कमरे है। मेरे पाप साईकील चालते हैं।
मेरे पास भी साईकील है। और मेरे भाई के पास भी साईकील है। मेरे घर की दीवर ईट सीमीट और रेत से बनइ है।
मेरे घर का कलर पील है। और बहार से नील है
मेरा घर
मेरा नाम सलोनी है मै कक्षा 5 वी पढती हू मूझे डूराईग बहूत पसन्द है।
मेरे पूरा नाम सलोनी अहिरवार है कक्षा 5 वी

चित्र 10. उदाहरण 1 : घर


मेरा घर
मेरे घर का रंग हरा है।
मेरे घर की छत स्किन कलर की है।
मेरे घर में एक कमरा है।
1. मेरे घर का रंग हरा है।
2. मेरे घर की छत स्किन कलर की है
3. मेरे घर में एक कमरा है।
दीपिका राव
कक्षा-2

चित्र 11. उदाहरण 2 : घर

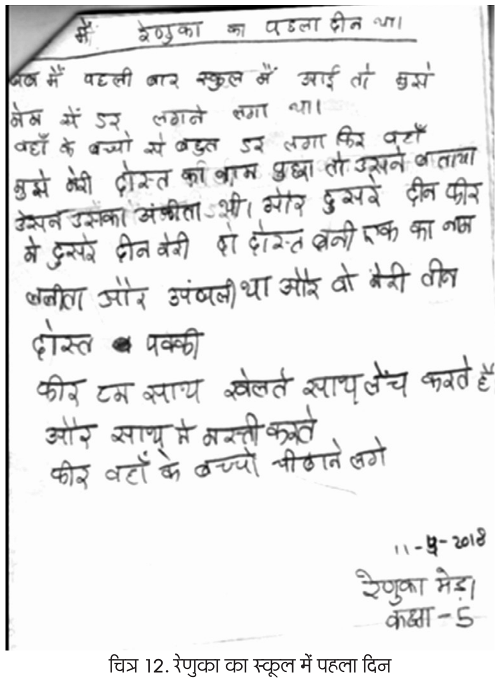
समूह 3

किताब का नाम : *स्कूल में प्रणव का पहला दिन* (प्रकाशक– एकलव्य)।

यह किताब एक बच्चे, प्रणव के बारे में है जो पहली बार स्कूल गया और उसे एक दोस्त भी मिला।

सभी बालिकाओं को समूह में कहानी पढ़ने के बाद आपस में चर्चा करके कहानी के फ़ॉर्मेट के अनुसार ही स्कूल में अपने पहले दिन को याद करके लिखना था कि जब वे पहले दिन स्कूल आई थीं तो उनको कैसा महसूस हुआ और उनके साथ क्या घटनाएँ घटी थीं?

चूँकि ये बालिकाएँ इस तरह का काम पहली बार कर रही थीं इसलिए उन्हें समझाने में, व्यवस्था बनाने में और उनके समझने में समय लगा। बच्चों को एक-दूसरे की बात सुनने और चर्चा करने में समय लगा। ज़्यादातर किसी एक या दो के ही विचार आए, बाक़ी शान्त थे। उन्हें कलर, पेंसिल, आदि एक-दूसरे से साझा करने की आदत नहीं थी, और उन्होंने लड़ने में भी समय बिताया। लेकिन धीरे-धीरे उनकी समझ


मैं रेणुका का पहला दीन था।
जब मैं पहली बार स्कूल मैं आई तो मुसे मेन में डर लगाने लगा था।
वहाँ के बच्चो से बहुत डर लगा फिर वहाँ मुझे मेरी दोस्त का नाम पुछा तो उसने बताया उसने उसका अंकीता थी। और दुसरे दीन फीर से दुसरे दीन मेरी दो दोस्त बनी एक का नाम वनीता और उपंबली था और वो मेरी तीन दोस्त पक्की
फीर हम साथ खेलते साथ लंच करते है
और साथ मे मस्ती करते
फीर वहाँ के बच्चो चीढाने लगे
11-9-2018
रेणुका मेडा
कक्षा-5

चित्र 12. रेणुका का स्कूल में पहला दिन

में आया कि ऐसा नहीं करना है क्योंकि उनकी शिकायतों को महत्त्व नहीं दिया गया।

जैसा कि उदाहरण से देख सकते हैं कि बच्चियों ने कार्य को समझकर बख़ूबी अपनी बात रखी। हालाँकि शुरुआत में थोड़ा समय ज़रूर लगा। इन सभी बालिकाओं को पढ़ना-लिखना तो आता था पर कुछ बालिकाएँ सीखने की प्रक्रिया में थीं। लिखने में काफ़ी ग़लतियाँ थीं, लेकिन पढ़ने पर सभी विचार स्पष्टता से समझ आते थे।

यह भी देखा गया कि चर्चा में कम बोलने या कम सहभागिता रखने वाली बालिकाओं ने लिखने में अधिक रुचि दिखाई और उनका लेखन ज़्यादा समृद्ध रहा।

कक्षा 2 की एक बच्ची जो लिख नहीं पा रही थी तो उसके विचारों को मैंने उसकी भाषा में लिख दिया और फिर उसे वही वाक्य लिखने को दिए तो वह ज़्यादा अच्छी तरह से लिख पाई। इसका उदाहरण चित्र 11 है (दीपिका राव कक्षा 2)। इस तरह उनकी टीचर से यह भी चर्चा की गई कि जो बच्चे लिख नहीं पा रहे, उन्हें उनके विचारों से ही लिखने की शुरुआत कराई जा सकती है क्योंकि वे उनके ज़्यादा निकट होंगे।

उपर्युक्त उदाहरण बच्चे के शुरुआती लेखन यानी चित्रांकन और गूदागादी से लेकर स्वतंत्र अभिव्यक्ति तक लेखन के कुछ चरणों को दिखाते हैं और यह भी दिखाते हैं कि किस तरह लेखन एक सीधी प्रक्रिया न होकर घुमावदार प्रक्रिया है जिसे वर्णमाला, मात्रा, शब्द और वाक्य जैसी एकतार प्रक्रिया से परे हटकर देखने की ज़रूरत है। इन कक्षाओं में बच्चों को लेखन के मौक़े दिए गए और लेखन से पहले या तो उन्होंने ख़ुद कहानी पढ़कर चर्चा की या उन्हें कहानी सुनाई गई। साथ ही यहाँ बाल साहित्य के माध्यम से उन्हें लेखन का सार्थक मौक़ा प्रदान किया गया और कहानी या उससे जुड़े हुए अनुभव पर लिखने के लिए कहा गया। जिन बच्चों के पास विचार तो थे लेकिन वे लिख नहीं पाए तो शिक्षिका ने ख़ुद ही उनकी बात को लिख दिया।

यहाँ ज़रूरत थी तो बस लेखन के अवसर, अभ्यास और 'ग़लतियों' पर सही प्रतिक्रिया देने और बच्चों को लिखने के लिए प्रोत्साहित करने की। भाषा की कक्षाओं में हमें लगातार इस तरह के अवसरों को बनाए रखना होगा ताकि हमारी प्राथमिक कक्षाओं में यह प्रक्रिया सरल, स्वाभाविक और सार्थक रूप से हो सके। तभी हम बच्चों को सृजनात्मक लेखन की ओर अग्रसर होता देख पाएँगे।

सन्दर्भ

टिमोथी, शानाहन (1988), *द रीडिंग टीचर*, इंटरनेट से-https://www.researchgate.net/publication/280568074_reading_and_Writing_Relationships_and_their_Development

कृष्ण कुमार (2015) *बच्चे की भाषा और अध्यापक, एक निर्देशिका* नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली

रीडिंग फॉर मीनिंग (2008), एनसीईआरटी, नई दिल्ली

मुकुन्दा, कमला (2009), *स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?* एकलव्य, भोपाल

लिखने की शुरुआत : एक संवाद, एनसीईआरटी, नई दिल्ली

कृष्ण कुमार (2019), *पढ़ना, ज़रा सोचना, जुगनू,* तक्षशिला का प्रकाशन, भोपाल

कुमारी शारदा, *प्राथमिक शिक्षक* अक्तूबर 2007, 'सही मायनों में आख़िर पढ़ना है क्या', एनसीईआरटी, नई दिल्ली।

'भाषा के व्यापक उद्देश्य' विषय पर सागर यूनिवर्सिटी में मनोज कुमार का व्याख्यान।

पारुल बत्रा दुग्गल पिछले सात वर्षों से अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन भोपाल में काम कर रही हैं, और फ़िलहाल सरकारी स्कूल के शिक्षकों और बच्चों के साथ शुरुआती पढ़ने-लिखने की प्रक्रियाओं को समझने में जुटी हैं। बच्चों के लिए कई किताबें प्रकाशित। बाल-साहित्य और बच्चे कैसे सीखते हैं में गहरी दिलचस्पी है।

सम्पर्क : parul.duggal@azimpremjifoundation.org

समझ की खिड़की खोलता है साहित्य

अजा शर्मा

स्कूलों में पढ़ना-लिखना सिखाने की जद्दोजहद में पढ़कर समझने, सवाल करने, ख़ुद का नया लिखने और लिखे हुए पर प्रतिक्रिया देने जैसी महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाएँ सीमित हो जाती हैं। चिन्तनशील साक्षरता की जो बात आजकल होती है उसके लिए ज़रूरी है कि बतौर पाठक बच्चों को हम एक स्तर आगे लेकर आएँ और लिखे के पार जाना सिखाएँ। चिन्तनशील पाठक बनने और साहित्य का आस्वादन करने के लिए संवाद की यह प्रक्रिया बेहद ज़रूरी है। बच्चों के साथ काम करने के अपने ज़मीनी अनुभवों से समृद्ध अजा का यह आलेख। सं.

पाठक प्रतिक्रिया और साहित्य

इस लेख में अमरीकी शिक्षाविद लूईस रोज़नब्लॉट के पढ़ने से सम्बन्धित शोध और विचारों पर एक अनुभव-आधारित समझ विकसित करने का प्रयास किया गया है। रोज़नब्लॉट की थ्योरी को 'रीडर रिस्पोंस' (पाठक प्रतिक्रिया) थ्योरी कहते हैं जिसमें पढ़ने को किताब और पाठक के बीच एक लेन-देन की तरह देखा गया है। 'पाठक को असक्रिय' और 'पाठ को सर्वोच्च' मानने के नज़रिए से उन्होंने हमारा ध्यान खींचा और अर्थ निर्माण में पाठक की सक्रिय भूमिका को समझने और उभारने पर ज़ोर दिया। इसको हम चार मुख्य बिन्दुओं में समझ सकते हैं :

- पढ़ना एक निर्माणात्मक प्रक्रिया है
- अर्थ, सिर्फ़ लिखे शब्दों में नहीं है
- पाठक सक्रियता से अपने अनुभवों, पूर्व ज्ञान के आधार पर अर्थ निर्माण करते हैं
- जानकारी के लिए पढ़ना बनाम रस के लिए पढ़ना

हमारे शैक्षिक उद्देश्यों के सन्दर्भ में इस थ्योरी को समझने की आवश्यकता

इन सिद्धान्तों पर आगे बढ़ने से पहले, शायद मन में सवाल उठे कि हम रोज़नब्लॉट के सिद्धान्तों की बात क्यों कर रहे हैं? अपने एक लेख में शिक्षाविद शोभा सिन्हा हमारा ध्यान इस बात की ओर खींचते हुए कहती हैं कि जहाँ देश में बड़े सर्वे और हमारी कक्षाओं के हमारे अनुभव, पढ़ने के न्यूनतम कौशलों के विकसित होने पर भी सवाल खड़े कर रहे हों वहाँ लूई रोज़नब्लॉट को समझने की आखिर क्या आवश्यकता है? हमारी चिन्ताएँ तो डिकोडिंग से ही आगे नहीं बढ़ पा रही हैं! पढ़ने पर हमारी समझ भाषा कक्षाओं में क्या हो और क्या नहीं हो, तक ही सीमित है। यहाँ तक कि कई बार हम साहित्य को भी भाषा सीखने के ज़रिए की नज़र से ही देखते हैं। बच्चे के पढ़ पाने के लिए हम तमाम प्रयास करते हैं, कई तरह की योजनाएँ, एनजीओ कार्यक्रम, प्रशिक्षण आदि और सम्बन्धित टीएलएम व टूल भी निर्मित हो गए हैं। पर फिर भी पढ़ने के इस चक्र में हमारा कितना ध्यान पाठक पर है? क्या हम पढ़ने के सफ़र पर निकले बच्चों को सच में पढ़ने से जोड़ पा रहे हैं? पढ़ने से जुड़ना आख़िर

होता क्या है?

एक अच्छा पाठक कौन है? जो फर्राटे से सब-कुछ पढ़ ले या फिर जो पढ़े हुए को समझ पाए या वो जो पढ़े हुए का अर्थ अपने जीवन में भी समझ पाए। अगर आप तीसरे विकल्प से सहमत हैं तो यह मानेंगे कि ऐसा तभी होगा जब पाठक, पढ़ने से सही मायनों में जुड़ पाए। हमारी शिक्षा नीतियाँ कुछ इसी तरह का सपना देखती हैं। हमारे साक्षरता कार्यक्रम बच्चों के लिए सिर्फ़ पढ़ना-लिखना आने से कहीं ज़्यादा चाहते हैं। तो फिर पढ़ने से जुड़े काम भी, जानकारी आधारित पढ़ने और थोड़ा-बहुत सीख जाने से कहीं आगे, पढ़ने के अनुभव और उसके अहसास को सक्रिय करने पर केन्द्रित होने चाहिए। पर क्या यह हर पाठ के साथ सम्भव है? शायद नहीं। यहीं पर, साहित्य हमारे जीवन में और हमारी कक्षाओं में प्रवेश करता है।

बच्चों के लिए साहित्य क्यों ?

हमारी व्यवस्था में पाठ्यपुस्तक का स्थान, स्कूली शिक्षा में उसकी भूमिका इतनी प्रबल है कि हमारा सारा ध्यान उसे बनाने, लिखने, वितरण करने और पूरा करने में रहता है। साहित्य के बारे में भी हमारा सोचने का नज़रिया पाठ्यपुस्तक जैसा ही बँध कर रह जाता है। पाठ्यपुस्तक का अपना एक उद्देश्य है और साहित्य के साथ इसे मिलाना ठीक नहीं। साहित्य से बच्चों को बहुत छोटी उम्र से जोड़ना ही असल में इसलिए आवश्यक हो जाता है कि साहित्य सम्भावनाओं से भरा होता है। इसमें कोई तय अर्थ जोड़ने की आवश्यकता नहीं होती, इसमें अपने अनुभवों को समझा जा सकता है और अपने अर्थों को स्वयं गढ़ा जा सकता है। ऐसा कहा गया है कि 'साहित्य एक आइना भी है और खिड़की भी'। साहित्य दुनिया की हमारी समझ को विस्तार देता है और इस दुनिया में हमारे होने को भी। इनके अलावा साहित्य बच्चों को भाषा का वह आनन्द और उसकी अनुभूति भी देता है जो पाठक बनने के उनके सफ़र के लिए एक ज़रूरी पड़ाव है, पढ़ने से हमें जीवन पर्यन्त जोड़ देता है, सिर्फ़ स्कूली शिक्षा के सफ़र तक नहीं।

एक अच्छा साहित्य पढ़ते समय कुछ ऐसे अहसास दिल में छप जाते हैं जैसे किसी पहाड़ी पर एक ख़ूबसूरत सूर्यास्त देखते हुए हों। आपने शायद यह अनुभव किया हो— एक कहानी पढ़ते हुए उस कहानी के किसी पात्र में ख़ुद को पाना, या किसी वाक़ए पर मन का ख़ुश हो जाना, गहरे अहसासों को शब्द मिलना, पढ़े हुए पर किसी से बात करने का मन, कुछ देर उस पर सोचते रहना। हम जब साहित्य पढ़ते हैं तो हम इन सब अहसासों से गुज़रते हैं और कभी इनपर सोचते हैं और बात करते हैं। इनका आपके लिए क्या फ़ायदा है? या इनकी वजह से आपकी ज़िन्दगी में क्या कोई तात्कालिक प्रभाव पड़े? नहीं? तो क्या आप ऐसे अहसास के ज़रियों को ख़त्म कर देंगे? शायद नहीं। ऐसे अहसास हमारी मानवीय ज़रूरत का हिस्सा हैं। हमारा होना, इन अनुभवों में गुँथा-बुना है। और यही अहसास प्राप्त करना भी हमारा पढ़ने का उद्देश्य है। बच्चों के लिए भी पढ़ने के दोनों उद्देश्य सार्थक रूप से अनुभव करना, पढ़ने के सफ़र में आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है।

इसके अलावा साहित्य हमें भाषा की ख़ूबसूरती से भी परिचित कराता है जो जाने-अनजाने में हमारे सोचने-विचारने और कहने में शामिल हो जाता है।

साहित्य और पाठक का जुड़ाव

अमरीकी शिक्षाविद लुई रोज़नब्लॉट का मानना था कि 'पढ़ना, पाठक[1] और पाठ के बीच एक लेन-देन की तरह है। एक कहानी या कविता काग़ज़ पर फैली स्याही से ज़्यादा नहीं हैं, जब तक एक पाठक उन्हें सार्थक चित्रों

1. पढ़ने के लिए लिखे हुए को text कहते हैं, इसका सम्बन्ध textbook से ही नहीं है बल्कि, किसी कहानी की किताब में भी शब्दों को text कहा जाएगा। हिन्दी में text के लिए 'पाठ' शब्द इस्तेमाल होता है।

के एक समूह में तब्दील नहीं कर देता है।'' (रोज़नब्लॉट, 1938)

पाठक और पाठ के बीच का यह लेन-देन सबके लिए एक-सा नहीं हो सकता है। यहाँ तक कि पाठक के जीवन काल में भी एक ही पाठ पर उसके अलग विचार हो सकते हैं। हर पाठक के पीछे है उसका पूर्व ज्ञान, उसकी वर्तमान स्थितियाँ, जीवन से जुड़े अनुभव, उसके सांस्कृतिक माहौल, जो किसी पाठ की ओर उसके रिस्पोंस के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसलिए रोज़नब्लॉट का मानना है कि पढ़ना एक 'पाठ-आधारित स्थिर अनुभव नहीं है' और न पाठक 'निष्क्रिय' है। पढ़ना, पाठक और पाठ के बीच एक लेन-देन की तरह है।

उदाहरण के लिए, 'सिर का सालन' कहानी पर बच्चों के साथ काम करने का अनुभव।[2] इस कहानी में आंध्रप्रदेश स्थित एक मुस्लिम परिवार में, रविवार को माँस का पकवान बनने का विवरण है जो सभी का पसन्दीदा है। इस कहानी को शाकाहारी बच्चों के साथ पढ़ने और माँसाहारी बच्चों के साथ पढ़ने के मेरे अनुभव बहुत अलग हुए। यहाँ यह बात महत्त्वपूर्ण है कि सिर्फ़ शाकाहारी या माँसाहारी होने के अलावा ये बच्चे समाज के अलग-अलग तबक़ों से भी सम्बन्ध रखते थे और इनकी जाति और सांस्कृतिक पहचान भी एक-दूसरे से भिन्न थी। जब हम सब पुस्तकालय में इस कहानी को पढ़ रहे थे तो माँस खाने वाले बच्चे इस तरह के



चित्र: पिटारा

पकवान घर में बनने के अपने अनुभव कहानी के कई हिस्सों में जोड़ रहे थे।

शाकाहारी बच्चों के भी रविवार को ख़ास पकवान बनने के कई अनुभव सामने आए। पर माँस खाने पर सांस्कृतिक और वैचारिक भिन्नता पर भी बच्चों ने अपने विचार जताए। मीट खाने वालों के मुँह में पानी ही आ गया तो नहीं खाने वालों को लगा कि यह ठीक नहीं है। उस दिन पुस्तकालय में इसपर खुल कर बात हुई कि हम जो खाते हैं वह क्यों खाते हैं। हमें एक-दूसरे के खाने पर जो आपत्ति होती है वह क्यों होती है। कहानी भारत के दक्षिण हिस्से से है, तो वहाँ के रहन-सहन को देखने का नज़रिया भी बातचीत में उभर कर आया और ऐसे ही कमरे में बैठे कई बच्चों ने अपने गाँव और अपने तौर-तरीक़ों की बात की।

जब इस कहानी को पढ़कर सुनाते हुए बातचीत के अवसर आए तो वो सिर्फ़ कहानी में आए मुश्किल शब्दों, दक्षिण भारत में कौन-से राज्य हैं, भेड़ा कैसा दिखता है, या मुश्किल शब्दों के अर्थ समझने तक ही सीमित नहीं थे। पाठ से जुड़ने के और कई अवसर आए जिसपर बच्चों ने अपने जीवन के अनुभवों, अपनी सांस्कृतिक संवेदनाओं, अपनी चिन्ताओं आदि को भी सामने रखा। कहानी को पढ़ने का उनका अनुभव अब कहानी के शब्दों को समझ पाने से कहीं आगे था। एक होटल में मेनू का विवरण पढ़ने, या अख़बार में विज्ञापन पढ़ने, या पाठ्यपुस्तक में पाठ पढ़कर उत्तर देने से, कहानी पढ़ने का यह अनुभव कहीं अलग था। यहाँ सिर्फ़ जानकारी हासिल करना उद्देश्य नहीं था, बल्कि यहाँ पाठ के साथ एक लेन-देन हुआ जिसमें सिर्फ़ लेखक का लेखन ही सर्वोच्च नहीं था बल्कि पढ़ने वाले के विचार भी उनके पढ़ने के अनुभवों में शामिल थे। पढ़ने के इस अनुभव को रोज़नब्लॉट 'सौन्दर्यपरक' पढ़ना कहती हैं। सामान्य शब्दों में कहें तो 'पाठ को जीने' का अनुभव। यह उनके सिद्धान्तों में शामिल एक अहम बात है।

2. *सन्दर्भ* में प्रकाशित 'सिर का सालन' पढ़ते हुए विविधिता का ख़्याल

अच्छे पाठक असल में पढ़ने की प्रक्रिया में, ख़ासकर साहित्य पढ़ने की प्रक्रिया में इन सभी भूमिकाओं से गुज़रते हैं और इस तरह से वे उस पाठ को जीते हैं।

रोज़नब्लॉट के इन सिद्धान्तों के आलोचकों का कहना है कि फिर तो किसी पाठ का कोई एक मतलब ही नहीं रहेगा क्योंकि निजी रिस्पोंस को इतना महत्त्व दिया जा रहा है? साहित्य पढ़ने में फिर भाषा, शैली, थीम पर भी तो बच्चों का ध्यान लाना आवश्यक है और न सिर्फ़ निजी अनुभवों पर? हमारे शिक्षकों के लिए भी यह एक बहुत बड़ी समस्या है। बचपन से ही हम आदतन, एक 'सही' मतलब पर पहुँचने के प्रयास में रहे हैं। किसी साहित्य को कभी पाठ्यपुस्तक में पढ़ा भी हो, या फिर कोई सुन्दर कविता पर प्रश्न-उत्तर लिखा हो तो शायद यही कि 'इस कविता में कवि का आशय है कि... ' हम सभी लिखने के इस तरीक़े से परिचित होंगे चाहे कैसे भी स्कूल में, किसी भी क्षेत्र में पढ़े हों, ये अनुभव तो हम सबका रहा ही होगा।

आलोचकों के लिए रोज़नब्लॉट का यही कहना है कि हर लेखन / पाठ अपनी सीमाओं के साथ आता है और पाठक को इसकी ओर तर्क सहित सजग करना आवश्यक है। किसी भी अर्थ को पाठ पर फ़िट बैठाने के पक्ष में वे नहीं थीं। पर पाठ के मर्म और पाठक के विचारों के बीच में एक सन्तुलन होना आवश्यक है। दोनों में से सिर्फ़ एक सर्वाधिक महत्त्व न ले, दोनों के लिए जगह हो। हमारा कर्त्तव्य बनता है कि हम निजी रिस्पोंस के लिए जगह बनाएँ। यह करने का एक तरीक़ा है कि पाठ और पूर्व ज्ञान/अनुभव को जोड़ने के मौक़े प्रदान किए जाएँ। ये लिखित या मौखिक रूप से पढ़ने के पहले और पढ़ने के बाद किया जा सकता है। पुस्तकालय और अच्छे साहित्य के माध्यम से जब ऐसा पढ़ने का अनुभव बच्चों को लगातार होता है तो पाठक बन रहे बच्चे को लिखे हुए पर सवाल उठाने, उसकी रोशनी में अपने विचारों को जाँचने या समझने और नए विचारों के लिए दिमाग़ खोलने के मौक़े मिलते हैं और वो भी एक सुरक्षित माहौल में, जहाँ तर्क-वितर्क की सम्भावना भी मिले। स्वयं के लिए अर्थ निर्माण के ये आवश्यक पड़ाव हैं।

पाठक प्रतिक्रिया : कैसे सक्रिय करें ?

अपने अनुभव के दौरान एक स्कूल में काम करते हुए जब पहली बार कहानी पढ़ने के पश्चात मैंने बच्चों को अपनी बात रखने को कहा– तो कुछ देर एक सन्नाटा-सा हो गया। उन्होंने एक-दूसरे को देखना शुरू कर दिया। जिन प्रश्नों में एक सामूहिक और तय जवाब की सम्भावना थी वहाँ वो चुप नहीं थे। और न पूछते हुए भी बच्चों ने बता दिया कि कहानी से उन्होंने क्या सीखा। यही बात लेखन और चित्र बनाने के समय भी हुई। स्कूल में जैसे अपनी बात कहने, लिखने, बनाने की आदत ही ख़त्म हो चुकी थी। ये संघर्ष कुछ समय तक चलता रहा। मैंने कहानी की किताब कुछ देर उनके हवाले कर दी और उसे देखने के लिए छोड़ दिया। उस समय उनकी आपस की बातचीत चित्रों, पात्रों आदि के बारे में थी। यहाँ दो बातें हैं– पहली, अपनी बात कहने का मौक़ा आने पर संघर्ष, दूसरी टीचर की ग़ैर-मौजूदग़ी में स्वतंत्रता से चर्चा कर पाना। हालाँकि अब इन बच्चों के साथ बातचीत करने में दिक़्क़त नहीं आती और अब ख़ुद भी अपनी बात कहने के लिए वो आगे आते हैं। अब उन्हें ये इल्म हो गया है कि किताब में उनके लिए निर्धारित प्रश्नों के अलावा बहुत कुछ होता है और अपनी बात कहने पर कोई रोक-टोक नहीं होगी। इन बच्चों में से कई बच्चे अपनी कक्षा में 'फर्राटे' से पढ़ पाने के लिए जाने जाते हैं। मगर अपनी बात रखने में वे पीछे ही रहे।

ऐसा कहा जाता है कि बच्चे जब स्कूल आते हैं, तो खाली घड़े या स्लेट की तरह होते हैं। मुझे ऐसा बिलकुल नहीं लगता, पर ये ज़रूर लगता है कि शायद नया भरने के लिए उन्हें खाली कर दिया जाता है। यह बहुत ज़रूरी है

कि हम इन घड़ों और स्लेटों की बातों में न उलझ कर बच्चों को ऐसा माहौल दे पाएँ जो अपने-आप को व्यक्त करने की स्वाभाविकता उनसे न छीने और जो सच में उन्हें एक पाठक के रूप में विकसित करे। इन सम्भावनाओं को हमें कक्षा में विकसित करना होगा और ऐसे मौक़े बनाने होंगे। यहाँ कुछ ऐसे ही तरीक़ों का ज़िक्र है–

1. बातचीत

बातचीत पर स्कूल में अकसर रोक होती है। जिस स्कूल में मैं पुस्तकालय का काम देखती हूँ वहाँ कहानी पढ़ने के दौरान या उसके बाद भी यदि किसी बच्चे को कुछ कहना हो तो वे तब तक नहीं कह सकते जब तक वे अपना हाथ उठाकर कहने की इच्छा ज़ाहिर न करें और यह टीचर एक्शन नोटिस कर उन्हें बोलने की अनुमति न दे। बात करने जैसी स्वाभाविक प्रक्रिया पर इतनी रोक है कि हम इसे एक संसाधन के रूप में नहीं देख पाते हैं। बातचीत साहित्य पर बच्चों की प्रतिक्रियाओं को सामने रखने का बहुत अहम तरीक़ा है। साहित्य पर ख़ासतौर से बातचीत बहुत महत्त्वपूर्ण है। लूसी काल्किंस ने कहा है, ''हमारे जीवन में हमें वे किताबें याद रह जाती हैं जिनपर हमने बात की हो।'' साहित्य पर बातचीत एक बहुत सहज तरीक़ा है बच्चों को प्रतिक्रिया देने के मौक़े रचने का। यह बातचीत पठन, लेखन गतिविधियों में गुँथी हो सकती है, यह उनके बीच का संवाद हो सकता है या फिर किसी कहानी को पढ़ने के पश्चात शिक्षक / लाइब्रेरियन सोच-विचार के साथ भी इस बातचीत को दिशा दे सकते हैं। इसके दो तरीक़ों का ज़िक्र यहाँ किया जा रहा है जो मेरे अनुभव का भी हिस्सा रहे हैं।

पढ़कर सुनाना या रीड अलाउड :

पढ़कर सुनाने में कहानी के पहले, कहानी के दौरान और उसके बाद प्रश्नों और कहानी पर रिस्पोंस के माध्यम से कई तरह की बातचीत की जा सकती है- कहानी के पात्रों पर, कहानी के चित्रों पर, कहानी से जुड़े पूर्व अनुभवों पर, या कहानी पर अपनी प्रतिक्रिया पर जो कैसी भी हो सकती है। कहानी अच्छी लगी या नहीं लगी या क्या सीख मिली, से बेहतर कहानी पर कुछ पहले से तैयार प्रश्नों के ज़रिए बातचीत करना होती है। इसका उदाहरण लेख के शुरू में 'गाँव का बच्चा' कहानी पर हुई बातचीत के अंश में पढ़ा। कई बार बातचीत बच्चों को अन्य प्रतिक्रियाओं या अभिव्यक्ति के मौक़े जैसे लेखन कला तक ले जाने का भी एक उपयोगी ज़रिया हो सकती है।

किताब पर चर्चा :

ऐसी कोई कहानी जिसे कक्षा में सभी बच्चों ने पढ़ा हो या कुछ ने पढ़ा हो, उसपर एक गोले में बैठकर बातचीत की जा सकती है। कहानी



चित्र: अजा (रोशन लाइब्रेरी, घाटकोपर, मुंबई) सरकारी स्कूल की लाइब्रेरी, चिंतकुंटा, यादगीर, कर्नाटक



पढ़ी गई कहानियों में अपनी पसन्दीदा कहानी के बारे में 'किताब की चर्चा' के दौरान

सबने सुनी या पढ़ी हो, तो सबके शामिल होने की सम्भावना बढ़ जाती है। यहाँ कहानी दोहराने के बजाय उसके अलग-अलग पहलुओं पर बच्चों को बोलने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। शुरू में शायद कुछ हिचक हो तो शिक्षक को भी स्वयं किताब पढ़कर कुछ ख़ास प्रश्न तैयार रखने चाहिए जिनसे बातचीत को आगे बढ़ाया जा सके, जैसे– किताब के पात्र या उसके किसी ख़ास चित्र को लेकर। यही मौक़ा कविताओं व साहित्य की अन्य विधाओं के सन्दर्भ में भी काम में लिया जा सकता है।

बातचीत के लिए कुछ प्रश्न / प्लॉट तैयार करना बहुत आवश्यक है। ये ऐसे हों जिनमें अलग-अलग विचारों के आने की सम्भावना हो, कुछ चर्चा करने की सम्भावना हो न कि सीधे सपाट या हाँ–ना वाले जवाब हों। बातचीत शुरू करने के लिए कुछ सरल प्रत्यक्ष प्रश्न हो सकते हैं। फिर कुछ व्याख्यात्मक, चिन्तनात्मक सवाल भी रखे जा सकते हैं।

2. लेखन

लेखन में भी बातचीत की तरह अपनी अभिव्यक्ति करने, प्रतिक्रिया देने के कई मौक़े निहित होते हैं। कुछ बच्चे अपने-आप को बोलने से बेहतर लेखन में व्यक्त कर पाते हैं। इसलिए बच्चों के लिए लेखन के ये अवसर भी मौजूद होने चाहिए। जब बच्चों को (निर्धारित लेखन के अतिरिक्त) अपनी बात कहने के लिए लिखने को कहा जाता है तो असमंजस में पड़ जाते हैं। इसमें उनको समय देना और उनकी सहायता करना आवश्यक है। इसका मूल्यांकन करने की बजाय उनके लिखे हुए को साथियों में साझा करने, सुनाने के मौक़े देना ज़्यादा अच्छा रहता है। लेखन, कहानी पढ़कर सुनाने या पढ़ने के बाद की गतिविधि का हिस्सा हो सकता है जिसमें कहानी से जुड़े कुछ काम हो सकते हैं जैसे–

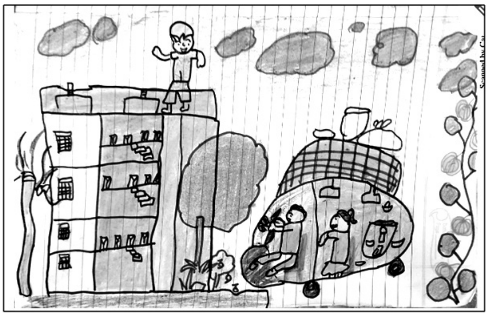
- कहानी को आगे बढ़ाकर लिखना- बच्चे आपस में चर्चा कर, छोटें ग्रुप में कहानी को आगे बढ़ाने का काम कर सकते हैं। इसमें साथ में चित्र भी बनाए जा सकते हैं।
- कहानी का अन्त बदलना– कहानी पढ़ने के पश्चात जोड़ियों में बच्चे कहानी के लिए कुछ और अन्त सोच सकते हैं।
- कहानी पर अपनी टिप्पणी दर्ज़ करना- बच्चों की एक लाइब्रेरी नोटबुक हो सकती है जिसमें उन्हें पढ़ी हुई कहानियों पर अपनी टिप्पणी लिखने को कहा जा सकता है। टिप्पणी लिखने के लिए शुरुआत में उन्हें कुछ मार्गदर्शन की आवश्यकता होगी– पात्रों के बारे में लिखें, कहानी में जो हुआ उसके बारे में क्या महसूस हुआ आदि।
- कहानी के लेखक या पात्र को पत्र लिखकर अपने विचार बताना– पत्रों में अपने विचार लिखना यूँ ही अकेले लिखने से कहीं ज़्यादा आसान होता है।
- कहानी में आए किसी जीव, स्थान, चीज़ के बारे में एक बुक बनाना।
- शब्दहीन चित्र पुस्तकों पर अपनी कहानी बनाना।

हम किराए के एक छोटे-से मकान में रहते थे। मेरे पिताजी कुली का काम करते थे। उस घर में टॉयलेट के लिए हमें बहुत दूर जाना पड़ता था। और हमें वहाँ रहने में बहुत तकलीफ़ होती थी। एक बार सरकारी मकान वाले साहब आए। उन्होंने एक काग़ज़ दिया जिसे हमारे पापा को भरना था। मेरे पापा फ़ॉर्म भर कर साहब को दे आए। कुछ दिनों में ही हम लोगों को सरकारी आवास मिल गया। हम लोग सामान बँटोरने लगे। मैंने अपने कपड़े, किताब और गुड़िया एक छोटे बक्से में रख दिए। मम्मी ने एक गठरी बनाई जिसमें बिस्तर, बर्तन आदि रखा क्योंकि हमारे पास बहुत बक्से नहीं थे। तब पापा ने छोटा

हाथी (पिकअप) मँगवा कर उसपर सारा सामान लदवा दिया। हम सरकारी आवास में पहुँच गए। हमारा आवास सीढ़ियों से ऊपर दूसरी मंज़िल पर था। सारा सामान सीढ़ी से ऊपर चढ़वाया गया। मम्मी, बहन और मैंने सारा सामान अच्छे-से व्यवस्थित किया। इस तरह घर को देखकर हमें बहुत ख़ुशी हुई और जैसी कल्पना मैंने की थी वह उससे भी अच्छा था। इस आवास में लैट्रिन, बाथरूम और किचन बना था। बड़े कमरे थे। बड़ी-बड़ी हवादार खिड़कियाँ थीं। उजाला भी बहुत था। जगह भी बहुत थी।

पुराना घर याद आता है क्योंकि वहाँ मैंने कद्दू की बेल उगाई थी जिसमें फल आ गए होंगे। यहाँ पर पौधे लगाने की जगह नहीं है। यहाँ मेरे बहुत से दोस्त बन गए हैं।

बेबी जायसवाल (प्राथमिक विद्यालय धुसाह, बलरामपुर, उत्तरप्रदेश)

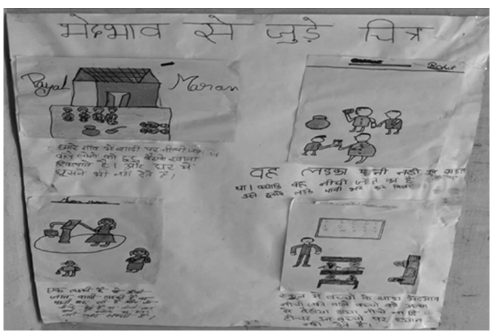


लेखन के कार्य के लिए ये बस कुछ उदाहरण हैं। इसके अलावा भी और बहुत कुछ किया जा सकता है। कहानी की थीम से जुड़ता हुआ लेखन कार्य अकसर बच्चों को लिखने का एक आधार देता है। साथ ही बातचीत और लेखन का गहन सम्बन्ध है। कई बार बातचीत हमें अपने लेखन के लिए कई आधार देती है। उत्तरप्रदेश के एक सरकारी स्कूल में टीचर जय शेखर ने बच्चों को 'टुम्पा और गौरैय्या' कहानी सुनाई जिसमें 'एक घर से नए घर में जाने' या तबादले का ज़िक्र था। बच्चों ने अपने ऐसे अनुभव भी साझा किए जिसमे तबादले या पलायन के अनुभव प्रमुख रहे। उनमें से बेबी नाम की बच्ची ने घर बदलकर एक सरकारी मकान में जाने का अनुभव साझा किया और एक चित्र भी बनाया। (बॉक्स में)

लिखित प्रतिक्रिया पर कई बार हम ये सोचकर ज़ोर नहीं देते कि बच्चों का लेखन यदि अच्छा नहीं है तो वे कैसे इस कार्य को कर पाएँगे। अपने बच्चों के साथ कब क्या काम करना है, निश्चित ही शिक्षक ये निर्णय ले सकते हैं। लेकिन गलत मात्राओं, टूटे-फूटे वाक्यों, ग़लतियों से घबराने की ज़रूरत कतई नहीं है। बच्चे लेखन में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर पाएँ और हम उसे सम्मान दें यह आवश्यक है। अपने लाइब्रेरी कार्य में मैं अकसर बच्चों द्वारा लिखी प्रतिक्रियाओं को पढ़कर सुनाने के अवसर भी देती हूँ। तब इन लिखित प्रतिक्रियाओं पर और भी प्रतिक्रियांएँ आती हैं। लेकिन जब बच्चे ख़ुद इन्हें अपने तरीक़े से पढ़ते हैं तो एक गर्व महसूस करते हैं। अपने दोस्तों के लिए ताली बजाते हैं और एक-दूसरे को प्रोत्साहित करते हैं। यह सौहार्द्र ऐसे अवसरों से ही उत्पन्न होता है जहाँ होड़ भूल हम एक-दूसरे के विचारों को समझने की कोशिश करते हैं।

3. आर्ट

बच्चों को आर्ट के माध्यम से व्यक्त करना भी कई बार सहज महसूस कराता है और उन्हें यह अच्छा और रोचक भी लगता है। आर्ट बातचीत और लेखन से बहुत अलग-थलग नहीं



चित्र : अजा (मुस्कान लाइब्रेरी, भोपाल)

है पर अपने-आप में एक अलग अभिव्यक्ति ज़रूर है। इसको ऊपर दिए तरीक़ों के संग जोड़ा भी जा सकता है। आर्ट में बहुत कुछ शामिल है– किसी कहानी का अपने तरीक़े से चित्रण करना, उसके लिए एक नया कवर-पेज बनाना, कहानी से जुड़े अपने जीवन के किसी अनुभव को चित्रित करना, कहानी को नाटक के ज़रिए प्रस्तुत करना, पात्र के जीवन को चित्रों में दर्शाना, कविता पर एक चित्र बनाना आदि कई तरीक़े हैं। इनमें किताब के साथ ठहरने, उसमें फिर समझने, और उसपर अपना एक नज़रिया बनाने का अवसर होता है। एकलव्य द्वारा प्रकाशित 'गीत का कमाल' कहानी को पढ़ने के पश्चात जब बच्चों को गीत बनाने को कहा गया तो उन्होंने 'उड़े सरर-सरर' पंक्ति का प्रयोग करते हुए छत पर सूख रहे कपड़ों का चित्र बना दिया। उनके शहरी माहौल में छत और बालकनियों से कपड़े सूखते-उड़ते ही उनके अनुभव थे। जातिगत भेदभाव से सम्बन्धित एक कहानी को पढ़ने के पश्चात भेदभाव के अपने आसपास के अनुभव बच्चों ने लिखे और चित्र बनाए।





चित्र : अजा



चित्र सौजन्य : कविता कपिल

एक भील कथा पढ़ने के बाद भीली आर्ट को बच्चों ने भी अनुभव किया।

पराग, टाटा ट्रस्ट्स द्वारा संचालित लाइब्रेरी एजुकेटर कोर्स में 2016 की प्रतिभागी कविता ने बच्चों के साथ मृत्यु-आधारित कुछ किताबों पर बातचीत की। उनके मन में इस बात को छेड़ने का डर था और ये जिज्ञासा भी बच्चों की क्या प्रतिक्रिया होगी। *पंछी प्यारा, सदाको* और *काग़ज़ के पक्षी* जैसी किताबों के ज़रिए कविता के प्रयासों से बच्चों के साथ एक खुली बातचीत सम्भव हो पाई।

चित्रों में बच्चों ने मृत्यु के अपने अनुभवों को बयान किया और इस सन्दर्भ में आपस में और कविता के साथ अपने सन्देह, अपने प्रश्न, अपनी चिन्ताएँ आदि सामने रखीं। यहाँ चित्रों के जो उदाहरण हैं उनसे ज़ाहिर है कि बच्चों ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए इनका प्रबल इस्तेमाल किया है। ये सिर्फ़ बोर्ड पर सज़ा देने के चित्र न होकर उनकी अभिव्यक्तियाँ हैं।

इन तीन मुख्य तरीक़ों में और भी बहुत कुछ सम्भव है। इनके अलावा भी कई काम हो सकते हैं जैसे- नाटक या किताबों का रिव्यू। पर ऊपर दिए गए तरीक़ों में भी काफ़ी सम्भावनाएँ हैं साहित्य से जुड़ने और उसपर

प्रतिक्रिया करने के लिए। प्रतिक्रियाओं के इन तरीक़ों में व्याख्या, विश्लेषण के भरपूर मौक़े हो सकते हैं। बच्चों की प्रतिक्रियाएँ उनके जीवन के सन्दर्भों, सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पढ़ने के अनुभवों व अन्य कई कारणों से प्रभावित हो सकती हैं। शिक्षक ख़ुद भी किताबों को पढ़ें, अपनी प्रतिक्रिया बनाएँ, लेखक के उद्देश्यों को समझें, ख़ुद के प्रश्न उठाएँ और अपने नज़रियों को भी खोलें और अपनी प्रतिक्रिया को बच्चों पर न थोपें। उन्हें उनके नज़रिए बनाने में मदद करें। हमारा उद्देश्य होना चाहिए प्रतिक्रियाओं के बनने के लिए एक सुरक्षित माहौल बनाना, जहाँ मान्यताओं पर सवाल उठ सकें, लेखक के नज़रियों से असहमत हो सकें और यह समझ सकें कि हर समझ पर तर्क-वितर्क सम्भव है।

निष्कर्ष

पुस्तकालय और अच्छे साहित्य के माध्यम से किताबों से जुड़ने का ऐसा अनुभव बच्चों को लगातार मिलना चाहिए– जहाँ सवाल उठाना, उसकी रोशनी में अपने विचारों को जाँचने या समझने और नए विचारों के लिए दिमाग़ खोलने के मौक़े और प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करने के इतने अवसर वो भी एक सुरक्षित माहौल में, जहाँ तर्क-वितर्क की सम्भावना भी मिले।

एक ओर जहाँ स्कूलों के निर्धारित टाइम टेबिल में सारा ध्यान पढ़ना-लिखना सिखाने की तकनीकियों पर केन्द्रित रहता है वहीं पढ़ने के मायनों को विकसित करने की आवश्यकता भी है। साहित्य वह सम्भावना देता है। पुस्तकालय में साहित्य को केन्द्र में रखते हुए इस तरह के संवाद एक सोचे-समझे तरीक़े से किए जा सकते हैं। साहित्य न सिर्फ़ और खिड़कियाँ खोलता है बल्कि नए अनुभवों की ओर भी हमें खींचता है। तब पढ़ना हमारे और हमारे बच्चों के लिए सार्थक हो जाता है। संवाद को लुई रोज़नब्लॉट एक अहम स्थान देती थीं क्योंकि इनमें न सिर्फ़ स्वयं के अनुभव और विचार उभरते हैं बल्कि दूसरों के भी तरह-तरह के भिन्न विचारों को जानने का मौक़ा बनता है और ऐसे पाठक जो इन संवादों में शामिल होते हैं वे पाठक होने की सार्थकता को महसूस करते हैं। इस पूरी बातचीत में सबसे ज़रुरी एक शिक्षक के बतौर हमारा ख़ुद पढ़ना और संवेदनशील होना भी है और साथ ही अपने बच्चों को जानना, समझना और उनपर एक विश्वास करना।

आभार: *लाइब्रेरी एजुकेटर कोर्स (एलईसी) (पराग इनिशिएटिव टाटा ट्रस्ट्स) के प्रतिभागियों का जिन्होंने कोर्स से प्रेरित हो अपनी लाइब्रेरी में बच्चों के साथ यह काम किए और इन्हें साझा किया।*

- *कविता कपिल, एलईसी बैच 2016 (चिराग, उत्तराखंड)*
- *नीतू यादव, बैच एलईसी 2017 (मुस्कान, भोपाल)*
- *दुर्गा, एलईसी बैच 2018 (शिक्षार्थ, छत्तीसगढ़)*
- *जय शेखर, एलईसी बैच 2019 (टीचर, उत्तर प्रदेश)*
- *उन सभी बच्चों का जिनके काम यहाँ साझा किए गए हैं*

सन्दर्भ

Rosenblatt Louise. 1980. *'What Facts Does This Poem Teach You ?'* Language Arts

Rosenblatt Louise. 2005. *Making Meaning with texts*, *Selected Essays*, Hiennemann, Portsmouth, NH.

Rosenblatt Louise. 1960. 'Literature: The Reader's Role,' *The English Journal*, Vol. 49, No. 5. (May, 1960), pp. 304-310+315-316

Sinha, Shobha. 2009. 'Rosenblatt's Theory of Reading: Exploring Literature', *Contemporary Education Dialogue*, Vol. 6, No. 2

मेनन शैलजा, 2015. *बाल साहित्य के ज़रिए प्रारम्भिक भाषा,* भाषा बोली, रूम टू रीड, नई दिल्ली।

मोहम्मद खादीर बाबू. 2018, सिर का सालन (हिन्दी), एकलव्य प्रकाशन, अन्वेषी हैदराबाद के डिफरेंट टेल्स प्रोजेक्ट के तहत रतन टाटा ट्रस्ट्स के समर्थन से प्रकाशित।

स्वप्नमोय चक्रबोर्ती. 2009, *टुम्पा और गोरैय्या,* नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।

शेर सिंह भील, नीना सबनानी. 2015. एक भील कथा, तूलिका प्रकाशन, चेन्नई।

अजा पिछले तेरह वर्षों से शिक्षा के क्षेत्र में ग़ैर-सरकारी संस्थाओं के साथ काम कर रही हैं। पिछले चार वर्षों से पराग इनिशिएटिव, टाटा ट्रस्ट्स द्वारा विकसित लाइब्रेरी एजुकेटर कोर्स (हिन्दी) में बतौर फैकल्टी जुड़ी हुई हैं व कार्यक्रम लीडर हैं। मुख्य काम के साथ-साथ, सामुदायिक व स्कूल लाइब्रेरी में वालंटियर लाइब्रेरियन के तौर पर भी काम करती रही हैं।

सम्पर्क : ajaa.sharma@gmail.com

प्राथमिक कक्षाओं में कविताओं का कौतूहल

सुनीता शर्मा

कविताएँ और गीत स्कूली दिनों को न सिर्फ़ आनन्दमयी बनाते हैं बल्कि साहित्य का रसबोध भी पैदा करते हैं। प्राथमिक कक्षाओं में इनका शिक्षण जितना जीवन्त, सहज और रसपूर्ण होगा इनका कौतूहल और आस्वादन उतना ही बढ़ेगा।

भाषा सीखने के सीमित उद्देश्य से इतर कविता और गीतों से बच्चों में सौन्दर्यबोध, रसास्वादन, सृजनशीलता और जीवन सन्दर्भों की व्यापक दृष्टि पैदा करने की पैरवी करता और कुछ तौर-तरीक़े सुझाता सुनीता का यह आलेख। सं.

1.

अक्कड़-बक्कड़ बम्बे बो
अस्सी नब्बे पूरे सौ
सौ में लगा धागा चोर निकल कर भागा

2.

मुर्गी माँ घर से निकली,
झोला ले बाजार चली,
बच्चे बोले चें-चें-चें,
अम्मा हम भी साथ चलें

—निरंकार देव सेवक

कविता की जानी-पहचानी दुनिया जिससे हम सभी परिचित हैं। कविता के बारे में सोचने पर सबसे पहले ज़ेहन में दादी माँ की लोरी ही आती है, क्योंकि वे हमारे मन के किसी कोने में घर बना लेती हैं और किसी मौक़े पर उभर आती हैं। आज भी जब हम उन कविताओं, खेल गीतों और लोरियों को सुनते हैं जो हमने अपने बचपन में सुनी होती हैं तो कहीं-ना-कहीं हमारे अन्दर हमारा बचपन कुलबुलाने लगता है। वे सभी स्मृतियाँ ज़ेहन में आ जाती हैं जिन्हें हम सभी ने अपने बचपन में जिया है। एक अच्छी कविता की ख़ूबी यही है कि वह सुने और पढ़े जाने के बाद स्मृति में रह जाती है। जैसे ही हम इन स्मृतियों से जुड़ेंगे तो कुछ बुनियादी सवाल हमें सोचने पर विवश करेंगे कि क्या कारण है कि प्राथमिक कक्षाओं में पढ़ाई की शुरुआत ही कविता से होने की बात होती है? इस बुनियादी सवाल पर सोचने पर एक बात यह भी समझ में आती है कि शुरुआती कक्षाओं में बच्चों का भाषाई विकास होता है और कविताओं से बच्चों को भावनात्मक और भाषाई पोषण मिलता है जो कि बच्चों की नैसर्गिक ज़रूरत है।

बच्चे विद्यालय आने से पहले ही कुछ खेल गीतों को गुनगुनाते हुए अपने खेलों का संचालन करते हैं, खेल गीतों की तरह ही कविताएँ भी बच्चों के मन के सबसे क़रीब होती हैं। बच्चों को कविताएँ हावभाव से गा कर सुनाना अच्छा लगता है और वे उसमें आनन्दित महसूस करते हैं और जब वे कविताओं की लय को बार-बार दोहराते हैं तो उन्हें वह बहुत जल्दी याद भी हो जाती हैं। कई बार बच्चे जब कविताओं का दोहराव करते हैं तो वे कविता के शब्दों

में नए शब्द जोड़ते-तोड़ते हुए शब्दों के साथ भी खेलते हैं जैसे– जग्गा, मग्गा, एन्ना, भिन्ना, तकधिन्ना आदि और इस काम में उन्हें मज़ा भी आता है। शब्दों के साथ खेलने के दौरान उनमें काफ़ी उत्साह दिखाई पड़ता है। इसके साथ ही वे कविता में आए शब्दों को आसानी से पकड़ लेते हैं और उन शब्दों पर पढ़ने-लिखने का काम करना आसान हो जाता है जिन्हें वे अनुमान से पढ़ने का प्रयास करते हैं। कविताओं की ख़ूबसूरती यह भी है कि वह हर व्यक्ति के लिए उसके सन्दर्भों के आधार पर अर्थ गढ़ लेती है। कई बार कविता जिस भाव से लिखी जाती है, पाठक उसे उसके अलग भाव से गढ़ लेता है। इसलिए यह कहना अनुचित नहीं होगा कि कविता साहित्य की एक ऐसी विधा है, जिसमें मनोभावों को कलात्मक और सौन्दर्यात्मक रूप से अभिव्यक्त किया जाता है। कविताओं को लेकर यह भी माना जाता है कि कविता की लय को सहजता से पकड़ना आसान होता है और इसके ज़रिए भी हम दुनिया को जानते, समझते हैं। कविता के शब्दों को सुनकर अनायास मन के भीतर उसके चित्र कौंध जाते हैं। ये स्मृति चित्र ही शब्दों के सहारे कविता का बिम्ब निर्मित करते हैं।

बच्चों के प्रारम्भिक वर्षों पर गौर करें तो हम पाएँगे कि कविताओं में बच्चों की स्वाभाविक रुचि होती है परन्तु कई बार देखने में यह भी आता है कि बच्चों के साथ कविताओं पर काम करने के दौरान अधिकांश समय कविता के अर्थ को समझाने या उसमें छुपे सन्देश को बताने में लगाया जाता है जिसके कारण कविता अपना मूल भाव और रस खो देती है। हालाँकि कुछ कविताओं में यह भी ज़रूरी होता है जैसे जो अन्य भाषाओं में लिखी होती हैं और जिसकी शब्दावली से बच्चे परिचित न हों। किन्तु ऐसी कविता जो आसानी से समझ में आती है फिर भी बड़े विस्तार से उसकी व्याख्या की जाती है तो वह बच्चों में कविताओं के प्रति नीरसता पैदा कर देती है। इसलिए यह भी ज़रूरी है कि शुरुआती कक्षाओं से ही कविता शिक्षण के बृहद् उद्‌देश्यों जैसे– कविता का आनन्द लेना, भाषाई सौन्दर्य बोध आदि को ध्यान में रखा जाए।

कविता शिक्षण के उद्देश्य

आमतौर पर कविता शिक्षण में जिन उद्‌देश्यों की चर्चा होती है उनमें से कुछ प्रमुख उद्‌देश्य इस प्रकार हैं :

- बच्चों को अभिव्यक्ति के मौक़े देना।
- कविता को अपने सन्दर्भों से जोड़ पाना।
- बच्चे कविताओं में रुचि ले सकें।
- बच्चे कविता की लय-ताल का आनन्द उठा सकें।
- कविता की संरचना को समझ सकें।
- बच्चे कविता के सौन्दर्य बोध को पहचान पाएँ।
- स्वयं की कविताएँ लिख सकें।
- शब्द-भण्डार बढ़ा सकें।
- बच्चों में कल्पनाशीलता विकसित हो सके।
- बच्चे कविता विधा से परिचित हो सकें।
- कविताओं को पढ़ने के लिए प्रेरित हो सकें।

कविताएँ एक ऐसा माध्यम हैं जिसमें ध्वनियों के अनुभव के साथ बच्चा, बचपन से ही खेलना पसन्द करता है और इसके चलते ही वह कविताओं को जल्दी याद कर लेता है और उसके साथ पढ़ना-लिखना भी आसानी से सीख जाता है। कविता बच्चों के लिए एक जादुई ख़ुराक का काम भी करती है और यह कभी पहेली भी बन जाती है। एक कविता से बच्चे बहुत जल्दी ऊब भी जाते हैं इसलिए एक कविता पर काम ख़त्म होने के बाद उन्हें नई-नई कविताएँ चाहिए होती हैं।

बच्चों के साथ कविताओं पर काम करने के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना ज़रूरी है–

- बच्चों के लिए उनके स्तर के अनुसार कुछ रोचक कविताओं का चुनाव किया जाए।

- बच्चों को नियम से कविताओं को सुनने-सुनाने के मौक़े दिए जाएँ और उन पर बच्चों के साथ काम किया जाए।

- कविता के शीर्षक पर बच्चों से बातचीत करना जैसे कविता का शीर्षक 'पतंग' है तो बच्चों से पूछना कि पतंग क्या होती है? आपने कभी पतंग उड़ाई है क्या? आदि।

- कविताओं को हावभाव से बच्चों के साथ गाना फिर बच्चे स्वयं से कविताओं को गाएँगे।

- कविताओं को चार्ट या श्यामपट्ट पर लिखकर पढ़ना और कविता चार्ट को कक्षा में चस्पा करना।

- बच्चों के साथ कविता पर बातचीत करना। जैसे– पतंग कैसे उड़ रही थी? आसमान में उड़ते हुए वह किसको काट रही थी? और क्या-क्या हुआ कविता में? आदि।

- कविता पर बच्चों के अनुभव पूछना और उनको श्यामपट्ट पर लिखकर एक बार बच्चों के सामने पढ़ देना कि किस बच्चे ने क्या कहा है। बच्चों को भी अनुमान से पढ़ने के लिए प्रेरित किया जा सकता है।

- कविता में आए शब्दों को अनुमान से पढ़ना और पढ़ कर उसको श्यामपट्ट पर लिखना और शब्दों की ध्वनियों पर बातचीत कर उनमें आए अक्षरों को अलग करना। बच्चे जब इन गतिविधियों को बार-बार करते हैं तो वे ध्वनियों को पहचान लेते हैं। कविता में आए शब्दों से अक्षरों को अलग कर, उन अक्षरों से बनने वाले अन्य शब्दों को लिखना ताकि बच्चे ध्वनियों के अन्तर को समझते हुए अक्षर की पहचान कर सकें। शुरुआत में ऐसे शब्द लिए जाएँ जिन्हें बच्चे जानते हों और उनके चित्र बनाए जा सकते हों, जैसे– उड़ती हुई पतंग, पेंच लड़ाती पतंगें। धीरे-धीरे अन्य शब्दों को भी शामिल किया जा सकता है।

- आख़िर में बच्चों के पास कविताओं से जुड़े हुए चित्र बनाने के मौक़े हों। जैसे- पतंग की कविता में पतंग, आम की कविता से आम, बिल्ली की कविता से बिल्ली आदि। चित्र बनाने के बाद उनका नाम लिखना या नाम में आए पहले अक्षर को लिखना आदि काम किया जा सकता है।

- कविता में जिन शब्दों और अक्षरों पर काम किया उनके फ़्लैश कार्ड बनाकर उनको पढ़ना। शब्द कार्ड को चित्र बनाकर कक्षा में भी प्रदर्शित किया जा सकता है ताकि बच्चों को जब-जब समय मिले वे उनको पढ़ सकें।

- कविताओं से मिलती-जुलती कविता बनाना। जैसे– 'वो देखो वो आता चूहा' से 'वो देखो वो आती बिल्ली', 'ऊँट चला भाई ऊँट चला' से 'हाथी चला भाई हाथी चला' या अन्य जानवरों पर कविता लिखना।

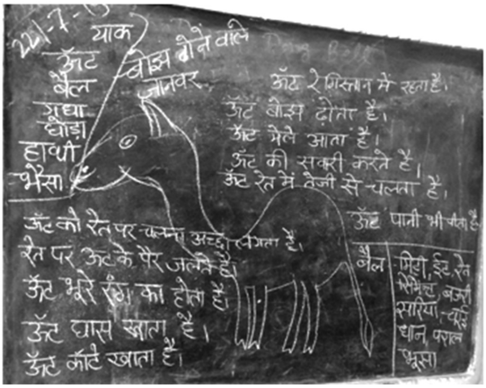
- शीर्षक देखकर कविताएँ लिखना और स्वयं से सोचकर किसी विषय पर कविता बनाना आदि।

कविताओं पर काम के कुछ अनुभव

1. कविता– ऊँट चला

इस कविता पर कक्षा 2 के बच्चों के साथ काम किया गया। जिन बच्चों के साथ यह काम किया गया वे सभी बच्चे बुक्सा समुदाय से आते हैं। इनकी स्थानीय भाषा बुक्सार है। अधिकांश बच्चों के माता-पिता मज़दूरी और खेती का काम करते हैं तो उनके पास बच्चों के लिए बहुत अधिक समय नहीं होता है।

पहले कविता पर बच्चों से बातचीत की शुरुआत कविता के शीर्षक के चित्र दिखाकर यानी ऊँट के बारे में जानने से हुई।



प्रश्न- आपने ऊँट कहाँ देखा है?

बच्चे- जी, हमारे गाँव और मेले में।

प्रश्न- मेले में क्या करता है ऊँट?

बच्चे- जी, ऊँट की सवारी करते हैं और ऊँट बोझा ढोता है।

प्रश्न- ऊँट कहाँ रहता है?

बच्चे- जी, रेगिस्तान में।

प्रश्न- अच्छा रेगिस्तान में क्यों रहता है?

बच्चे- जी, क्योंकि वो रेत में तेज़ी से चलता है।

प्रश्न- रेत में तेज़ी से कैसे चल पाता है?

बच्चे- जी, क्योंकि उसके पैर जलते होंगे।

कुछ अन्य बच्चे- जी, उसको रेत में चलना अच्छा लगता होगा।

वह रेगिस्तान में ही क्यों रहता है? इस सवाल के जवाब में बच्चे अटक रहे थे तो मैंने कहा कि हम इस सवाल पर आगे बात करेंगे और उसके बाद हम अगले सवाल पर गए;

प्रश्न- ऊँट का रंग कैसा होता है?

बच्चे- जी, भूरे रंग का होता है।

प्रश्न- ऊँट क्या-क्या करता है?

बच्चे- जी, पानी भी पीता है, घास और काँटे खाता है।

काँटों से उनका मतलब शायद काँटेदार पत्तियाँ होगा पर वे काँटे ही कह रहे थे।

प्रश्न- अच्छा अब यह बताओ कि ऊँट के अलावा आपने अपने आसपास कौन-से जानवरों को बोझा ढोते देखा है?

इस सवाल पर बच्चों को काफ़ी समय लगा। उन्होंने जानवरों को बग्गी खींचते देखा था परन्तु यह नहीं देखा था कि उनके ऊपर सामान ढोया जाता है। क्योंकि इन बच्चों के परिवेश में बैल, भैंसा, घोड़ा अधिकतर बग्गी खींचने का ही काम करते हैं। तो हमने उनकी समझ के आधार पर उसे ही बोझा ढोने में रखा।

बच्चे- बहुत सोचने के बाद- बैल, घोड़ा, गधा, हाथी, भैंसा, ऊँट और याक आदि जानवरों को सामान ढोने के काम में उपयोग में लाया जाता है।

हावभाव से कविता

बातचीत के बाद सभी बच्चों के साथ मिलकर कविता को हावभाव से गाया और फिर बच्चों के साथ मिलकर ही कविता को चार्ट पर भी लिखा।

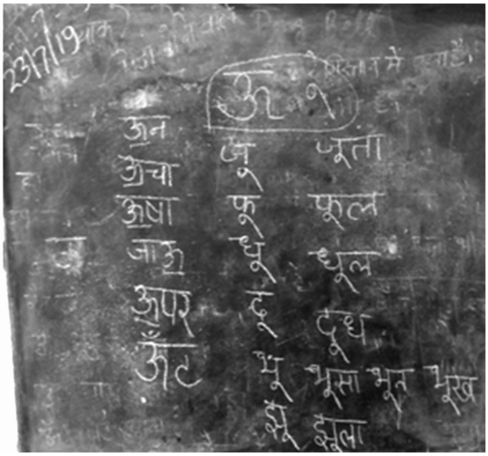
कविता पठन

चार्ट पर लिखने के बाद सभी ने मिलकर कविता को पढ़ा।

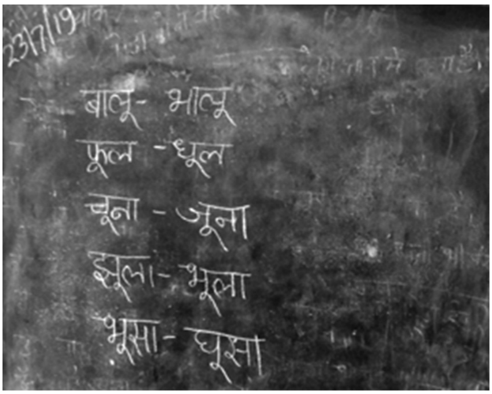
कविता पढ़ने के बाद कविता पर बच्चों से बातचीत हुई, जिसमें ऊँट के चलने के बारे में और ऊँट की विशेषताओं पर बात हुई।

कविता से पढ़ना-लिखना

इसके बाद 'ऊ' से बनने वाले शब्द लिखे गए। ऊन में ऊ आया है ऐसे ही अन्य शब्द ऊँचा, ऊँट, ऊषा आदि निकले। शब्दों में ध्वनियों को समझने के बाद ऊ की मात्रा से भी बच्चों को परिचित कराया कि यह ऊ की आवाज़ है जब इसे किसी भी अक्षर के साथ मिलाएँगे तो



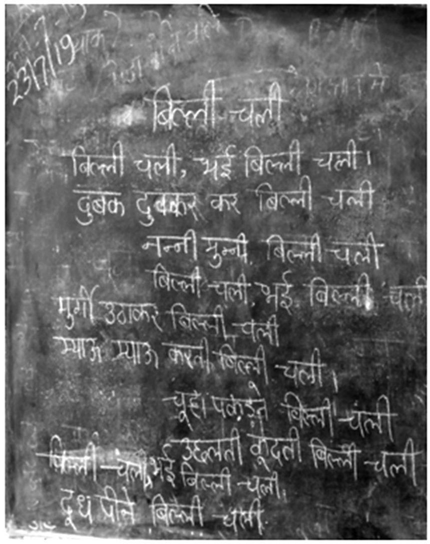
यह उसके साथ मिल कर नई आवाज़ बनाएगा जैसे– ज के साथ ऊ मिलाया तो जू, झ का झू आदि। इन शब्दों को भी लिखा ताकि बच्चे मात्रा के रूप में भी आवाज़ को पहचान सकें। जू- जूता, फू- फूल, धू -धूल, दू- दूध, भू- भूसा, भूत, भूख, झू- झूला आदि।



इसके साथ-साथ बच्चों को मात्रा से बने मिलते-जुलते शब्दों से भी परिचित कराया।

बच्चे शब्दों की आवाज़ों को समझ सकें इसके लिए उसके चित्र बनाकर भी काम किया गया। इसके बाद सभी कक्षाओं के बच्चों के साथ मिलकर कविता निर्माण पर बात हुई कि 'ऊँट चला' कविता की क्या-क्या विशेषताएँ हैं। इन विशेषताओं को ध्यान में रख कर सभी बच्चों के साथ मिलकर 'बिल्ली चली' पर कविता लिखीं।

कविता लिखने और पढ़ने के बाद सभी

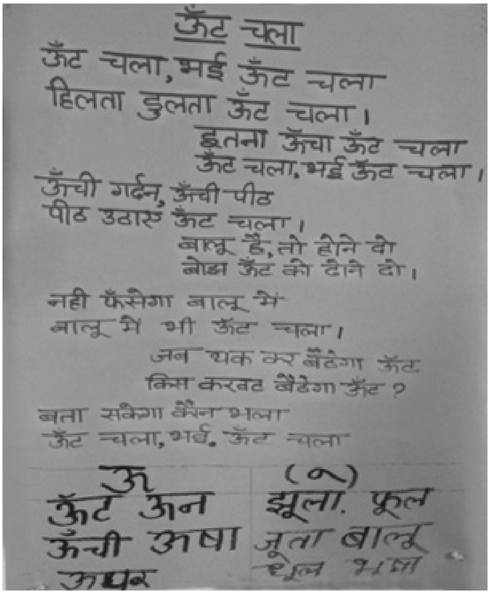


बच्चों ने अलग-अलग जानवरों जैसे– हाथी, घोड़ा, कुत्ता और बिल्ली पर अपनी स्वयं की कविताएँ लिखीं।

इस प्रक्रिया में लगभग पूरे समय शिक्षिका साथ रहीं, उन्होंने बच्चों को समझाया भी कि क्या करना है और कैसे करना है। शुरुआत में बच्चों ने कविताओं को कुछ वाक्यों में लिखा, उसपर भी बातचीत हुई कि हमने इससे पहले ऊँट की कविता पढ़ी और बिल्ली की कविता बनाई तो कोशिश करें कि हम उसी तरह कविता बना सकें। एक-एक कर सभी की कविता पर बात की और उसे तुक के आधार पर कविता की शक्ल में पिरोया।

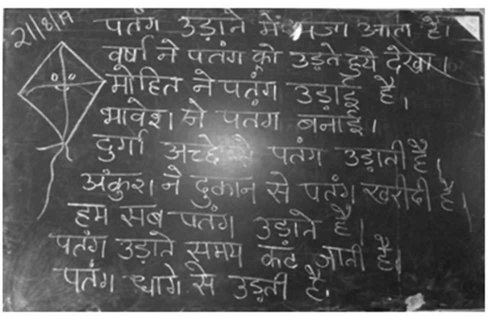
कविता लिख लेने के बाद इन्हें दीवार-पत्रिका के रूप में कक्षा में प्रदर्शित किया। अपनी लिखी कविताओं को देखकर बच्चे भी ख़ुश हुए क्योंकि वे उनके नाम के साथ जुड़े हुए थे। इस प्रक्रिया में वे एक-दूसरे को अपनी बनी हुई कविता पढ़वा भी रहे थे।

इस पूरी प्रक्रिया में देखने को यह मिला कि बच्चे अनुमान से पढ़ना, कल्पना करना आदि आसानी से कर पा रहे थे। सभी बच्चों को इस बात से ख़ुशी हुई कि उनकी बात को भी पाठ में शामिल किया गया।



2. कविता-पतंग

कक्षा 1 के बच्चों के साथ पतंग कविता पर काम किया गया। सबसे पहले बच्चों को पतंग का चित्र दिखा कर उसपर बातचीत की। बच्चों ने पतंग से जुड़े अपने अनुभवों को बताया, इसके लिए बच्चों को श्यामपट्ट पर पतंग का चित्र दिखाया गया। चित्र पर बच्चों ने इस तरह प्रतिक्रिया दी।



वर्षा- पतंग जब उड़ाते हैं तो वह कट जाती है।

भविष्य ने पतंग बनाई है।

पापा भी पतंग उड़ाते हैं।

हमने धागे से पतंग उड़ाई है।

पतंग धागे से उड़ती है।

भैया लोग भी पतंग उड़ाते हैं।

पतंग उड़ाना अच्छा लगता है।

पतंग उड़ाने में मज़ा आता है।

इसके बाद बच्चों से बातचीत हुई कि कविता उन्हें कैसी लगती है, तो सभी का कहना था कि उन्हें कविता गाना अच्छा लगता है।

इस बातचीत के बाद सभी के साथ हावभाव से कविता को गाया।

हावभाव से कविता पढ़ने के बाद बच्चों के साथ कविता पर बातचीत -

पतंग कैसे उड़ रही थी?

बच्चों ने बताया कि पतंग सर-सर करके उड़ रही थी। कुछ बच्चे कविता की लाइनों का दोहराव कर रहे थे कि सर-सर उड़ी पतंग। कुछ ने कहा कि धागे से उड़ रही थी आदि।

पतंग कहाँ उड़ रही थी?

आसमान में, पहाड़ पर आदि।

पतंग क्या कर रही थी?

सैर-सपाटा लगा रही थी और दूसरी पतंग काट रही थी।

पतंग किस में जुट गई थी?

लड़ाई में जुट गई थी।

पतंग कट कर कहाँ-कहाँ गिर सकती है?

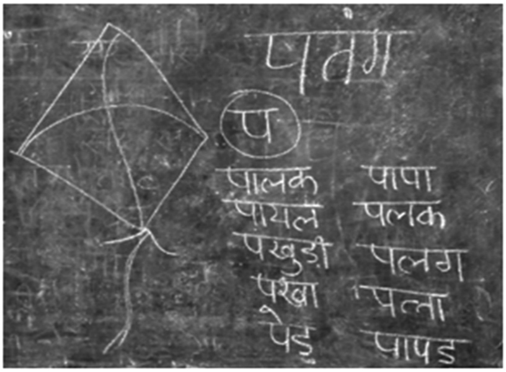
जी, नीचे जमीन में, खेत में छानी में, ट्रेन के ऊपर, मकान की छत पर, पेड़ पर, तार में भी अटक जाती है, पानी में गिर जाती है और भीग जाती है।

छानी क्या होती है?

बच्चों ने बताया कि छानी मतलब छप्पर होता है।

छत क्या होती है?

मकान की छत।



कविता से पढ़ना–लिखना

कविता पर बातचीत के बाद पतंग का चित्र बनाया और उसका नाम भी लिखा। साथ ही पतंग में कौन–कौन–सी ध्वनियाँ सुनाई दे रही हैं। ध्वनियों को अलग–अलग लिखने के बाद 'प' अक्षर पर बात हुई और बच्चों से पूछ कर प अक्षर से बनने वाले शब्द भी लिखे।

पतंग, पायल, पंखुड़ी, पंखा, पालक, पत्ता, पेड़, पपीता, पापा, पापड़, पकौड़ी।

बच्चों ने कबूतर, बकरी आदि भी बताया तो उनके साथ ध्वनियों का दोहराव किया कि ध्यान से सुनना 'प' सुनाई दे रहा है या कुछ और, तो बच्चे ध्वनियों के फ़र्क़ को समझ पा रहे थे।

ध्वनियों पर बातचीत के बाद बच्चों ने अपनी पसन्द की पतंग का चित्र बनाकर रंग भरा और उसका नाम लिखना सीखा।

पतंग कविता के बारे में भी बच्चों से बात हुई कि पतंग जब उड़ती है तो वह कटती क्यों होगी?

धागा कच्चा होता है।

उसका पतंग से झगड़ा होता है।

"पतंग सैर- सपाटे में कहाँ जाती है?"

"लड़ती है कट जाती है, पानी में गिर जाती है, हवा में उड़ जाती है"

तुम पतंग की जगह होते तो तुम क्या–क्या देखते?

हम भी उड़ते, आसमान में बैठ जाते, पतंग बन जाते तो मेला जाते, बादल पर बैठते, किताब देखते, घर देखते आदि।

कविता से जुड़ती गतिविधि

जैसे पतंग सर–सर उड़ती है वैसे ही इनकी आवाज़ों के बारे में बताओ?

घंटी- टन–टन

हवा- फर–फर

रेल- छुक–छुक

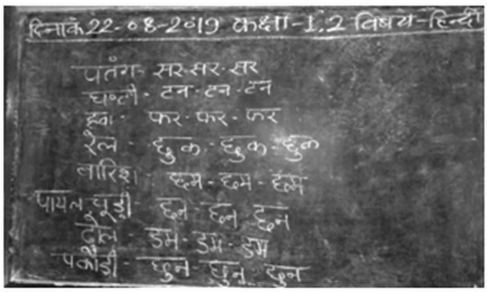
बारिश- छम–छम

पायल और चूड़ी- छन–छन

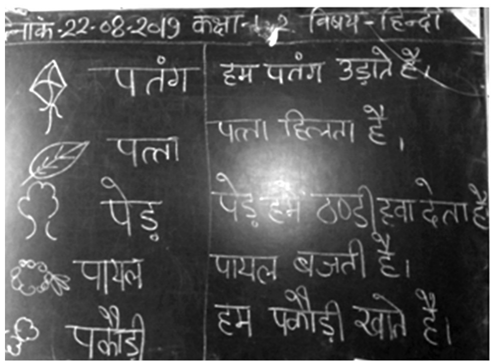
ढोल- ढम–ढम

पकौड़ी- छुन–छुन

शब्द और वाक्य निर्माण



पतंग के चित्र के साथ–साथ पत्ता, पेड़, पायल, पकौड़ी आदि का चित्र भी बनाया गया ताकि बच्चे प अक्षर को पहचान सकें। साथ ही उनके बारे में एक–एक वाक्य भी बनाया गया।



पतंग- हम पतंग उड़ाते हैं।

पत्ता- पत्ता हिलता है।

पेड़- पेड़ जंगल में होते हैं, पेड़ हमें ठण्डी हवा देते हैं, पेड़ छाया देता है।

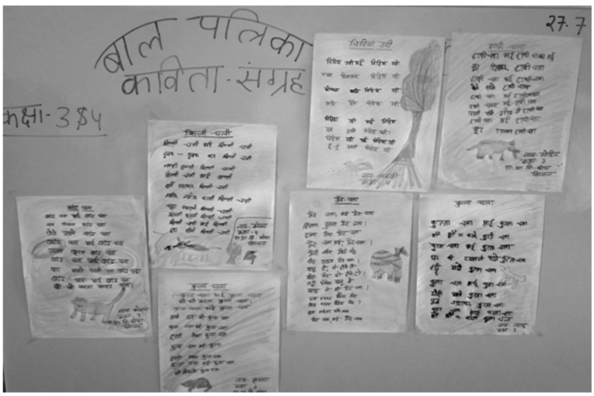
पायल- पायल बजती है।

पकौड़ी- पकौड़ी हम खाते हैं।

गतिविधि के बाद यह बात भी हुई कि जैसे पतंग उड़ती है वैसे ही और क्या-क्या चीज़े उड़ती हैं।

हेलिकॉप्टर, चिड़िया, कौआ, काग़ज़, चील, कबूतर, कपड़े, धूल, धागा, पन्नी भी उड़ती है, पानी भी उड़ता है आदि।

बच्चों के साथ कविताओं के शीर्षक पर चर्चा करने के दौरान मैंने महसूस किया कि सभी बच्चे अपनी बात रख पा रहे थे और जब बातचीत के बाद कविता हावभाव से गाई गई तो सभी बच्चे कविता का आनन्द ले रहे थे।



बच्चों में पढ़ने-लिखने के लिए भी ऊर्जा दिखी। तो यह भी कहा जा सकता है कविताएँ पढ़ने-लिखने की पूर्व तैयारी में मदद करती हैं जब वे एक-दूसरे के साथ मिलकर कविता गाते हैं, एवं अपने अनुभवों और अपनी कल्पना को कविता से जोड़ते हैं।

कक्षानुसार कविताओं पर काम करने के अलग-अलग उद्देश्य हो सकते हैं

उदाहरण के लिए कक्षा 1 में कविताओं, पर काम के दौरान यह समझ बनी कि बच्चे कविताओं में मज़े लेने के साथ-साथ पढ़ने-लिखने से भी ख़ुशी-ख़ुशी जुड़ते हैं उन्होंने जो कविता हावभाव से सुनाई होती है उसे लिखित में पढ़ने के लिए भी उत्सुक रहते हैं। कविता पर जब बातचीत होती है तो वे उसे अपने सन्दर्भों से जोड़ पाते हैं। कविताओं में आए मिलते-जुलते शब्दों से बनने वाले शब्द-खेल में बच्चे मज़े लेते हैं और स्वयं से नए शब्द बनाते हैं। कविताओं पर बच्चों के साथ बातचीत के काफ़ी अवसर होते हैं और इससे बच्चों का शब्दकोश भी बढ़ता है। जैसा कि पहले ज़िक्र किया कि इन बच्चों की स्थानीय भाषा (बुक्सार) हिन्दी से अलग थी इसलिए शुरुआत में तो बच्चे कविताओं में बहुत अधिक रुचि नहीं लेते थे और अपनी बात रखने में झिझकते थे लेकिन लगातार उन प्रक्रियाओं में काम करने के बाद बच्चों ने रुचि ली।

कक्षा 2-3 के बच्चे थोड़ा बहुत पढ़ना-लिखना सीख जाते हैं तो उनके वाक्य निर्माण और कविता निर्माण पर भी आसानी से काम हो पाता है। कविताओं में बहुत-सी ऐसी गतिविधियाँ भी हो सकती हैं जिससे बच्चों के साथ पढ़ने-लिखने पर काम हो सकता है। कविताओं में बच्चों के सन्दर्भ जुड़ते हैं तो उससे उनमें सोचने-समझने और कल्पना का नया संसार खुलता है। शुरुआती कक्षाओं (कक्षा 1 व 2) में जहाँ कविताएँ बच्चों को मज़े लेने, तुक बन्दी करने और शब्दों को जोड़ने-तोड़ने के लिए होती हैं वहीं आगे चल कर उन्हें सोचने का नया नज़रिया देती हैं। जिससे बच्चों में कल्पनाशीलता और संवेदनशीलता विकसित होती है और बच्चे कविता के सौन्दर्य की सराहना कर पाते हैं। इसका उदाहरण है कक्षा 3 भाषा की पाठ्यपुस्तक की कविता ‘मन करता है’

जिसमें बच्चा कल्पना करता है कि मन करता है कि मैं सूरज बनकर आसमान में दौड़ लगाऊँ आदि। कक्षा 4 भाषा की पाठ्यपुस्तक की कविता "कोई ला के मुझे दे" में बच्चे अपनी इच्छा को जता पातें हैं कि कोई उन्हें भी उनकी पसन्द की वस्तु ला कर दे आदि। प्राथमिक कक्षाओं में जहाँ कविता आनन्द देती है वहीं बड़ी कक्षाओं में कविताएँ बच्चों को संवेदनशील बनाने के साथ-साथ सौन्दर्य बोध भी कराती हैं और बच्चे साहित्य की सराहना करना भी सीखते हैं।

सुनीता शर्मा दो दशक से भाषा शिक्षण के क्षेत्र में सक्रिय हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन में उत्तराखण्ड के ऊधम सिंह नगर में भाषा स्रोत व्यक्ति के रूप में कार्यरत हैं।
सम्पर्क : sunita1@azimpremjifoundation.org

शिक्षा के द्वारा सामाजिक बदलाव लाने में महत्त्वपूर्ण कड़ी बन सकता है, मेंटर शिक्षक।

मेंटर शिक्षक नरेन्द्र सिंह से रंजना की बातचीत

पाठशाला के अगस्त के अंक में हमने दिल्ली में शिक्षक समर्थन कोशिशों की पड़ताल लेख छापा था जिसमें दिल्ली के सरकारी स्कूलों में हुए चर्चित बदलाव और उनमें की गई विविध पहलों की चर्चा की गई थी। शैक्षिक बदलाव की इस प्रक्रिया में मेंटर शिक्षकों की केन्द्रीय भूमिका थी। इसलिए इस अंक में इस अभियान से जुड़े मेंटर शिक्षक नरेंद्र सिंह से मेंटर शिक्षक के चयन, तैयारी, भूमिका और चुनौतियों सहित अभियान के विभिन्न पहलुओं पर बात की गई है।

सवाल : मेंटर शिक्षक की अवधारणा क्या है? शिक्षा विभाग को एक मेंटर शिक्षक से क्या अपेक्षाएँ हैं?

नरेन्द्र सिंह : वर्ष 2016 के मार्च महीने में दिल्ली सरकार के शिक्षा मंत्री ने दिल्ली के सरकारी स्कूलों में पढ़ाने वाले शिक्षकों को मेंटर शिक्षक बनने का आह्वान किया। उत्साही, अनुभवी, नवाचारी और बालमन को जानने-समझने वाले शिक्षकों को आगे आकर अपना योगदान देने की बात कही गई। इस योजना के अन्तर्गत एक मेंटर शिक्षक से मेहनत, लगन, समर्पण और शिक्षा में सुधार के लिए कार्य करने की अपेक्षा रखी गई।

सवाल : मेंटर शिक्षक बनने के लिए आपको किस-किस प्रक्रिया से गुजरना पड़ा?

नरेन्द्र सिंह : चयन की कसौटी एक इंडक्शन कार्यशाला रखी गई जिसमें प्रतिभागियों के लेखन एवं वाचन कौशल के साथ मनोवैज्ञानिक परीक्षण भी किए गए। इनमें कुछ इस तरह के प्रश्नों पर लिखना व बोलना था- आप मेंटर शिक्षक क्यों बनना चाहते हैं? आपकी स्ट्रेन्थ क्या हैं? आपकी कमज़ोरियाँ क्या हैं और आप अपनी कमज़ोरियों को कैसे दूर करेंगे? फिर समूह चर्चा भी इस कार्यशाला का एक हिस्सा था जिसमें चार-चार के समूह में दिए गए मुद्दों यथा- महिला सुरक्षा, पर्यावरण आदि पर चर्चा करनी थी। समूह चर्चा में उत्कृष्टता भी चयन के मानदण्ड में शामिल था।

सवाल : चयन के बाद आपकी भूमिका को ठीक से निभाने के लिए क्या-क्या तैयारी करवाई गई?

नरेन्द्र सिंह : सर्वप्रथम अप्रैल 2016 में उत्तरप्रदेश के हापुड़ में जीवन विद्या शिविर कराया गया। इस शिविर का मक़सद हमें आत्मिक रूप से तैयार करना था। इसमें जो काम हम कर रहे हैं वह कैसे कर रहे हैं, क्या हम इसमें दूसरों को जगह देते हैं? साथ ही यह भी कि हमें तो नियुक्ति पत्र के साथ यह गारंटी भी मिली है कि आपको फलाँ-फलाँ सुविधाएँ मिलेंगी ही, लेकिन क्या हम किसी तरह की कोई गारंटी स्कूल में आने वाले अपने बच्चों को देते हैं? पुनः 21 दिन का गहन प्रशिक्षण डाइट और विद्यालय के समन्वित सहयोग से कराया गया। इसमें मूलतः बच्चों के सीखने-सिखाने और बच्चों से जुड़ने की बात थी। हमने इस दौरान स्कूलों में जाकर कक्षा अवलोकन भी किए और उनपर बातचीत भी हुई। एससीईआरटी द्वारा विषय ज्ञान संवर्धन कार्यशालाएँ हुईं। मेरा विषय हिन्दी है, इस विषय की कार्यशाला में विधाओं की बात हुई, यह बात हुई कि जीवन से जुड़े उदाहरण कैसे कक्षा में लाए जा सकते हैं, नाटक कैसे पढ़ाएँ, नाटक और उसकी मंचता और सीखना आदि। कुल मिलाकर मानसिक, आत्मिक, तकनीकी और

प्रायोगिक दृष्टि से शिक्षकों को हुनरमन्द बनाया गया।

सवाल : मेंटर शिक्षक के रूप में आपने क्या–क्या काम किया ?

नरेन्द्र सिंह : हमारा मुख्य दायित्व पाँच मेंटी स्कूलों में जाकर छात्रों, शिक्षकों तथा प्रधानाचार्य को अकादमिक मदद उपलब्ध कराना था न कि वहाँ क्या हो रहा है इसकी रिपोर्ट लिखना। इस पूरे कार्यक्रम के मूल में ही सहयोग से स्कूल में काम करना और उनको उन्नत करना था। स्कूलों में ऐसी कई चीज़ें (कभी छोटी तो कभी बड़ी भी) होती रहती हैं जहाँ शिक्षक को मदद की ज़रूरत होती है जैसे एक स्कूल की एक कक्षा में 80 बच्चे थे और उनकी उपस्थिति लेना ही शिक्षक के लिए एक 'काम' था। इसी तरह शिक्षण के लिए रोज़ नई गतिविधियाँ सोचना और उन्हें करना, उनकी समस्याओं को सुनना आदि काम किए। साथ ही शिक्षा विभाग द्वारा शुरू किए गए विशेष अभियान 'चुनौती–2018', रीडिंग अभियान तथा कक्षा दसवीं के 'विश्वास' ग्रुप की मदद करना था। विद्यालय में समुचित शैक्षिक वातावरण के लिए शिक्षकों को तैयार करना। उन्हें बेहतर रणनीति और जीवन्त उदाहरणों के माध्यम से शिक्षण कार्य को उन्नत और फलदायी बनाने के लिए प्रोत्साहित करना। इस दौरान विषय–कार्यशालाओं में रिसोर्स पर्सन की भूमिका का निर्वहन भी किया।

सवाल : मेंटर शिक्षक के रूप में अपने कार्य के दौरान स्कूलों में आपको किस–किस चुनौती का सामना करना पड़ा ?

नरेन्द्र सिंह : सबसे पहली चुनौती कनेक्ट बनाने की थी? अपने स्कूल के बाहर के स्कूलों में शिक्षकों तथा विद्यालय प्रमुखों के बीच अपने लिए स्वीकृति का भाव बनाने में समय लगा। पहले–पहल सन्देह की दृष्टि बनी हुई थी, जिसे विश्वास में बदलने की बड़ी चुनौती थी। धीरे–धीरे सामान्य स्थिति बनने लगी। हमने बताया कि हम कमियाँ ढूँढ़ने, शिकायत करने या फ़ोटो खींचने ही नहीं आए हैं, हम तो आपका सहयोग करने आए हैं, आपके मित्र हैं। अपने कार्य और व्यवहार से उनका भरोसा जीतने में सफल रहे।

सवाल : अपने स्कूलों तथा शिक्षकों के साथ कैसे रिश्ता स्थापित किया ?

नरेन्द्र सिंह : मैंने विद्यालय तथा बच्चों के शुभचिन्तक के रूप में स्वयं को प्रस्तुत किया। मित्रवत व्यवहार रखा न कि एक अथॉरिटी के डर का। सुनने की क्षमता का विकास किया। तर्कपूर्ण समाधान बताए तथा शिक्षक साथियों को सराहा भी। उपयोगी सुझाव देकर उनके दिल में जगह बनाई। यहाँ एक उदाहरण का भी ज़िक्र करना चाहूँगा। एक दिन एक शिक्षिका को किसी काम की वजह से स्कूल के दफ़्तर में थीं। कक्षा ख़ाली थी बच्चे शोर कर रहे थे। मैं कक्षा में गया और बच्चों से बात शुरू की। जब शिक्षिका आईं तो उन्हें लगा कि उनसे बहुत बड़ी ग़लती हुई है वे थोड़ी घबरा भी गई थीं। तब मैंने उनसे बात कि और कहा कि कक्षा ख़ाली थी अतः मैंने बच्चों से कुछ बातचीत की, अब वे कक्षा ले सकती हैं। मैं उनकी उस कक्षा में बैठा भी और कक्षा में और क्या व कैसे हो सकता है इसपर भी हमने बाद में बातचीत की।

सवाल : कार्य के दौरान आप स्कूल जाकर क्या–क्या करते थे ?

नरेन्द्र सिंह : स्कूल में क्लास आब्ज़र्वेशन, शिक्षकों के साथ बातचीत, शिक्षकों तथा बच्चों को फ़ीडबैक, कक्षा–शिक्षण एवं प्रधानाचार्य के साथ सार्थक एवं उपयोगी संवाद करते थे, जैसे– स्कूल में पूरे शिक्षक हैं अथवा नहीं, एसएमसी के साथ मिलकर क्या–क्या कर सकते हैं, क्या सुविधाएँ हैं, क्या और होनी चाहिए। साथ ही हम स्कूल की एक रिव्यू रिपोर्ट भी लिखकर देते थे। और इस रिपोर्ट में महज़ सुझाव ही नहीं होते थे बल्कि पहले यह बात होती थी कि क्या–क्या बातें ठीक हैं, क्या नहीं हैं और फिर जो ठीक नहीं हैं उसके बारे में सुझाव।

सवाल : अपने कार्य के दौरान के कुछ रोचक अनुभव बताइए ?

नरेन्द्र सिंह : सबसे रोचक और आश्चर्यजनक तो यह था कि जो लोग शुरुआत में शक–सन्देह

की दृष्टि से देख रहे थे, वे अपनी कक्षा में मुझे ख़ुशी-ख़ुशी ले जाने लगे। विशिष्ट प्रशिक्षण के बाद मैंने अपने मेंटी स्कूलों में कुछ कक्षाएँ भी लीं। मैं जब भी स्कूल जाता, छात्र-छात्राएँ मुझसे अपनी कक्षा में आने का आग्रह करते। मुझे बहुत अच्छा लगता था।

सवाल : आपके हिसाब से दिल्ली के शिक्षा-सुधारों में मेंटर शिक्षकों का कितना योगदान रहा? वह योगदान कितना अनिवार्य और लाभप्रद है?

नरेन्द्र सिंह : एक अच्छी योजना प्रभावी क्रियान्वयन के बिना अधूरी ही मानी जाती है। मेंटर शिक्षकों ने शिक्षा विभाग के नवाचारों तथा नव प्रयोगों को धरातल पर उतारने में अग्रणी भूमिका निभाई। स्कूलों के शिक्षकों तथा विद्यालय प्रमुखों को मानसिक रूप से बदलाव के लिए तैयार किया। एक सकारात्मक सोच तथा बेहतर भविष्य के निर्माण में मेंटर शिक्षकों ने तन, मन व धन से स्वयं को समर्पित किए रखा। उनका यह योगदान मील का पत्थर साबित हुआ। दिल्ली के शिक्षा मंत्री मनीष सिसोदियाजी ने अपनी पुस्तक *शिक्षा मंत्र* में मुक्त कण्ठ से मेंटर टीचर्स की प्रशंसा की है। मेंटर टीचर्स के योगदान को स्कूलों में अकादमिक प्रोन्नत के रूप में देखा जा सकता है। कमज़ोर से कमज़ोर बालक पर भी फोकस किया जा रहा है।

सवाल : मेंटर शिक्षक होने के बाद आपको बतौर शिक्षक भविष्य में अपने लिए क्या सम्भावना दिखती है?

नरेन्द्र सिंह : एक मेंटर शिक्षक की भूमिका निभाने के बाद शिक्षण, प्रशिक्षण और अनुभव के द्वारा समस्याओं के बेहतर समाधान निकालने की क्षमता का विकास हुआ है। विषय की विशेषज्ञता बढ़ी है। कनैक्ट बनाना और संवादशीलता के गुण विकसित हुए हैं। सुनने की क्षमता तथा धैर्य, संयम आदि के साथ व्यक्तित्व में ठहराव की स्थिति बनी है। भविष्य में रिसोर्स पर्सन योजनाकार, प्रश्नपत्र तथा उक्त योजना आदि के निर्माण में सहभागिता की जा सकती है।

सवाल : मेंटर शिक्षक के रूप में आपका सफ़र कैसा रहा? आपको स्वयं में कुछ बदलाव दिख रहा है?

नरेन्द्र सिंह : मेंटर शिक्षक के रूप में मेरा सफ़र अच्छा रहा। बहुत कुछ जानने, सीखने और समझने का अवसर मिला। बहुत से लोगों से भेंट हुई। एक व्यापक दृष्टि में 'सबके साथ सबका विकास' की भावना पुष्ट हुई। बदलाव के रूप में वस्तुगत, तथ्यपरक तथा कार्यगत दृष्टिकोण का विकास हुआ। 'अमुक विद्यार्थी मुझे अच्छा लगता है' के स्थान पर 'अमुक विद्यार्थी का यह कार्य और व्यवहार मुझे अच्छा लगता है'। अब मैं इस माइंडसेट के साथ काम करता हूँ।

सवाल : मेंटर शिक्षक रहने के बाद स्कूल वापस आकर कैसा महसूस कर रहे हैं?

नरेन्द्र सिंह : यह अनुभव घर वापिसी जैसा है। कुछ हल्का महसूस कर रहा हूँ। पहले से अधिक ऊर्जा, उमंग, आत्मविश्वास और टीम भावना से लबरेज़ हूँ। अपने कार्य का मूल्यांकन एवं विश्लेषण करने का नया जज़्बा लेकर आया हूँ।

सवाल : कुल मिलाकर मेंटर शिक्षक की अवधारणा कितनी उपयोगी रही?

नरेन्द्र सिंह : दिल्ली के शिक्षा विभाग में 'मेंटर शिक्षक की अवधारणा' ख़ासी चर्चित रही है। नीति-निर्माताओं का मृदुल एवं स्नेहिल व्यवहार मेंटर शिक्षकों को संजीवनी देने का काम करता है। लगभग 200 मेंटर शिक्षकों ने दिल्ली की शिक्षा क्रान्ति में अपनी अमिट छाप छोड़ी है। इसकी उपयोगिता 'शिक्षक-बालक' सम्बन्धों में कनैक्ट और ट्रस्ट बिल्डिंग के रूप में देखी जा सकती है। हैप्पीनेस करिकुलम तथा इंटरप्रन्योरशिप माइंडसेट करिकुलम का प्रभावी क्रियान्वयन मेंटर शिक्षकों के सहयोग से ही हो पाया है।

सवाल : क्या स्कूल स्तर पर मेंटर शिक्षक होना चाहिए या इसे स्टेट लेवल पर ही किया जा सकता है?

नरेन्द्र सिंह : जी हाँ, स्कूल स्तर पर टीडीएस कार्यक्रम शुरू किया गया है। इसके द्वारा स्कूल तथा स्टेट लेवल का साझा एवं समन्वित उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

सवाल : क्या इसे अन्य राज्यों में भी लागू किया जा सकता है ?

नरेन्द्र सिंह : जी हाँ, यदि सम्बन्धित राज्य या केन्द्र सरकार को लगता है कि दिल्ली के शिक्षा विभाग का यह प्रयोग सफल एवं उपयोगी है तो इसे पूरे देश में भी लागू किया जा सकता है। एक मेंटर शिक्षक, शिक्षा के द्वारा सामाजिक बदलाव लाने में महत्त्वपूर्ण कड़ी बन सकता है। इस पहल का स्वागत होना चाहिए।

सवाल : अन्य राज्यों को 'मेंटर शिक्षक कार्यक्रम' लागू करने की स्थिति में आप क्या सुझाव देना पसन्द करेंगे ?

नरेन्द्र सिंह : सम्बन्धित राज्य को सर्वप्रथम शिक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता में लाना होगा। अपनी देशकाल परिस्थितियों के अनुरूप इसे लागू करना चाहिए। बेहतर हो पहले डाइट या अन्य शिक्षा केन्द्रों पर 'शिक्षक संवाद' कार्यक्रम रखे जाएँ। शिक्षक एवं प्रधानाचार्यों को मेंटर शिक्षक योजना के प्रभावी क्रियान्वयन, उद्देश्यों और सम्भावित चुनौतियों से परिचित कराया जाना चाहिए। इसका बड़ा लाभ यह होगा कि मेंटर शिक्षकों की सहज स्वीकृति शिक्षकों के बीच बन जाएगी।

रंजना : आपका आभार और साधुवाद।

नरेन्द्र सिंह : जी धन्यवाद, आपका अभिनन्दन।

नरेन्द्र सिंह, प्रवक्ता हिन्दी राजकीय उच्चतर माध्यमिक बाल विद्यालय सी–ब्लॉक, संगम विहार, नई दिल्ली
सम्पर्क : narendranihar@rediffmail.com

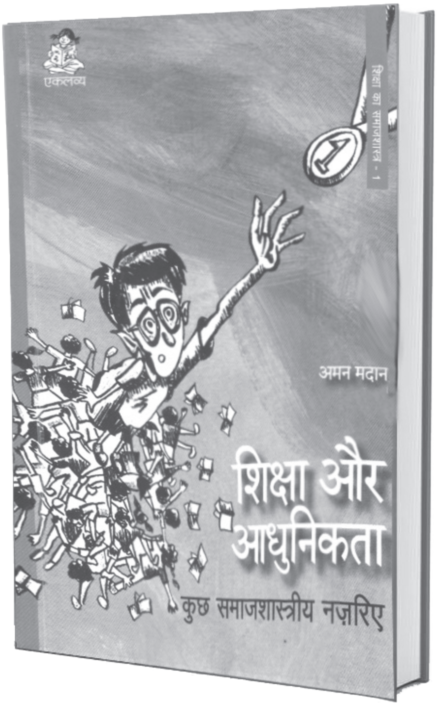
रंजना मूलत: पत्रकार हैं। कई पत्रिकाओं व अख़बारों में कार्य किया है। शिक्षा, स्वास्थ्य, महिला और विकास के विषयों पर कई स्वयंसेवी संस्थाओं में रहकर काम किया है। दस वर्षों से अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन में कार्यरत हैं।
सम्पर्क : ranjna@azimpremjifoundation.com

शिक्षा में बराबरी से बेहतरी

शिक्षा और आधुनिकता : कुछ समाजशास्त्रीय नज़रिए

दीपेन्द्र बघेल

‘शिक्षा और आधुनिकता : कुछ समाजशास्त्रीय नज़रिए’ के लेखक अमन मदान अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं। वे शिक्षा का समाजशास्त्र, सामाजिक सिद्धान्त और सामाजिक अर्थशास्त्र पढ़ाते हैं। यह छोटी-सी किताब आज के दौर के कुछ बुनियादी बदलावों की और शिक्षा के लिए इनके क्या मायने हैं, इसकी पड़ताल करने की कोशिश करती है।



शिक्षा और आधुनिकता
कुछ समाजशास्त्रीय नज़रिए

लेखक
अमन मदान
एकलव्य प्रकाशन, भोपाल

भारतीय शिक्षा जगत में जिस तरह की बुनियादी चुनौतियाँ उभर रही हैं और शिक्षा तंत्र जिन विकराल समस्याओं से जूझ रहा है, इसके मद्देनज़र अनेक स्थापित नज़रिए नाकाफ़ी दिख रहे हैं। मसलन प्रबन्धकीय कुशलता में माहिर नज़रिए कहते हैं कि बच्चे ही कमजोर हैं, इसलिए उन्हें आगे पढ़ाए जाने से बच्चों पर और व्यवस्था पर भी बोझ बढ़ेगा। इसी कुशलता के नुमाइन्दे यह भी कहते हैं कि शिक्षक भी योग्य नहीं हैं और वे बच्चों की विषय में समझ को निखार नहीं पाएँगे। इन दो मूल लक्षणों के इलाज के नाते हर साल नए-नए लुभावने शब्दों वाले कार्यक्रम आते हैं। साल ख़त्म होते-होते उभारे गए शब्द+ अपनी आभा खोने लगते हैं और फिर नए लफ़्ज़ों के साथ बोर्ड और फ़्लैक्स तैयार होने लगते हैं। नीति नियन्ता शासन, समाज को एक इकाई मानते हुए विद्यार्थी के गुण-दोषों के कारण उसी के भीतर ही मानता है, इसी प्रकार शिक्षक के गुण-दोषों के कारणों को उसी के भीतर ही मानता है और इसी नाते उन्हें ज़िम्मेदार और गुनहगार भी मानता है। पर समाजशास्त्र के पितामह इमाईल दुर्खीम ने बताया था कि व्यक्ति की आत्महत्या का कारण उसके भीतर न होकर सामाजिक व्यवस्था, जो सामूहिक न्यूरोसिस (मनस्ताप) व्यक्ति की इकाई के ऊपर डालती है, उसके कारण ही व्यक्ति आत्महत्या करता है। इन घटनाओं के मूल में समाज के ढाँचे, उसकी ताक़त, क़ायदे, नियम

और समाज में मौजूद दूसरे समूहों और वर्गों की गति भी रहती है। समाजशास्त्र, घटनाओं के विवेचन, स्पष्टीकरण, व्याख्या और मीमांसा में वृहद सामाजिक समाजशास्त्रीय नज़रिए को तरजीह देता है।

समाजशास्त्र का विश्लेषण और अपने ज्ञान पर पहुँचने का रास्ता, वैज्ञानिक पद्धतियों द्वारा तथ्यों को संयोजित कर, विश्लेषणों और व्याख्याओं की पूर्ति कर मूल्यों की जाँच से ही आता है।

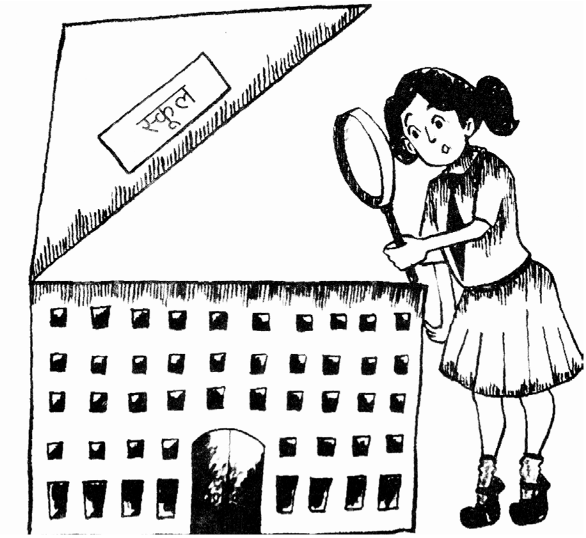
शिक्षा और आधुनिकता : कुछ समाजशास्त्रीय नज़रिए– लेखक– अमन मदान की प्रस्तुत पुस्तक बहुत ही सरसपूर्ण ढंग से लगभग किस्सागो शैली में ढेरों उदाहरणों से महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय अवधारणाओं और सिद्धान्तों को पाठकों के सामने रखती है, जिसे पढ़ते हुए पाठक समाजशास्त्रीय नज़रिए भी हासिल करने लगते हैं और कुछ धुँधले से स्कूली जीवन के स्मृति पटल पर चित्र, अवधारणाओं से दृश्यवान होने लगते हैं। अमन मदान, हिन्दी में व्याप्त चिन्तन की एक भारी कमी को भी दूर कर रहे होते हैं। कमी यह है कि व्यक्ति विषय में ज्ञान हासिल करने की विधि को तजते हुए आत्ममुग्धता से कई नतीजों और निष्पत्तियों को मौलिक चिन्तन के नाम पर प्रस्तुत करता है। ऐसे में ज्ञान प्रतिपादन की पद्धति समूचे व्यक्तित्व से ही संचालित हो रही होती है और पद्धति व विधि से नतीजे पर आने का तरीक़ा गौण हो जाता है। अमन, सामाजिक परिघटना को अलग-अलग अवधारणाओं से मय सन्दर्भ परखते हैं। ऐसे में वे बने-बनाए रास्तों पर नहीं चलते और समग्र मूल्यांकन करते हैं। मसलन, वे आधुनिकता की अवधारणा के प्रति न ही पूरे रूमानी होते हैं और न ही रूखे व नकारवादी विश्लेषक।

वे अनेक स्थापित दृष्टिकोणों से अवधारणा को परखते हैं, और विभिन्न मतों और नतीजों को अपने पाठकों के सामने रखते हैं। यहाँ वे पाठक को सोचने के लिए उकसाते हैं कि वह अपने मूल्यों को तय कर, तुलनाएँ कर अपना मत ढूँढ़ें और राय बनाएँ। यहाँ पर अमन में अपनी बात को मनवा लेने का आग्रह नहीं है, वे एक तरह से वैचारिक स्वतंत्रता देकर पाठकों की समझ बनाने के विवेक को जागृत करते हैं। इससे पाठक अन्य सन्दर्भ सामग्री और परिस्थितियों का अध्ययन कर अपनी समझ को निखार सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में अधिकांश निबन्ध, 'दिगन्तर' द्वारा प्रकाशित पत्रिका *शिक्षा विमर्श* में छप चुके हैं एवं यह पुस्तक एकलव्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित की गई है। पुस्तक में छह अध्याय हैं। पहले अध्याय में 'शिक्षा का समाजशास्त्र: एक परिचय' है। दूसरे अध्याय में 'जटिल समाजों में शिक्षा' है। तीसरे अध्याय में 'शिक्षा, बाज़ार का विकास और सामाजिक टकराव' है। चौथे अध्याय में 'पूँजीवाद और शिक्षा : कुछ बुनियादी मुद्दे' है। पाँचवे अध्याय में 'औपचारिक संगठनों के माध्यम से शिक्षा' है। छठे और अन्तिम अध्याय में 'आधुनिकता, पहचान और शिक्षा' है।



स्कूली शिक्षा का सामाजिक सन्दर्भ

पुस्तक के कवर पेज का चित्र, जिसे कनक शशि ने बनाया है, इतना प्रभावी है कि वह बच्चों के मन और शरीर पर पड़ने वाले विघटनकारी तनाव को सूक्ष्मता और गहरी संवेदन-शीलता से चित्रित करता है। आपसी प्रतियोगिता बच्चों के मन और शरीर को कितनी गहराई से चोट पहुँचाती है, इसका मार्मिक विवरण चित्र में देखा जा सकता है।



समाजशास्त्र सबूतों की पड़ताल करता है

पहले अध्याय में अमन मदान शिक्षा के समाजशास्त्र का परिचय देने के पहले एक सवाल उठाते हैं कि दसवीं पास किसान का बेटा क्या करे। न तो वह किसानी करना चाहता है और न ही किसी नौकरी को करने के क़ाबिल हो पाया है। वे यह सवाल उठाते चलते हैं कि भारत में बदलाव तो तेजी से घट रहे हैं, पर पूर्वजों के दिए गए संस्कारों और आज की पीढ़ी में कैरियर व मूल्य बोध के बीच हम टकराहट को देख सकते हैं। आज होने वाले परिवर्तनों की कल्पना हमारे परिवारों में पहले कभी नहीं की गई होगी। मसलन अब महिलाएँ कह रही हैं कि वे पढ़ना चाहती हैं और सिर्फ़ माँ या पत्नी बनकर नहीं रहना चाहतीं। इसी प्रकार ऐतिहासिक रूप से दूर रखे गए कई समुदाय अब शिक्षा की माँग कर रहे हैं। अमन कहते हैं– 'शिक्षा को ज़्यादातर मनोवैज्ञानिक नज़रिए से देखा जाता है, एक ऐसी गतिविधि की तरह जो सिर्फ़ कक्षा और परिवार तक ही सीमित हो। शिक्षा में सुधार लाने की कोशिशों का ध्यान पढ़ाने की ज़्यादातर बेहतर विधियों और ज़्यादा रोचक पाठ्यपुस्तकों के निर्माण जैसी बातों पर रहता है। मेरी यहाँ पर यह प्रस्तावना है कि इन सब पर समाज के स्वरूप का गहरा असर पड़ता है और इस बात का भी कि समाज में किस तरह के परिवर्तन आ रहे हैं।' वे आगे कहते हैं कि 'निरन्तर आगे बढ़ते तरक़्क़ी पसन्द समाज में बड़ों को छोटे से सीखने में फ़ायदा होता है।' वे आगे कथन करते हैं कि शिक्षा के उद्देश्य और अर्थ का समाज के स्वरूप से गहरा रिश्ता है और इस स्वरूप के बदलाव के साथ शिक्षा के मायने भी बदल सकते हैं।

अमन मदान दैनिक जीवन में बोलचाल में आए आसान-से-आसान लफ़्ज़ों का इस्तेमाल करके शिक्षा के समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य को समझाने की कोशिश करते हैं। वे इस अध्याय में समझाते हैं कि प्राय: व्यक्तिगत उपलब्धि के रूप में ही योग्यता को समझ कर समाज में गुणगान किया जाता है, पर वे बताते हैं कि योग्यता सामाजिक संसाधनों द्वारा मुमकिन होती है। मसलन, पारिवारिक माहौल और संसाधनों की उपलब्धता से व्यक्ति के भीतर की सम्भावनाएँ योग्यता की शक्ल ले पाती हैं। एक अन्य उदाहरण में वे एक समाजशास्त्रीय अध्ययन का हवाला देते हुए बताते हैं कि भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान में दलित वर्ग के छात्रों को विषय में योग्यता के नाम पर कितना तिरस्कार और अपमान झेलकर सामाजिक बहिष्कार को झेलना पड़ता है। इस तरह के उदाहरणों से समझ में आता है कि घटनाओं को सामाजिक प्रक्रियाओं के नज़रिए से समझना चाहिए। इस अध्याय से सहज ही समझ में आता है कि दलित वर्ग, महिलाओं और

निर्धन वर्ग की शिक्षा को विशेष संवेदनशीलता से समझा जाना चाहिए, क्योंकि इतिहास की धारा में इन सबको शिक्षा का अवसर देने की परम्परा में काफ़ी विरोध से जूझना पड़ता है। मसलन, एक लड़की को घरेलू कामों के साथ खेती और रोज़गार के भी काम करने पड़ते हैं और इसके साथ ही अपनी तालीम हासिल करने की पूरी जद्दो-जहद करनी पड़ती है। यानी विद्यार्थी की भूमिका के साथ घरेलू कामगार और बाहरी मज़दूरी की भूमिका भी एक छात्रा को निभानी पडती है। 'शिक्षा का समाजशास्त्र' एक तरह से हमें वह नज़रिया देता है, जिसमें हम परिवार, जाति संरचना और संसाधन उपलब्धता को देखते हुए शैक्षणिक प्रक्रियाओं में आने वाली चुनौतियों और ख़तरों को सामाजिक नज़रिए से समझकर उसके निदान ढूँढ़ने की दिशा में बढ़ सकते हैं।

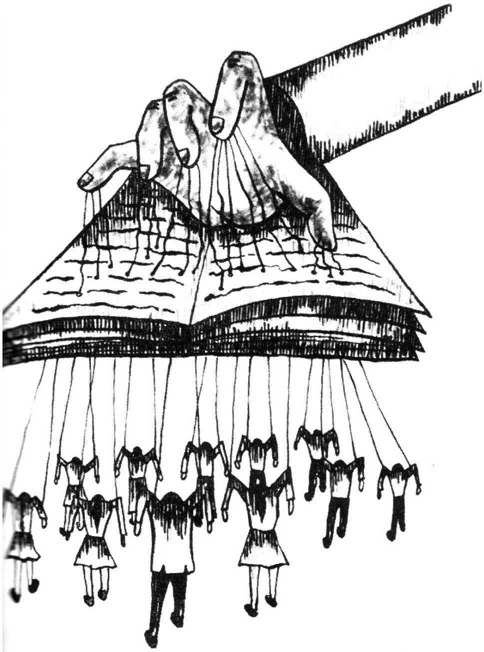
दूसरे अध्याय में अमन 'जटिल समाजों में शिक्षा' की चर्चा करते हैं। वे बताते हैं कि मनुष्य की सांस्कृतिक यात्रा सरल समाज से जटिल समाज की ओर रही है। सरल समाज में सम्बन्धों का ढाँचा पारिवारिक और नातेदारी-आधारित होता है। छोटे समूहों में, मसलन, शिकारी समूह घूम-घूमकर अपने कार्य कर जीवनयापन करते हैं। इनमें कार्यों की विशेषज्ञता नहीं होती और नातेदारी के आधार पर वे उत्पादक से लेकर उपभोक्ता की और शिक्षक से लेकर छात्र की सारी भूमिकाओं को निभाते हैं। यहाँ अमन समाजशास्त्र की सरल परिभाषा भी बताते हैं, 'समाजशास्त्र मूल रूप से सामाजिक रिश्तों और भूमिकाओं के अध्ययन का ही नाम हैं।' वे यहाँ पर सरल समाजों को जोड़ने वाली यांत्रिक एकजुटता का ज़िक्र भी करते हैं जो भावनात्मक और भाई-चारे की भावनाओं पर आधारित होती है। अमन बताते हैं कि जटिल समाजों के बनने की प्रक्रिया उद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रक्रियाओं से शुरू होती है, इनमें प्रोफ़ेशनल समूहों की संख्या बढ़ती है, जैसे– इंजीनियर, प्रबन्धक, चिकित्सक, वास्तुकार, डिज़ाइनर, वकील इत्यादि। समाजशास्त्र के पितामह इमाईल दुर्खीम के सहारे अमन कहते हैं कि जटिल समाजों में जैविक एकजुटता बनी रहनी चाहिए जो तमाम तरह के सामाजिक समूहों और विभाजनों के बीच संवाद स्थापित कर सके। वे यह भी कहते हैं कि 'जटिल समाजों में यह बेहतर है कि लोग अपने-आप ही जीना और काम करना सीख लें। इस तरह ज़रूरी है कि वे ख़ुद अपने लिए सोचना भी सीखें। जटिल समाजों की अधिक उलझी हुई भूमिकाएँ यह माँग करती हैं कि लोग अपने काम का स्वतंत्र आकलन करें और तेज़ी से समझ कर निर्णय लें।

पूरे अध्याय का निष्कर्ष इस रूप में सामने आता है कि 'शिक्षा से एक अपेक्षा यह की जाती है कि वह युवा पीढ़ी को जटिल समाज के तौर-तरीक़े सिखाए। हम चाहते हैं कि शिक्षा उन्हें ऐसे सामाजिक ढाँचे के लिए उचित संस्कृति सिखाए।' यह संस्कृति सरल समाजों की नातेदारी-आधारित सरल समाजों की शिक्षा से काफ़ी अलग होगी। वहीं अमन इस अध्याय में विशिष्टतावाद से सार्वभौमिक



शिक्षा का उपहार

संस्कृति की संक्रमण प्रक्रियाओं की चर्चा करते हैं। बेहद आसान लफ़्ज़ों में वे इसे बताते हैं। 'मैं कौन हूँ' का भाव मेरा परिवार और इसका इतिहास व इसके जुड़ाव विशिष्टतावादी संस्कृति को बताते हैं, पर 'मैं मसलन किस स्कूल में पढ़ता हूँ', 'मेरी कारख़ाने या दफ़्तर में पेशेवर भूमिका क्या है', जैसे प्रश्न सार्वभौमिक संस्कृति के पनपने की जगह बनते हैं। शिक्षा का समाजशास्त्र हमें यह बताता है कि आधुनिक शिक्षा किस तरह से जटिल समाज की संस्कृति निर्माण को लक्ष्य में रखकर सार्वभौमिक संस्कृति, व्यक्तिवाद, पेशेवर विशिष्टता और जैविक एकजुटता का विकास करना चाहती है।



लिखित शब्द की तानाशाही

सरल समाज से जटिल समाज के संक्रमण में अनिर्णयों (Anomie) में फँसा व्यक्ति अपने चयनों को लेकर उलझनों में रहता है। मसलन वह फ़ैसला नहीं कर पाता कि उद्योगीकरण और नगरीकरण के निर्वैयक्तिक मूल्यों को स्वीकार करे या मसलन ग्रामीण लोक समाजों के मूल्यों को स्वीकार करे। वह शहरी समाजों या जटिल समाजों में अजनबीयत, बेगानापन या अलगाव महसूस करता है। इस अध्याय में भली-भाँति हम समझ पाते हैं कि शिक्षा अपने उद्देश्यों और लक्ष्यों में किस तरह जटिल समाज की ओर उन्मुख होती है। व्यक्तिवाद, सार्वभौमीकरण, पेशेवर विशिष्टता, कार्य-आधारित नैतिकी और जैविक एकजुटता के मूल्य आधुनिकता में रचे-बसे होकर शिक्षा के स्वरूप को प्रभावित करते हैं।

तीसरे महत्त्व-पूर्ण अध्याय में अमन 'शिक्षा, बाज़ार का विकास और सामाजिक टकराव' की चर्चा करते हैं। इस अध्याय की शुरुआत में ही वे कहते हैं कि बाज़ारों के विकास और ख़रीद-फरोख़्त के ज़रिए माल एवं सेवाओं के आदान-प्रदान के बारे में बात करेंगे। अमन आज के समय के महत्त्वपूर्ण लक्षण को बतलाते हैं कि अब हम ऐसे रिश्तों को बदलते हुए देख रहे हैं, जो पहले ग़ैर-मौद्रिक (यानी बग़ैर पैसे के लेन-देन पर आधारित) थे, लेकिन अब इनमें पैसों का लेन-देन महत्त्वपूर्ण हो गया है। वे दर्ज करते हैं कि इन बदलावों का शिक्षा के रोज़मर्रा के अनुभव पर भारी असर दिखता है और उसके उद्देश्यों और पाठ्यचर्या पर भी। अमन यहाँ प्रतिपादित करते हैं कि शिक्षा अगर पारस्परिकता को समृद्ध कर शिक्षक और शिक्षार्थी का गुणात्मक विकास प्रदान करती है। पर अगर बाज़ार ही शिक्षा का निर्धारक हो जाए, तब शिक्षा की क़ुदरती फ़ितरत पर विपरीत असर पड़ता है। मसलन शिक्षकों की तनख़्वाह और विद्यार्थियों की फ़ीस बाज़ार में माँग और आपूर्ति के नियम से तय हो रही है और इस नाते निजीकरण के बढ़ते प्रभाव ने शिक्षा के मूल में रची-बसी पारस्परिकता को क्षत-विक्षत किया है और शिक्षा केवल बाज़ारू लेन-देन की वस्तु बनाई जा रही है। अमन, कार्ल पोलान्यी की भाषा का इस्तेमाल करते हुए कहते हैं कि विभिन्न समाजों में माल और सेवाओं, जिनमें

से शिक्षा भी एक है, के आदान-प्रदान के तीन मुख्य तरीक़े होते हैं— पारस्परिकता (Mutualism), पुनर्वितरण (Redistribution) और जिंसीकरण (Commodification)। इन्हीं तीन तरीक़ों मे हरेक से शिक्षा की फ़ितरत मुक़र्रर होती है। मसलन, पारस्परिकता के मार्फ़त ही शिक्षा अपने पूर्ण मानवीय उद्देश्य की पूर्ति के नाते शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच परस्परता के सम्बन्धों का विकास करती है। यह पारस्परिकता ही तो वह बुनियाद है, जिसपर शिक्षक और विद्यार्थी परस्पर मानवीय सम्बन्धों में रुचि लेकर एक-दूसरे का विस्तार कर, दोनों को परस्पर समृद्ध कर सकते हैं। पर शिक्षा जब जिंसीकरण या बेचनेयोग्य कमोडिटी बन जाती है, तब शिक्षा की प्रकृति पर विपरीत असर बन जाता है और शिक्षक-शिक्षार्थी के बीच के मानवीय रिश्ते यांत्रिक और उपकरणीय हो जाते हैं। शिक्षक सेवा प्रदाता और शिक्षार्थी महज निष्क्रिय उपभोक्ता बन पाता है। ऐसी परिघटना समाज में भीषण ग़ैर-बराबरी और विषमता को जन्म देती है। मसलन, ज़्यादा क्रय क्षमता वाले विद्यार्थियों को अपने विकास के ज़्यादा मौक़े मिलते हैं और कम क्रय क्षमता वाले विद्यार्थी बाज़ार द्वारा संचालित इस दौड़ में मौक़े क्या, बेहद विषम परिस्थिति वाले, हर दिन चुनौतियों और ख़तरों का सामना करते हैं, और अन्तत: कम संसाधन वाले विद्यार्थी, वंचनाकरण और निर्धनीकरण का सामना करते हैं। सामाजिक परिवर्तन के दबाव के चलते बाज़ार और जिंसीकरण के बढ़ते असर के कारण लोगों और साधनों को उनके परिवेश से निकालकर बड़ी आसानी से यहाँ से वहाँ किया जाता है। कार्ल पोलान्यी इसे समाज के अंशों के घुलाव का नाम देते हैं। सामाजिक घुलाव के चलते तमाम रिश्तों, लेन-देन बन्धनों और रूढ़ियों से भी लोग आज़ाद होते हैं। अमन कहते हैं, ज़ाहिर है कि इसके अपने नफ़े-नुक़सान हैं। वे बताते हैं कि



प्रतियोगिता

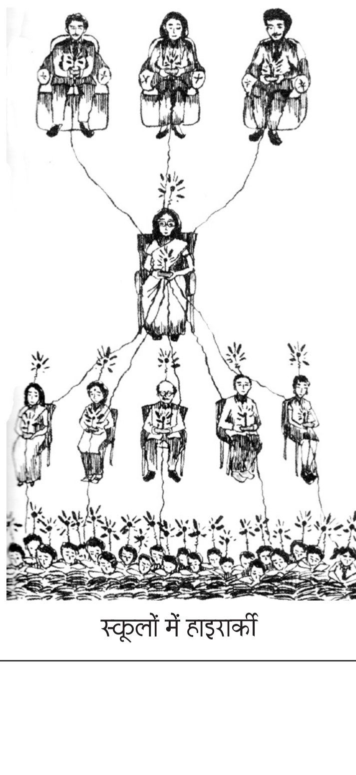
खेतीहर मज़दूर अकसर अनुसूचित जातियों और जनजातियों से ही होते हैं।

मज़दूरी के बाज़ार के विकास से उनके लिए गाँव से शहर की ओर पलायन करना आसान हो गया है। मजदूर गाँवों की ज़लालत-भरी ज़िन्दगी को छोड़कर शहर भी आना चाहते हैं। भले ही उन्हें शहरों में रिक्शा चलाना पड़े, पर वे सिर झुकाकर निरन्तर तिरस्कार नहीं झेलना चाहते हैं। अमन मदान शिक्षा की ठोस व्यवहारिकी को खोलते हुए बताते हैं कि अब लोग शिक्षा से धन, ओहदा और शक्ति भी चाहते हैं। अमन लगभग आगाह करते हुए कहते हैं कि बाज़ार उन लोगों को ज़्यादा ताक़त देता है जिनके पास ज़्यादा संसाधन हैं।

अमन इस अध्याय में एक और अहम बात स्थापित करते हैं कि लोकप्रिय पाठ्यक्रमों के निर्धारण में भी अमीर वर्ग की भूमिका होती है। निर्धन वर्ग के उत्थान के लिए बेहतर पाठ्यक्रम ज़्यादा लोकप्रिय नहीं होते। इससे निर्धन लोगों की ज़िन्दगी को बेहतर करने वाले पाठ्यक्रम ज़्यादा लोकप्रिय नहीं होते हैं। वे इस नतीजे पर आते हैं कि बाज़ार कई समस्याओं व टकरावों का हल भी देते हैं और कई नए टकराव भी पैदा करते हैं।

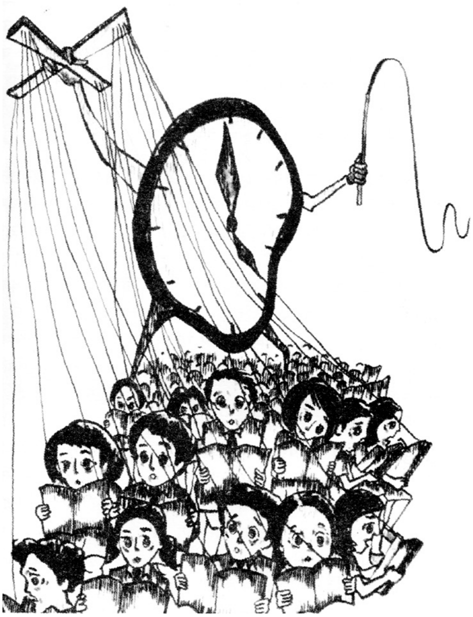
चौथे अध्याय में 'पूँजीवाद और शिक्षा : कुछ बुनियादी मुद्दे' पर अमन चर्चा करते हैं। वे कहते हैं कि भारत में पूँजीवाद का विकास एक ऐसी प्रक्रिया है, जो शिक्षा पर गहरा असर डाल रही है। हमेशा की तरह अमन पूँजीवाद प्रक्रिया के ऐतिहासिक कारणों में जाते हैं। वे बताते हैं कि यूरोप, चीन, सोवियत संघ और भारत जैसे अन्य देशों में पूँजीवाद, सामन्तवाद की कोख से उपजा। मध्य युग में सामन्त राजा के प्रति वफ़ादारी का भाव रखते थे और राजस्व का एक हिस्सा भी राजा को देते थे। सामन्त लोग हज़ारों किसानों को अपने अंकुश / स्वामित्व के नियंत्रण में रखकर किसानों से काम लेते थे। किसानों को पूर्ण स्वामित्व में रखकर पूरी वफ़ादारी से किसानों से हुक्म की तामील करवाते थे। सामन्त की इच्छा ही समूचे सामन्त तंत्र को संचालित करती थी और वफ़ादारी में खोट दिखने पर सामन्त मन-मर्ज़ी से हुकूमत चलाता था और अपने तंत्र को अधीनों की चरम वफ़ादारी से चलाता था। मुद्रा के उस समय प्रचलन में न होने के कारण मज़दूरों को कपड़े, अनाज और कुछ सामान मिल जाता था। ज़ाहिर है, ऐसे समय शिक्षा कुलीन वर्ग के हितों के लिए काम करती थी पर आम जन को विकास के अवसर मुहैया कराने वाली शिक्षा ही नहीं थी।

अमन बताते हैं कि सामन्तवाद की अर्थव्यवस्था धीमी थी और कृषिप्रधान होने के नाते सामन्त मज़दूरों की वफ़ादारी से उन्हें कुछ ज़रूरतों की चीज़ें देकर अपनी हुकूमत बरक़रार रखते थे। इसके बाद उद्योगीकरण, नगरीकरण और मुद्रा के प्रचलन के कारण पूँजीवाद प्रचलन में आता है। पूँजीवाद बड़े सामाजिक बदलावों का कारण बनता है, इसके कारण सब लोगों की तालीम का स्वरूप भी प्रभावित होता है। सामन्तवादी मज़दूर तो वफ़ादारी के चलते अपने मालिक के लिए मरने तक को तैयार हो जाता था और अमन कहते हैं कि इस तरह के सम्बन्ध को बनाए रखने के लिए कई कहानियाँ और मिथक गढ़े जाते थे।


स्कूलों में हाइरार्की

अमन आगे कहते हैं कि पूँजीवाद का युग अनुबन्ध और सौदे का युग है, जिसे कभी भी तोड़ा जा सकता है और फिर बनाया भी जा सकता है। वे आगे कहते हैं कि आर्थिक सत्ता का आधार सामन्तवाद की तरह ज़मीन नहीं है, बल्कि मुद्रा के रूप में पूँजी को ज़्यादा-से-ज़्यादा एकत्रित करने की क्षमता है। जिनके पास ज़्यादा पूँजी होती हैं, वे बाज़ार को अच्छी तरह से अपनी मुट्ठी में रख सकते हैं और कम-से-कम लागत पर ज़्यादा कुशल तरीक़े से उत्पाद बना सकते हैं। वे आगे यह भी कहते हैं कि ऐसे में ज्ञान की प्राथमिकता, महत्त्व और अर्थ में फ़र्क़ आ जाता है। वह ज्ञान महत्त्वपूर्ण हो जाता है जो बता सके कि किसी काम में कितनी मेहनत की गई है और सबसे कम लागत में अधिक-से-अधिक फ़ायदा हासिल करने का क्या तरीक़ा हो सकता है। अमन आगे कहते हैं कि पूँजीवाद की माँग है कि शिक्षा लोगों को नौकरियों के क़ाबिल बनाए और सामन्तवादी समाजों में दी जाने वाली शिक्षा की तरह महज़ संस्कार न दे। वे दूसरे लोगों के दृष्टिकोण को भी रखते हैं कि शिक्षा को बाज़ार की तरह चलना चाहिए। मगर इसके विरोध में कुछ लोग कहते हैं कि ऐसा करने से सिर्फ़ अमीर अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा दे पाएँगे और ग़रीब पीछे रह जाएँगे। अमन कहते हैं कि पूँजीवाद ने शिक्षा व्यवस्था के सामने कई सवाल खड़े किए हैं। आगे अमन महत्त्वपूर्ण कथन करते हैं कि भारत में पढ़ा-लिखा

वर्ग जो पक्की नौकरियों में है, अभी भी भारत में अल्पसंख्यक ही है। भारत में दूसरा विशाल वर्ग जैसे कि किसान, कारीगर, पशुपालक इत्यादि शिक्षा व्यवस्था में फैले होते हैं और रोज़गार बाज़ार से बाहर हो जाते हैं। वे पूँजीवाद में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर्विरोध अजनबीयत को बताते हैं, जो अपने काम से अलगाव के नाते असन्तुष्टि या काम के फल न मिलने से बनती है, अपने काम में आनन्द न मिल पाना पूँजीवाद में असन्तुष्टि और तनाव का बड़ा कारण है। शिक्षा में भी अजनबीयत के अहसास को महसूस किया जा सकता है। मसलन एक छात्र जो ख़ुद को कक्षा में पढ़ाई जा रही बातों से जोड़ नहीं पाता क्योंकि शिक्षक पाठ्यक्रम पूरा करने की हड़बड़ी में विषय पर खुल कर बात ही नहीं कर पाता।

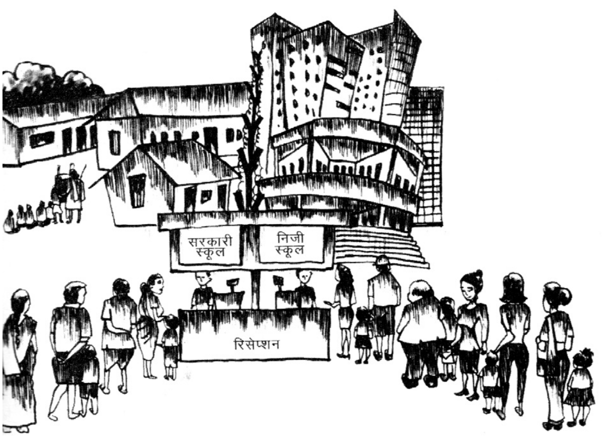


घड़ी की तानाशाही

अमन आगे समझाते हैं कि पूँजीवाद ने बीसवीं शताब्दी में श्रमिकों के साथ कई तरह के समझौते किए और उन्हें बेरोज़गारी भत्ता और बढ़ी तनख़्वाहें दीं। पश्चिमी यूरोप और कनाडा में सामाजिक जनतांत्रिक सरकारों ने कल्याणकारी राज्य बनाए। यहाँ सब बच्चे सरकारी स्कूलों में जाते दिखते हैं, तो यह पूँजीवाद के साथ-साथ इन राजनीतिक प्रक्रियाओं के कारण ही मुमकिन हो पाया है। वे बताते हैं कि इन मुल्कों में अच्छी शिक्षा बनी ही इन समझौतों से है, जिनमें पूँजीवाद सरकार और कई वर्ग एवं समूहों ने आपस में करार किया। भारत में पूँजीवाद के इतिहास की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि 1991 में इसी विचारधारा के चलते भारत में आर्थिक उदारवाद की शुरुआत की गई। तब से इस विचारधारा का असर अधिकांश राजनीतिक पार्टियों के बीच फैल चुका है और इसका असर कई राज्य और केन्द्र सरकार की नीतियों में दिखता है। अमन बताते हैं कि नियमित नौकरियों की बजाय ठेके या कॉन्ट्रैक्ट पर दी जाने वाली नौकरियाँ बढ़ी हैं और अब बहुत से शिक्षक कॉन्ट्रैक्ट पर पढ़ाते हैं। वे यहाँ पर प्रतिपादित करते हैं कि पूँजीवाद और उसपर उठते विवादों को देखे बिना हम आज के भारत में शिक्षा की भूमिका को समझ ही नहीं सकते हैं। वे अन्त में नतीजे पर आते दिखते हैं कि शिक्षा, पूँजीवाद और सरकार दोनों से अभिन्न तरीक़े से जुड़ी है, चाहे वह पाठ्यक्रम में शामिल ज्ञान का मामला हो या शिक्षकों की छवि का, अथवा विद्यार्थियों के सीखने और उनके द्वारा अर्जित मूल्यों का।

पाँचवे अध्याय में ‘औपचारिक संगठनों के माध्यम से शिक्षा’ में अमन कहते हैं कि पूँजीवाद के विकास और रिश्तों के घुलाव के चलते बड़े-बड़े कारख़ानों और संस्थाओं का बनना मुमकिन हो जाता है। मैक्स वेबर की ब्यूरोक्रेसी की अवधारणा यानी औपचारिक संगठनों की भूमिका पर अमन मदान विस्तारपूर्वक चर्चा करते हैं। ब्यूरोक्रेसी अर्थात शीर्ष पद पर बैठा नौकरशाह, प्रबन्धक पदानुक्रम यानी पद संरचना द्वारा श्रम के विभाजन से कार्य के छोटे-छोटे हिस्से कर व्यवस्थित समय-सारिणी द्वारा उद्देश्यों को प्राप्त करता है। औपचारिक संगठनों का आकार बेहद बड़ा होने के कारण नियमों एवं प्रक्रियाओं के मार्फ़त काम का रुटीनीकरण हो जाता है। निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व के चलते काम में एक

तरह की भावशून्यता और दोहराव आने लगता है। इसका सीधा और व्यापक असर बढ़ी शिक्षा प्रणालियों पर दिखता है। सचिवालयों में शिक्षकों और विद्यार्थियों से जुड़े नीतिगत निर्णय, फिर स्कूलों में विषयवार समय-सारिणी, कक्षाओं के बँटवारे और शिक्षक की विशेषज्ञतानुसार समय-सारिणी का यांत्रिक दोहराव, इन दोहरावों में फँसी यांत्रिक प्रक्रियाओं के कारण शिक्षक अधीनस्थ कर्मचारी की तरह व्यवस्था में फँस जाता है। उसे बार-बार आदेश और दिशा-निर्देश अपने काम को अंजाम देने के लिए दिए जाते हैं। ऐसे में उसकी भाव ऊर्जा और पहलक़दमी खोने लगती है। पढ़ने वाले विद्यार्थी में रुचि लेकर उत्साहपूर्वक सीखने-सिखाने की इच्छा निर्जीव होने लगती है, क्योंकि सीखने-सिखाने की विधियों में यांत्रिकता आ जाती है और शिक्षक-विद्यार्थी के परस्परतापूर्ण सम्बन्धों में रूखापन आने लगता है। अमन यहाँ पर बताते हैं कि औपचारिक संगठन केवल तात्कालिक लक्ष्यों पर ध्यान देते हैं, ताकि तात्कालिक ज़रूरतें पूरी हो सकें। मैक्स वेबर इसे उपकरणवादी सोच कहते हैं जिसमें केवल मतलबी और तकनीकी तरकीबों से काम किया जाता है एवं भावना, मूल्य, सौन्दर्य और जीवन के तमाम पहलुओं को अनदेखा किया जाता है। मैक्स वेबर का मानना था कि औपचारिक संगठनों से हम कुछ सार्थक और बेहतर ढंग से कर पाते परन्तु न केवल ये संगठन ख़ुद ही लोहे का पिंजड़ा बनते गए हैं बल्कि स्कूल भी लोहे के पिंजड़े बन कर रह गए हैं। अमन सुझाते हैं कि औपचारिक संगठन की भावना से संचालित स्कूलों में प्रयोगशीलता के चलते, मानवीय रिश्तों के पनपने की बात की जा रही है, जिससे स्कूलों में सजीव तरीक़ों से सीखने-सिखाने की गतिविधियाँ शक्ल ले सकें।



शिक्षा में जिंसीकृत लेन-देन

छठे और आख़िरी अध्याय में अमन 'आधुनिकता, पहचान और शिक्षा' की चर्चा करते हैं। वे कहते हैं कि आज अलग-अलग ताक़तें शिक्षा को विपरीत दिशाओं में खींच रही हैं जहाँ परस्पर विरोधी और सांस्कृतिक रुझानों में खुल कर टकराव भी हो रहे हैं। विभिन्न आर्थिक और राजनीतिक ताक़तों का टकराव भी आज की शिक्षा में साफ़ दिख रहा है। अमन कहते हैं कि संरचनात्मक और व्यापक प्रक्रियाओं के जरिए उन्होंने जटिल समाजों के उदय, बाज़ारीकरण और संस्थाओं के तार्किकीकरण की प्रक्रियाओं पर बात की है। वे इस नतीजे को हमारे सामने रखते हैं कि स्कूलों और विश्वविद्यालयों में चलने वाली प्रक्रियाएँ हमारे बुनियादी सम्बन्धों और पहचानों को तय करती हैं। वे कहते हैं कि ये प्रक्रियाएँ संरचनात्मक रूप से इसलिए अहम हैं कि वे बहुत सारी स्थितियों को बुनियादी सन्दर्भ या आकार प्रदान करती हैं, जिनमें हम लोगों की शिक्षक, विद्यार्थी, पाठ्यचर्या निर्माणकर्ता या प्रशासक के रूप में भूमिकाएँ भी शक्ल ले रही होती हैं। वे कहते हैं जटिल समाजों का निर्माण, बाज़ारीकरण और संस्थाओं का तार्किकीकरण आधुनिकता के ही लक्षण हैं। वे बताते हैं कि आधुनिकीकरण का बदलाव ख़ुद को और अपनी दुनिया को समझने के लिए तर्क के अधिकाधिक प्रयोग की दिशा में रहा है। यहाँ तक कि अपने विकल्पों को भी तर्क की कसौटी पर कसने की बात है। अमन कहते हैं कि समाज विज्ञान का विकास, आधुनिक-तावादी चिन्तन यानी इसी लौकिक जगत के कार्य-कारण के समझने

के सिलसिले को बताता है। मसलन हम ग़रीबी के लक्षण को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारणों की पड़ताल करते हुए समझने की कोशिश करते हैं। यह तरीक़ा ग़रीबी को प्रभु इच्छा या पूर्वजन्म के कर्म या भाग्य के मिथकीय कारणों से नहीं समझता। अमन यह भी कहते हैं कि आधुनिकता और तार्किकता को लोग ठीक तो मानते हैं पर इन्हें संस्कृति द्वारा सन्तुलित किए जाने पर ज़ोर देते हैं।



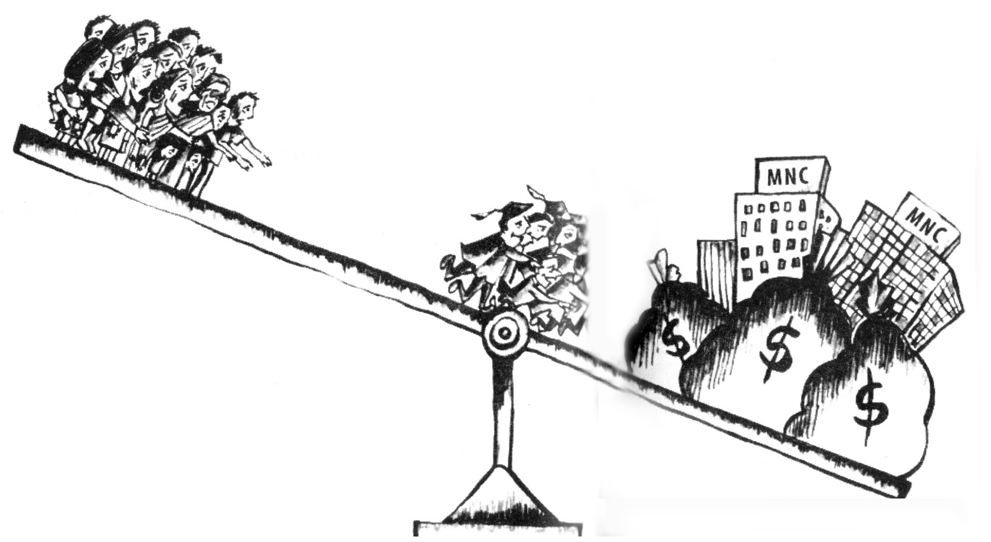
स्कूल जीवन का एक नमूना

अमन कहते हैं कि बंगाली पुनर्जागरण, आर्य समाज, सती प्रथा का अन्त, विधवा पुनर्विवाह, स्वाधीनता आन्दोलन इसी तरह के बहुत सारे बौद्धिक और सामाजिक आन्दोलन हैं, जिनमें भारतीयों ने आधुनिकता का अपना भारतीय संस्करण खोजने और रचने की कोशिश की है। उन्होंने कई पारम्परिक मान्यताओं को यह कहकर नकारा कि यह आज के दौर में ठीक नहीं है और शिक्षा के नए मायने भी ढूँढ़े। अमन यहाँ पर तीन प्रवृत्तियों को रेखांकित करते हैं, जिनका असर समूची शिक्षा व्यवस्था और स्वयं की गढ़ी गई पहचान पर पड़ता है। पहली प्रवृत्ति को वे आधुनिकता की आलोचक मानते हैं, जिसमें आधुनिकता स्थानीय विविधता को नज़रअन्दाज़ करती है और सबपर एक ही जवाब थोपती है। मसलन, स्कूली वर्दी उबाऊ तो हो सकती है पर वह ख़ास संस्कृति की नुमाइन्दगी भी कर सकती है। अमन आगे कहते हैं कि संस्कृति और पहचान के तल पर अगर आधुनिकता को लागू करते हैं, जिसमें नौकरशाहीकरण और पूँजीवाद शामिल हैं, तो समस्याएँ हर जगह उठने लगती हैं। वे आगे कहते हैं कि अब कुछ लोग आधुनिकता को ख़ारिज करने की बात उठा रहे हैं। उनके मुताबिक ईरान से अमरीका तक फिर से पहचान और धर्म की तरफ लौटने लगे हैं। आधुनिकता के दौर में विज्ञान की सर्वोच्चता इस बात पर आधारित थी कि विज्ञान हर चीज़ का उत्तर दे सकता है मगर हमारे उथल-पुथल वाले दौर को देखकर लगता है कि हर सवाल का एक ही उत्तर नहीं हो सकता। आधुनिकता से आगे वाली अवस्था और उस पर सवालिया निशान लगाने वाली प्रवृत्ति को अमन समाजशास्त्री पदावली में उत्तर-आधुनिकता बताते हैं। दुनिया के बहुत सारे लोगों ने ऐसे तरीक़े ढूँढ़ने की कोशिश की है, जो आधुनिकता को सिरे से ख़ारिज नहीं करते पर इसकी समस्याओं और चुनौतियों को दूर करने का प्रयास करते हैं। अमन कहते हैं कि शिक्षा के इलाक़े में पूँजीवाद को सिरे से ख़ारिज करने की बजाय पूँजीवाद, नौकरशाहीकरण और सार्वभौमिकतावाद से आने वाली चुनौतियों और समस्याओं से रूबरू होने की बात की जा रही है। अमन कहते हैं कि कक्षाओं की बहुत सारी चुनौतियाँ दरअसल नौकरशाहीकरण से ही उपजती हैं। बड़ी संख्या में पढ़ाने की चाह से हम रुटीनीकरण और रचनात्मकता के दमन की ओर बढ़ते हैं। फलस्वरूप निजी सम्बन्धों और श्रम के सांस्कृतिक या सौन्दर्यात्मक सुख की क़ीमत पर एक तकनीकी और व्यवहारिक तर्कशीलता को बढ़ाया जाता है। पुस्तक के अन्त में वे एक

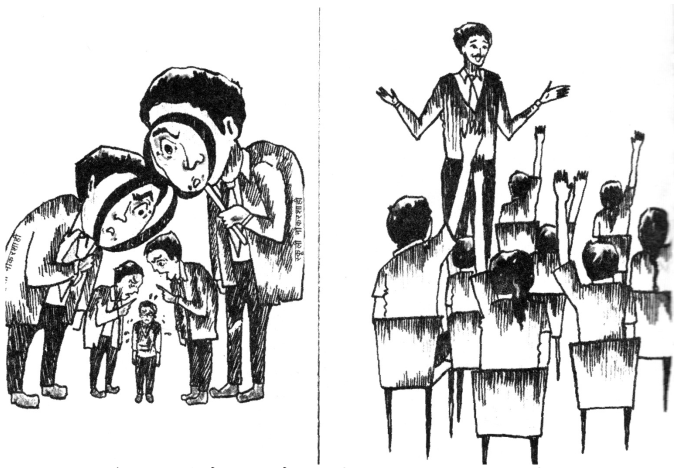
केन्द्रीय सवाल पूछते हैं जिससे शिक्षा व्यवस्था की फ़ितरत तय होती है– 'क्या हम ऐसी शिक्षा व्यवस्था बनाना चाहते हैं जो हमारी बुनियादी मानवीयता को अभिव्यक्ति दे या सिर्फ़ ऐसी व्यवस्था, जो सिर्फ़ ज़्यादा-से-ज़्यादा मुनाफ़े और नियंत्रण की चाहत को बढ़ाए?'

पुस्तक की एक और रचनात्मक उपलब्धि, अवधारणाओं के सृजनात्मक अनुप्रयोग के साथ इसमें दिए गए लगभग बावन चित्र हैं। ये बावन चित्र अमूर्त अवधारणाओं को बेहद प्रभावी ढंग से चित्रित करते हैं। अबीरा बन्धोपाध्याय के ये चित्र प्रतियोगिताओं के विक्षोभ, तनाव, स्कूलों में अरुचि, बच्चों पर अपेक्षाओं के दबाव, बच्चों के हर्ष, वर्गों के आपसी द्वन्द्व, स्कूल का यांत्रिक स्थापत्य, समाजीकरण के स्तर, जटिल समाज, सांस्कृतिक समानता, सामाजिक मेल-जोल, शिक्षा के लेन-देन, शिक्षा के उद्देश्य, स्कूलों में श्रम का विभाजन, सामाजिक मनमुटाव, नौकरशाही में दबा शिक्षक जैसी अनेकों जटिल अवधारणाओं को बेहद सूक्ष्म भाव-बोध के साथ व्यक्त करते हैं। इसमें अवधारणाएँ अपने भावनात्मक जगत के साथ प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त हो पाती हैं और शिक्षा का समाजशास्त्र, चित्रों के सटीक उदाहरण से सजीव होने लगता है। सीखने-सिखाने की विधियों में चित्रों द्वारा अवधारणाओं को सार्थक रूप से अभिव्यक्त करने का यह प्रयास बेहद अर्थवान है। इस प्रकार से चित्रों द्वारा अवधारणाओं को प्रकट करने के रचनात्मक प्रयासों की एक परम्परा बनेगी, ऐसी उम्मीद ज़रूर की जानी चाहिए।

इन छह अध्यायों में हम शिक्षा के समाजशास्त्र की कुछ अवधारणाओं को जानना शुरू करते हैं, समझते हैं और उन्हें अलग-अलग सन्दर्भों और परिणामों में इस्तेमाल करना सीखते हैं। इन अवधारणाओं के आपसी सम्बन्धों को हम देखते हैं और शिक्षा की बड़ी तस्वीर को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक ढाँचे के असरों को प्रक्रियाओं से समझना शुरू करते हैं। इस नाते हम शिक्षा जगत की मूल समस्याओं को मसलन, शिक्षक की भूमिका, विद्यार्थी की भूमिका, पाठ्यचर्या की प्रकृति, स्कूली तंत्र में विन्यस्त नौकरशाही के ढाँचे, सीखने-सिखाने के तरीक़े को व्यापक सन्दर्भ में समझना शुरू करते हैं। इस नाते हम जटिल समाज की अवधारणा, शिक्षा के मार्फ़त सार्वभौमीकरण, मशीनी अनुबन्धीय और जैविक एकजुटता, बाज़ार का



शिक्षा पर बाज़ार का प्रभाव



नौकरशाही के साए में दबा शिक्षक बनाम स्वायत्त शिक्षक

विकास, निजीकरण, पुनर्वितरण, पूँजीवाद, सामाजिक टकराव और परिवर्तन, अजनबीयत, शोषण, औपचारिक संगठनों की उपकरणीय तार्किकता, आधुनिकता, आधुनिकता विरोध, उत्तर-आधुनिकता, पहचान के निर्माण जैसी अवधारणाओं को दैनन्दिन उदाहरणों से बेहद सरल बोलचाल की भाषा में समझते हैं, जिससे ये अवधारणाएँ मूर्त होकर समझ में आने लगती हैं। वे हर अध्याय के अन्त में पर्याप्त सन्दर्भ सामग्री देते हैं, जिसकी मदद से पाठक अपनी समझ का विस्तार कर सकते हैं। अवधारणाओं के प्रयोगों के बावजूद अमन मतावलम्बी होकर मत का प्रसार नहीं करते हैं बल्कि समाज वैज्ञानिक होने के नाते उनकी निगाह तथ्यों और मूल्यों पर रहती है, जिससे वे अलग-अलग घटनाओं एवं परिघटनाओं का सघन वर्णन कर स्पष्टीकरण देते हैं। अपनी तटस्थता बनाकर रखते हुए वे अवधारणाओं के विभिन्न सन्दर्भों में सीमा और सम्भावना, दोनों को समझाते हुए दी हुई हक़ीक़त के विभिन्न आयामों को हमारे सामने रखते हैं। इस नाते अपने पाठकों को भी इन्हीं अवधारणाओं के प्रयोगों से अपने अवलोकनों से अपने नतीजे पर पहुँचने के लिए उकसाते हैं। इस नाते वे पाठक की मूल समझ और कल्पनाशीलता और संवेदनशीलता के विस्तार में उत्प्रेरक का कार्य करते हैं। अमन के आग्रहों में यह तो समझ में आता है कि वे फ़ंक्शनलिस्ट (प्रकार्यवादी) नज़रिया न रखकर सामाजिक परिवर्तनवादी नज़रिया रखते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक शिक्षा के समाजशास्त्र की कुछ अवधारणाओं को रख पाती है, पर जैसा अमन भी क़बूल करते हैं कि वे अगली पुस्तक में 'भारत की वर्ग व्यवस्था और उसका शिक्षा से सम्बन्ध' पर लिखना चाहते हैं। इस पुस्तक में भी वर्ग और जाति की चर्चा पूरी नहीं हो पाई है। भारतवर्ष में कथित निम्न जाति के विद्यार्थियों और आदिवासी बच्चों को कितना गहरा तिरस्कार, अपमान और बहिष्कार झेलना पड़ता है और तमाम विधिक प्रावधानों के बावजूद अभी भी बच्चों को मिड-डे मील में भी जातिवादी दुराग्रह के कारण भारी अपमान और तिरस्कार झेलना पड़ता है। अनेक समाजशास्त्रियों ने इसपर अन्तर्दृष्टिपूर्ण ढंग से विवेचन कर गम्भीर विश्लेषण का कार्य किया है। प्रख्यात लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि की पुस्तक *जूठन* बताती है कि शिक्षा व्यवस्था में भी कठोर जातिवादी दुराग्रहों के चलते बच्चों को जाने-अनजाने कितना अपमान झेलना पड़ता है। अमन से अपेक्षा की जा सकती है कि वे भारतीय शिक्षा व्यवस्था में विन्यस्त अपमानवादी सामाजिक श्रेणीकरण की परतों का ख़ुलासा करें।

प्रस्तुत पुस्तक में स्कूल की तस्वीर भी साफ़ नहीं होती। मसलन, वह स्कूल क्या केन्द्रीय विद्यालय, नवोदय विद्यालय, राज्य सरकार का स्कूल, निजी स्कूल या अभिजात्यपूर्ण पब्लिक स्कूल है। यह नीतिगत प्रश्न भी ज़रूरी है कि सभी स्कूलों को समान स्कूल क्यों नहीं बनाया गया है, देशभर में समान स्कूल व्यवस्था विकसित क्यों नहीं हो पाई। इसका भी समाजशास्त्रीय विश्लेषण अमन से अपेक्षित है। समाजशास्त्रीय सामान्यीकरण तो अमन प्रस्तावित करते हैं पर समस्याओं की गिरफ़्त से निकाल सकने वाले

विकल्पों की समाजशास्त्रीय पड़ताल इस पुस्तक में अमन शायद सीमित जगह के कारण नहीं करते।

मसलन, पूँजीवाद का शिकंजा शिक्षा व्यवस्था पर तो है पर क्या शक्ति समीकरणों का विवेचन करने वाली शिक्षा व्यवस्था, जो सोच, विचार, विवेक, संवेदना पर ज़ोर देती है, आख़िर क्यों विकसित नहीं हो पाती। नौकरशाही के शिकंजे से विकसित मुल्कों की शिक्षा व्यवस्था बाहर निकलकर मानवीय हो पाई है, पर ऐसी भारतीय वजहें क्या हैं जिससे नौकरशाही का मानवीय और दायित्वपूर्ण चेहरा भारतीय शिक्षा व्यवस्था में नहीं विकसित हो पाया। इसका भी समाजशास्त्रीय विवेचन अमन आगामी पुस्तक में कर सकते हैं। आधुनिकता विरोध और उत्तर-आधुनिकता की प्रवृत्ति भारतीय शिक्षा में वर्चस्वकारी क्यों हो रही है। इसके ख़ुलासे की भी अपेक्षा है। इसी प्रकार सांस्कृतिक-सामुदायिक पहचान का ज़ोर भारतीय शिक्षा व्यवस्था में क्यों बढ़ रहा है, इसकी विस्तृत विवेचना की भी अमन से अपेक्षा है। कुल मिलाकर इस पुस्तक को पढ़कर, चर्चाएँ कर,वाद-विवाद कर, शिक्षा के समाजशास्त्र का देशी विमर्श यानी हिन्दी भाषाई विमर्श किया जाना चाहिए जिससे यह विषय भी विकसित होकर लोगों को शिक्षा के समाजशास्त्र यानी बढ़ी तस्वीर देखकर विश्लेषण के औजारों से सक्षम बनाए। इससे भारतीय शिक्षा व्यवस्था के मौजूदा विमर्श में समाजशास्त्रीय चिन्तन की गम्भीर कमी पूरी हो सकेगी।

दीपेन्द्र बघेल ने अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन भोपाल में दो वर्षों तक शिक्षा के समाजशास्त्र के स्रोत व्यक्ति के रूप में कार्य किया है। आपकी शिक्षा और सामाजिक मुद्दों के अध्ययन में गहरी दिलचस्पी और साहित्य और दर्शन के अध्ययन के प्रति गहरा रुझान है। अनेक मुद्दों पर लेखन और पुस्तकों की समीक्षाएँ प्रकाशित। वर्तमान में माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय में प्रभारी कुलसचिव हैं।

सम्पर्क : deependralabyrinth@gmail.com

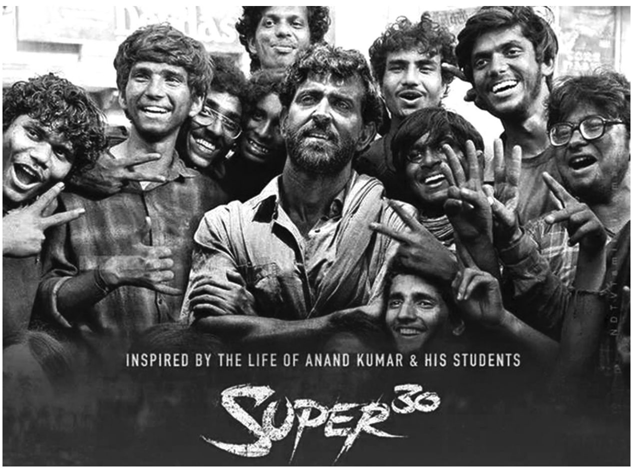
फ़िल्म 'सुपर 30' के अनकहे मायने

पंखुड़ी अरोड़ा

समग्र विकास का काम नौजवान युवक-युवतियों का संगठन बनाकर करना होगा। जनता के बीच रचनात्मक कार्य करके हम अपना विकास ख़ुद करने और अपनी समस्याओं का हल अपने सामूहिक प्रयत्नों से करने का आदर्श पेश करेंगे। शासन करने वालों ने हमेशा हम मेहनत करने वालों को शिक्षा से वंचित रखा, क्योंकि वे जानते हैं कि अगर हम शिक्षित हो जाएँगे, तो अपनी ग़ुलामी के बन्धनों को तोड़कर खड़े हो जाएँगे।

जो पढ़ाई से भागता है, उसे समझाना होगा। बचपन से पढ़ने की आदत डालनी होगी। रात्रि पाठशाला इसके लिए उपयोगी है। दिनभर जहाँ भी रहो, रात में लालटेन के पास बैठकर, सब मिलकर कुछ पढ़ लो ज़रूर। जो आदमी पढ़ा-लिखा है उसका कर्त्तव्य है कि एक लालटेन यानी एक दल लड़के-लड़कियों की पढ़ाई का वो इन्तज़ाम करे। स्कूल-कॉलेजों में सबके लिए एक जैसी शिक्षा होनी चाहिए, सरकार पर भरोसा करने से नहीं चलेगा। शिक्षा में विकास के लिए हमें ख़ुद कोशिश करनी होगी। शिक्षा प्रचार को एक आन्दोलन का रूप देना होगा।

— शिबू सोरेन (झारखण्ड क्षेत्रीय बुद्धिजीवी सम्मेलन, 1978)



फ़िल्म *सुपर 30* को कई स्तरों पर बेरहमी से क्रिटिसाइज़ किया जा सकता है। जैसे कि इससे नीति निर्माण का काम आगे नहीं बढ़ता, बल्कि ऐसा लगता है कि अन्त में ज़िम्मेदारी लोगों की ही है। यह फ़िल्म दस्तावेज़ी होने और फ़िक्शन होने के बीच ऐसी टिकी है कि भावनाओं में बहकर दर्शक सब-कुछ स्वीकार कर लेते हैं। भाव-विभोर अश्रुओं के साथ गुस्सा और सवाल भी बह जाता है। इस फ़िल्म में एक इनसान को हीरो बनाने पर इतना ज़ोर है कि बिना विलेन के कहानी की कल्पना ही नहीं की जा सकती। और जबकि हमें पता है कि असली विलेन हमारा अपना सामाजिक-आर्थिक

ताना-बाना है, फिर भी एक-दो लोग जो उसका चेहरा बनकर हमारे सामने आते हैं उन्हें ही हम गुनहगार मान लेते हैं। उनके मंसूबों को बिगड़ता देखना हमें इतनी राहत देता है कि फिर उस बुनियादी ताने-बाने पर सवाल करने की ज़रूरत ही नहीं लगती। अपने आप को उन दो लोगों में नहीं पहचान पाते क्योंकि अहम् बहुत विकृत किया गया है। आनन्द हो, चाहे उसके छात्र हों या फिर फ़िल्म के विलेन हों- सब किरदार अपनी पूरी बात डायलॉग में ही करते हैं और इसमें ख़ूब रोमांच भी है साथ ही अन्त में सब ठीक होगा इसकी तसल्ली भी है!

पर, मुझे इस फ़िल्म का वह आयाम ज़्यादा पसन्द है जो हम लोगों को तक़लीफ़ देता है, हमें हमारे विशेषाधिकार का बोध कराता है और फिर इसके आगे बहुत-कुछ कहने को नहीं रह जाता। कभी-कभी चुप रहकर और बस सुनकर आत्मावलोकन भी करना चाहिए।

आनन्द का ह्रदय परिवर्तन : परिस्थिति क्या है?

आम्बेडकर बोले थे कि शोषण की प्रक्रिया में एक सोपान क्रमिकता (graded inequality) है। जैसे-जैसे नीचे जाते जाइए, हाशियाकरण का स्तर बढ़ता जाता है– दलित, ग्रामीण दलित, ग्रामीण भूमिहीन दलित, ग्रामीण भूमिहीन दलित महिला, आदि। इसी तरह आनन्द की कहानी भी इस एहसास को दिखाती है। आनन्द का परिवार बड़ी मुश्किल में गुज़र-बसर कर रहा होता है। कैम्ब्रिज में दाख़िला पा लेने के बावजूद ग़रीबी के कारण वह वहाँ नहीं जा पाता। फिर उसे अमीरों के बच्चों के लिए चल रहे कोचिंग सेंटर में पढ़ाने का ऑफ़र आता है जिससे उसके घर-परिवार के हाल में काफ़ी सुधार आता है। लेकिन यहीं से कहानी में उलटफेर हो जाता है। उसका ह्रदय परिवर्तन यूँ ही नहीं होता। ऐसा तब ही हुआ जब वह एक लड़के से मिला जो उससे भी ज़्यादा अभावग्रस्त परिस्थिति में अपनी पढ़ाई जारी रखे हुए था। कम-से-कम आनन्द की स्कूली पढ़ाई तो पूरी हुई थी! कम-से-कम उसके माँ-बाप ने उसकी पढ़ाई का और उसके कौशल का मरते दम तक समर्थन तो किया था! उस लड़के से मुलाक़ात जिसके पास इतना तक भी नहीं था, आनन्द को अमीर बच्चों के लिए चल रहे कोचिंग सेंटर पर पढ़ाने के अपने फ़ैसले पर सवाल पूछने पर मज़बूर कर देती है। उसे उस लड़के में ख़ुद की छवि नहीं बल्कि अपने से भी बदतर हालात में एक विद्यार्थी दिखा। आज तक आनन्द वर्ग और जाति जिस खाई और इसके नतीजतन उपेक्षा का मुकाबला करता आया था, उसके आगे एक दूसरे व्यक्ति को लाचार और उसकी लाचारी का असली कारण उसने देखा। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति कुछ करने की ठान ले तो परिस्थितियाँ उसे नहीं रोक सकतीं, यह फ़िल्म इस सोच पर तगड़ी चोट करती है। परिस्थितियाँ हमारी पहुँच को सीमित कर सकती हैं, हमारे पर काट सकती हैं, हमारी महत्त्वाकाँक्षा की सीमा तय कर सकती हैं।

मेरे मन में सवाल उठा कि परिस्थितियाँ संयोग हैं, या कुछ लोगों की सोची-समझी साज़िश, या फिर व्यवस्था की अपरिहार्य होनी? क्या फ़िल्म का कथानक हमें कोई संकेत देता है? यह समझने के लिए देखते हैं कि फ़िल्म का कथानक कैसे सोचता है। सूत्रधार है *सुपर 30* के पहले बैच का फुग्गा नाम का विद्यार्थी, और पहले सीन से ही वो फ़िल्म का दृष्टिकोण तय करता चलता है। फ़िल्म आशावादी है कहना काफ़ी नहीं होगा। उसकी आशा टिकी है बच्चों की शुद्ध मेहनत पर, कतई विपरीत परिस्थितियों को चुनौती समझकर स्वीकार करने पर और अन्ततः इस व्यापक ढाँचे की भलमनसाहत पर। हमारे देश में आईआईटी का सपना सिर्फ़ पूँजीवादी और एकलवादी आकांक्षा की देन नहीं है। यह बात फ़िल्म में कई बार कही जाती है कि यदि एक बच्चा आईआईटी तक पहुँचा तो उसके परिवार में सब लोग तरक्क़ी करेंगे। इससे यह भी कहा जा रहा है कि अगर ऐसी मुहिम कामयाब हो जाए तो आईआईटी और इन जैसी तमाम संस्थाओं का वर्ग चरित्र बदल सकता है। (इसकी असम्भाविता पर अन्तहीन बहस हो

सकती है, या फिर इसे हक़ीक़त बताया जा सकता है। हम क्या करेंगे यह इस बात पर निर्भर है कि हमारी निष्ठा किस ओर है?) फ़िल्म में आनन्द कहता है, "उन बच्चों के पास 'खोने को है ही क्या'?" इसका मतलब है कि उनके पास इस तरफ़ सब-कुछ दाँव पर लगा देने के अलावा कोई और विकल्प भी नहीं है।

वर्ग चेतना की सचेत शिक्षा : शिक्षण कार्यक्रम में अनुभव की जगह

फ़िल्म यह साफ़ संकेत देती है कि ऐसी शैक्षणिक मुहिम का एक अभिन्न हिस्सा होगा वर्ग चेतना का आनुभविक ज्ञान। वे पहले तीस छात्र जिन्होंने आनन्द के साथ यह सफ़र तय किया, और आज के वे छात्र भी जो आनन्द पर अभी भी हो रहे हमलों को देखते हैं, वे इन सवालों को जीते होंगे। बात सिर्फ़ आईआईटी की तैयारी की नहीं है, बात है सामाजिक वास्तविकता में शिक्षा की। सचेत रूप से इसे कार्यक्रम का हिस्सा बनाना ही होगा। ब्राज़ील के लोकप्रिय शिक्षाविद पाउलो फ़्रेरे शिक्षा और चेतना को जोड़कर कुछ ऐसी ही बात करते हैं। इसी से स्पष्ट होता है कि कोई भी भौतिक परिस्थिति उसकी पहुँच की सीमा तय नहीं करती। पर उसे यह समझने की ज़रूरत है, परिस्थिति को कैसे बदला जाए ये कोशिश करने की ज़रूरत है। इसी से हम एक और कसौटी पर किसी भी कार्यक्रम को तौल पाएँगे कि जिनके भी उत्थान के लिए वह कार्यक्रम है उसमें उनकी भूमिका कर्ता (subject) की है या कर्म (object) की। फ़्रेरे के अनुसार, "ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि किसी संघर्ष में हमारी भूमिका कर्म की हो, और हम सोचें कि अन्त में हम कर्ता बन जाएँगे।"



इस फ़िल्म में बच्चे कर्म नहीं हैं। वे पूरी तरह आनन्द के साथ संघर्ष में भागीदार हैं। वे ज्ञान की संरचना जैसी कि आनन्द कल्पना करता है, उसमें सहकर्ता की भूमिका निभाते हैं।

आनन्द इसे मुक़म्मल होने के बीच एक बड़ा पहाड़ देखता है और वह है अँग्रेज़ी की जानकारी। ये एक अच्छा उदाहरण है परिस्थिति की प्रकृति के द्वन्द्व को समझने के लिए। कोई भी भाषा अपने-आप में वर्ग असमानता का कारण नहीं होती। और हमारे देश में तो गंगा उथली ही बहती है। मैकॉले जो कि अँग्रेज़ी में शिक्षा और अँग्रेज़ी शिक्षा के अगुवा कहलाए जाते हैं, और क्रिस्चियन मिशनरी समूह— सत्ताधारी उनसे ख़ासा नाराज़ हैं। वहीं बहुत से दलित समुदाय और महिलाएँ अपने शिक्षित होने का क्रेडिट इन्हीं को देती हैं। ख़ैर, फ़िल्म ये कहने का प्रयास करती है कि अगर इस रेस को जीतना है तो अँग्रेज़ी तो सीखनी ही होगी, उससे डर कर या बैर करके कुछ नहीं मिलेगा। बच्चों का अँग्रेज़ी से सामना होने का ये अनुभव उनका इससे दोस्ती का पहला क़दम होगा और इससे भी बढ़कर यह वर्ग संघर्ष के जटिल विमर्श का पहला अध्याय भी होगा।

शिक्षा व्यवस्था पर बनी फ़िल्में

पिछले 15-16 वर्षों में हमारी स्कूली / विश्वविद्यालयी शिक्षा प्रणाली को क्रिटिसाइज़ करती कुछ लोकप्रिय फ़िल्में बनी हैं, जैसे- *मुन्ना भाई एमबीबीएस* (2003), *तारे ज़मीं पर* (2007), *थ्री ईडियट्स* (2009), *स्टैनली का डब्बा* (2011), *गट्टू* (2012), *निल बटे सन्नाटा* (2016), *हिंदी मीडियम* (2017), *हिचकी* (2018), आदि। किसी भी फ़िल्म की कामयाबी उसके

परफ़ेक्ट होने में नहीं है, बल्कि वह कैसे आम धारणाओं को टक्कर दे पाती है उसमें है। ये सभी फ़िल्में शिक्षा के अलग-अलग मुद्दों को अपने-अपने तरीक़ों से आमजन के बीच लाती हैं। इन सभी फ़िल्मों में (*सुपर 30* भी इनमें शामिल है) एक बात जो समान है वह है- इन सभी की हैप्पी एंडिंग- और फिर सब बढ़िया हो गया...। इसे बॉलीवुड की परम्परा का बोझ भी कह सकते हैं जो दर्शकों को उम्मीद की पुड़िया बाँध कर ही घर भेजने पर कहानीकारों को विवश करती है। जबकि हम जानते हैं कि आनन्द पर क़ातिलाना हमले नहीं रुकेंगे, या वृहद (macro) स्तर पर *सुपर 30* जैसे कार्यक्रम कोई बड़ा बदलाव नहीं लाएँगे। *थ्री इडियट्स* के रेंचो को कुछ भी नहीं चाहिए– न डिग्री, न लड़की, न नौकरी। पर अन्त में उसे सब मिल भी जाता है, क्योंकि उसे मशीन की व्यावहारिक समझ भी है और तकनीकी परिभाषा भी याद है!



ख़ैर, यह सभी फ़िल्में एक जैसी नहीं है इनमें फ़र्क़ है। एक तरफ़ ऐसी फ़िल्में हैं जो शिक्षा की किसी एक समस्या को ऐसे लेंस से देखती हैं जिसमें समाज की व्यापक संरचना की कोई भूमिका नहीं है। ये समस्या सबको एक-सा सताती है- फिर चाहे आप ग़रीब हों या अमीर- जैसे कि *थ्री ईडियट्स, तारे ज़मीं पर*, आदि। फिर कुछ अन्य किस्म की फ़िल्में भी हैं जिनमें आरटीई का बड़ा ज़िक्र है। ख़ासतौर पर अनुच्छेद 25 का जिसमें सामाजिक-आर्थिक ग़ैर-बराबरी को कम करने के लिए शिक्षा का उद्देश्य रेखांकित होता है। इनमें आरटीई की सीमाएँ बताई गई हैं पर इनसे पार पाने के लिए बस एक व्यक्ति की ही ज़रूरत रहती है, जैसे– *हिचकी* में। *हिंदी मीडियम* और *निल बटे सन्नाटा* काफ़ी हद तक वर्ग असमानता की बात करती हैं। ये फ़िल्में शिक्षा के ज़रिए समाज में पूँजी का वर्चस्व बनाए रखने के मुद्दे को रखती हैं। पर *सुपर 30* इस तरह अलग है क्योंकि यह फ़िल्म जाति और वर्ग को जोड़कर शिक्षा व्यवस्था को सामाजिक-आर्थिक यथास्थिति को चुनौती देने की कसौटी पर तौलती है।

सुपर 30 एक ऐसी फ़िल्म है जो हमें किसी पक्ष लेने पर मज़बूर करती है। बाक़ी किसी भी फ़िल्म में हम और पीड़ित एक ही छोर पर हो सकते हैं, पर यह फ़िल्म कहीं-न-कहीं हमें चेता रही है कि 'कम-से-कम हमारा पेट तो भरा है'। एक टीचर या तो ग़रीबों के बच्चों को पढ़ा सकता है, या फिर अमीरों के बच्चों को। आख़िर ऐसा क्यों है? इसका मतलब है कि शिक्षा व्यवस्था *ज़ीरो सम गेम* है। ज्ञान असीम हो सकता है, पर कॉलेज में सीटें, पीएचडी करने के अवसर, और फिर नौकरियाँ, सब गिनी-चुनी हैं। बोर्ड की परीक्षा में सबके 100 में से 100 आ सकते हैं, पर दाख़िले के लिए एंट्रेंस परीक्षा में रैंक सबकी नहीं आ सकती। या तो वो आपके बच्चे को मिलेगी या किसी और के। तो हमें अपने विशेषाधिकार पर क़ब्ज़ा बनाकर रहना होगा। चाहे वो प्रतिस्पर्धा प्रणाली से हो या अँग्रेज़ी भाषा के माध्यम से।

शिक्षण में बदलाव : ज्ञान के शौक़ या तलाश (pursuit of knowledge) का सवाल

सुपर 30 की पाठशाला इन फ़िल्मों से अलग

नहीं है। किसी भी फ़िल्म में ऐसा कोई ‘सामान्य’ टीचर नहीं है जो अपनी सूझबूझ से पढ़ाने को दिलचस्प बना सके (*स्टैनली का डब्बा* में ज़रूर कुछ हद तक टीचर संवेदनशील है, और अपने विषय का ज्ञान रखती है)। सभी ‘सामान्य’ टीचर समस्या का हल ढूँढ़ने में न केवल नाकामयाब हैं, बल्कि समस्या का ही हिस्सा हैं। लेकिन आनन्द सभी परिस्थितियों में एक असामान्य व्यक्ति है जिसे भटकाव की परख है और वह अपनी कक्षा में फेरबदल करता रहता है। (*निल बटे सन्नाटा* में छात्र का सहपाठी, जो उसे गणित से प्यार करना सिखाता है, भी इनमें शामिल है।)

रेंचो द्वारा लद्दाख में शुरू किया गया स्कूल, जहाँ सब बच्चे बढ़िया से प्रयोग कर-करके सीख रहे हैं, बड़ा रोमांचक लगता है। पर वो वहाँ तक कैसे पहुँचा यह एक रहस्य है। *सुपर 30* में भी कहा गया है कि आनन्द पढ़ाता नहीं था वह एक जादूगर था। यह बात ग़ौर करने की इसलिए है क्योंकि आईआईटी के लिए तैयारी के कार्यक्रम अकसर चर्चा में रहते हैं और चूँकि वहाँ ज़ोर रटन्त ज्ञान पर होता है, कम-से-कम समय में ज़्यादा ठीक विकल्प का अनुमान लगाने के पैंतरे छात्रों को सिखाए जाते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में उनकी बुनियादी संकल्पना (concept) पर ध्यान नहीं दिया जाता है, जिससे वे विषय से आत्मीय प्रेम नहीं कर पाते, और स्वतंत्र पढ़ने का रस नहीं ले पाते। उन्हें समय-सीमा, और अंकों के बाह्य अनुशासन का पालन करना सिखाया जाता है, न कि ज्ञान निर्माण के रोमांच से निकला स्वानुशासन। पर कम-से-कम फ़िल्म में तो आनन्द की कक्षा में सीखे हर ज्ञान का इस्तेमाल उसके छात्र व्यावहारिक रूप में भी बहुत अच्छे से करते दिखे। बात सिर्फ़ ‘एप्लाइड’ ज्ञान की ही नहीं है, बल्कि ज्ञान के ‘पर्स्यूट’ की है, और फ़िल्म की शुरुआत का फ़िल्म के अन्त में इसी ज्ञान के पर्स्यूट में बेहद सुन्दर मिलन होता है। यानी रटना, रैंक, नम्बर लाना मूल बात है ज्ञान से प्रेम करना। पहले आनन्द हर चीज़ में बस गणित देखता था, पर अब उसके छात्र अपने आसपास विज्ञान की पहेलियाँ सुलझा रहे होते हैं।

यह तो सही है कि कक्षा में रोज़-रोज़ गीत गवाकर बच्चों को राज़ी नहीं रखा जा सकता। किस शिक्षक को नहीं पता कि बच्चों को पेंटिंग करने को दे दो तो उनकी कल्पना में विस्तार होगा। पर विज्ञान, अर्थशास्त्र, भौतिकी, भाषा विज्ञान, आदि के शिक्षक इन फ़िल्मों से क्या आशय निकालते हैं, यह जानना ज़रूरी है। क्योंकि अन्त में वे ही हैं जो ख़ुद भी परिवर्तनकर्ता (agents of change) हैं, और उन्हें ही बच्चों को परिवर्तन का कर्ता बनाना है।

पंखुड़ी अरोड़ा ने 2018 में TISS, मुम्बई से प्रारम्भिक शिक्षा में एमए किया। आपने कुछ साल विद्या भवन में भाषा की टीम के साथ काम किया है। फ़िलहाल केन्द्रीय विद्यालय, दलगाँव, असम में प्राथमिक शिक्षक के पद पर कार्य कर रही हैं।
सम्पर्क : bharatpankhuri@gmail.com

शिक्षकों में समूह अधिगम और सहभागिता को समर्थ बनाना

यादगीर (कर्नाटक), अल्मोड़ा (उत्तराखंड) और किवारली (राजस्थान) के कुछ मामलों का अध्ययन

शोध समूह | अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन



प्रस्तावना

उत्तर-पूर्व कर्नाटक में स्थित यादगीर देश के सबसे वंचित ज़िलों में से एक है।[1] उत्तराखंड का अल्मोड़ा ज़िला हिमालय की कुमाऊँनी पहाड़ियों पर समुद्र से 1800 मीटर की ऊँचाई पर स्थित है, जहाँ ज़्यादातर छोटे-छोटे कस्बे और गाँव हैं। पीने के लिए साफ़ पानी, बिजली व स्वास्थ्य से जुड़ी बुनियादी सुविधाएँ यहाँ बमुश्किल ही उपलब्ध हैं। किवारली राजस्थान के सिरोही ज़िले के आबू रोड ब्लॉक का एक छोटा-सा गाँव है, जिसमें लगभग 800 परिवार रहते हैं।[2] इन तीनों जगहों पर सरकारी स्कूल के शिक्षकों के सामने काम करने के लिए अलग-अलग ढंग का लेकिन एक चुनौतीपूर्ण वातावरण है। इसके बावजूद, इन तीनों जगहों पर हमें तमाम ऐसी पहलक़दमियाँ देखने को मिलती हैं, जहाँ बिना किसी प्रशासनिक आदेश या बाहरी प्रोत्साहन के ख़ुद अपनी आन्तरिक प्रेरणा से, शिक्षक एक साथ आने के और अपने पेशेवर विकास के नए-नए तरीके ढूँढ़ रहे हैं।

1. अरूणीश चावला व अन्य, 'रीजनल डिसपैरिटीज़ इन इंडिया – ए मूविंग फ़्रंटियर', *इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली,* जनवरी 3, 2015; वॉल्यूम 1, नं. 1

2. भारत की जनगणना 2011

यादगीर में महिला शिक्षकों के समूह पुरुष-प्रधान समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक क़ायदों को लाँघने के तरीके ढूँढ़ रहे हैं ताकि वे अपने पेशेवर विकास की ज़रूरतों को पूरा करने में सक्षम हो सकें। अल्मोड़ा में शिक्षक उफ़ किए बग़ैर बेहद कठिन मौसम और दुर्गम भूभाग की चुनौतियों का सामना करते हुए अपने निजी समय में पेशेवर विकास की कोशिशों में जुटे रहते हैं। किवारली में शिक्षकों ने एक 'लर्निंग रिसोर्स सेंटर' (सीखने के लिए संसाधन केन्द्र) के निर्माण के लिए पूरे समुदाय को अपने साथ एकजुट किया है। ये प्रयास शिक्षकों के वास्तविक अनुभवों की, उनकी परिस्थितियों व उनकी ज़रूरतों की गहरी समझ पर आधारित रहे हैं।

लगभग डेढ़ दशक से भी ज़्यादा समय से अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन (आगे से 'फ़ाउण्डेशन') सरकारी स्कूल व्यवस्था की गुणवत्ता को बढ़ाने का काम कर रहा है। इसके काम के केन्द्र में शिक्षकों की क्षमता का निर्माण रहा है क्योंकि, विद्यार्थी क्या सीखते हैं इसको प्रभावित करने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण कारक यही है। जिन अलग-अलग इलाक़ों में फ़ाउण्डेशन काम करता है, वहाँ वह शिक्षकों को उनके पेशेवर विकास के लिए अनेक अवसर उपलब्ध कराता है। इनमें कार्यशालाएँ, विभिन्न कोर्स, संगोष्ठियाँ, आवासीय कैम्प, टीचर फ़ोरम, स्कूल विजिट के ज़रिए ऑन-साइट सहयोग (यानी शिक्षक जहाँ काम कर रहे हैं उसी जगह पर उनको मदद पहुँचाना) और ऐसे ही तमाम दूसरे तरीक़े शामिल रहे हैं। ये सभी प्रयास एक व्यापक समेकित रणनीति का हिस्सा हैं जो शिक्षकों को पेशेवर विकास के तमाम तरीक़ों के बीच चुनाव करने के बहुत सारे अवसर मुहैया कराती है।

'फ़ील्ड स्टडीज़ इन एजुकेशन' (शिक्षा के मैदानी अध्ययन) की श्रृंखला में किए गए पिछले अध्ययनों में टीचर लर्निंग सेंटर (टीएलसी) और वालंटरी टीचर फ़ोरम (वीटीएफ़) की शुरुआत करने के अनुभवों को प्रस्तुत किया गया है।[3] इन अध्ययनों ने ऐसे मंचों को शुरू करने और उनको टिकाए रखने के लिए लगातार और उद्देश्यपूर्ण प्रयास करते रहने की ज़रूरत को रेखांकित किया है। साथ ही, इस बात पर भी ज़ोर दिया है कि ये मंच एक ऐसी जगह बनें जो आपसी भरोसे और सम्मान की संस्कृति को बढ़ावा दें और साथ ही, सही मायने में शिक्षकों की पेशेवर ज़रूरतों को पूरा करें।

इस संकलन में तीन मामलों के अध्ययन को प्रस्तुत किया गया है, जो ऐसे किसी व्यक्ति के लिए उपयोगी होगा जो भारत या ऐसे ही किसी विकासशील देश की जटिल परिस्थितियों के सन्दर्भ में, सरकारी स्कूल व्यवस्था के शिक्षकों के लिए एक प्रभावशाली पेशेवर विकास कार्यक्रम के क्रियान्वयन की समझ विकसित करने में दिलचस्पी रखता हो।

केस स्टडी 1 : महिला शिक्षक फ़ोरम, यादगीर

यादगीर ज़िले में फ़ाउण्डेशन द्वारा स्थापित कुछ चुने हुए टीएलसी में 14-15 महिला शिक्षकों के समूह शनिवार की दोपहर को स्कूल समय के बाद मिलते हैं। ये महिलाएँ विभिन्न प्रकार की गतिविधियों में भाग लेती हैं और आपसी दिलचस्पी के मुद्दों पर बातचीत करती हैं, जिनमें महिला सशक्तिकरण, बाल मज़दूरी और जेण्डर से लेकर उनके कामकाज से सीधे जुड़े विषय जैसे कि गणित के विभिन्न दृष्टिकोण व शिक्षा पद्धतियाँ तक शामिल होते हैं। आमतौर पर हर बैठक एक महिला सदस्य द्वारा फैसिलिटेट की जाती है जो ख़ुद भी एक शिक्षक हो सकती है या फिर फ़ाउण्डेशन की सदस्य। इस तरह की मीटिंग अमूमन 2-3 घण्टे तक चलती है। इस मंच की बैठकें नियमित अन्तराल पर जब भी मौक़ा मिलता है आयोजित की जाती हैं। इनमें भाग लेने वाली महिला शिक्षक इन बैठकों

3. रिसर्च ग्रुप, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, स्टार्टिंग एण्ड सस्टेनिंग वॉलंटरी टीचर्स फ़ोरम्स, एक्सपीरिएंस फ़्रॉम टोंक, राजस्थान, फ़ील्ड स्टडीज़ इन एजुकेशन, अक्टूबर 2016; रिसर्च ग्रुप, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, सेटिंग अप टीचर लर्निंग सेंटर्स, एक्सपीरिएंसेस फ़्रॉम सम डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ़ छत्तीसगढ़, कर्नाटक एण्ड राजस्थान, फ़ील्ड स्टडीज़ इन एजुकेशन,अगस्त 2017



महिला शिक्षक फ़ोरम की बैठकें

को ऐसी जगह की तरह देखती हैं जहाँ उनको किस्म-किस्म के मसलों पर बोलने का ही नहीं बल्कि सुने जाने का भी मौक़ा मिलता है; जहाँ उनकी उपस्थिति को स्वीकारा जाता है और उनके अनुभवों का सम्मान किया जाता है; और जहाँ उन्हें अपने ज्ञान और प्रतिभा को दिखाने का भी मौक़ा मिलता है।

महिला शिक्षक फ़ोरम बनाने का जो विचार है दरअसल उसकी बुनियाद में 'टीएलसी की गतिविधियों में महिला, शिक्षकों को शामिल करने की वे चुनौतियाँ हैं', जिनका सामना फ़ाउण्डेशन की टीम ने ख़ासतौर से यादगीर में किया है। ग़ौरतलब है कि यादगीर में महिला शिक्षक बड़ी संख्या में मौजूद हैं। उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार, यादगीर के सुरपुर ब्लॉक के 349 स्कूलों में 38% शिक्षक महिलाएँ हैं।[4] लेकिन, यह अनुपात यादगीर के तमाम टीएलसी में फ़ाउण्डेशन द्वारा आयोजित औपचारिक या अनौपचारिक गतिविधियों में महिलाओं की भागीदारी में नहीं झलकता था।[5]

टीएलसी गतिविधियों में महिला शिक्षकों की सहभागिता के बारे में 2013 में किए गए फ़ाउण्डेशन के एक अन्दरूनी अध्ययन में यह पता चला कि टीएलसी में एक हफ़्ते में आयोजित पेशेवर विकास गतिविधियों में औसतन महज़ 4 महिला शिक्षक ही भाग लेती थीं जबकि पुरुष शिक्षकों का औसत 43 था। उस इलाक़े में महिला, शिक्षकों की बड़ी संख्या को देखते हुए फ़ाउण्डेशन के लिए यह बेहद ज़रूरी था कि पुरुष शिक्षकों के साथ-साथ महिला शिक्षक भी पेशेवर विकास की गतिविधियों में शामिल हों। इस तरह, महिला, शिक्षकों तक पहुँचने के लिए और उनसे टिकाऊ संवाद बनाए रखने के लिए यादगीर के तमाम टीएलसी में किए गए हस्तक्षेपों में से यह महिला, शिक्षक फ़ोरम एक हैं।



महिला शिक्षक फ़ोरम में परिचर्चा

इस केस स्टडी में यह फ़ोकस किया गया है कि इन फ़ोरमों की स्थापना किस तरह से हुई और साथ ही इसमें यह भी दिखाने की कोशिश की गई है कि पुरुषप्रधान समाज और काम की जगहों में निजी व पेशेवर चुनौतियों का सामना करने में लेडी टीचर फ़ोरम यानी एलटीएफ़ की महिला, शिक्षकों के क्या अनुभव हैं। इसके लिए शोरापुर, केम्बवी, नारायणपुर, हुनासागी, शाहपुर, काक्केड़ा और चमनाल के अलग-अलग टीएलसी में गठित महिला शिक्षक फ़ोरमों में भाग लेने वाली 18 महिला, शिक्षकों का साक्षात्कार लिया गया और साथ में, इन सभी टीएलसी के संयोजकों का भी, जो फ़ाउण्डेशन के सदस्य हैं।

4. डाइस (DISE) 2016–17 के आँकड़े

5. औपचारिक गतिविधियों में टीएलसी की वे गतिविधियाँ आती हैं जिनमें भाग लेने के लिए शिक्षा विभाग के औपचारिक आमंत्रण या आधिकारिक आदेश की ज़रूरत होती है जो शिक्षकों को इसकी इजाज़त दे। अनौपचारिक गतिविधियाँ वे हैं जिनमें शिक्षक अपनी स्वेच्छा से स्कूल के घण्टों के बाद भाग ले सकते हैं।

सामाजिक सन्दर्भ

योजना आयोग द्वारा 2014 में किए गए, भारत में आंचलिक ग़ैर-बराबरी पर केन्द्रित एक अध्ययन में पिछड़ेपन का एक सूचकांक विकसित किया गया। उसमें यादगीर देश के सबसे पिछड़े ज़िलों में 49वें स्थान पर है। इसकी कुल जनसंख्या 11.7 लाख है, और लिंगानुपात है 989 महिलाएँ प्रति 1000 पुरुष। साक्षरता दर है 51.8% जिसमें पुरुष साक्षरता दर 62.2% और महिला साक्षरता दर 42.3% है। साक्षरता में यह जेण्डर विभेद 19.9% है जो कि राज्य के औसत (14.7%) से ज़्यादा है। इसकी कुल जनसंख्या का 35.7% अनुसूचित जातियों व जनजातियों का है।[6] ज़िले में आजीविका कमाने के मौक़ों की कमी के चलते यहाँ से बड़ी संख्या में लोग रोज़गार की तलाश में मुम्बई, गोवा और बेंगलुरु जाते हैं।

इस अध्ययन के लिए जिन शिक्षकों का साक्षात्कार लिया गया उनमें से कईयों के अनुसार महिलाओं की ख़राब स्थिति का मुख्य कारण बालिकाओं की तालीम के लिए किसी तरह के सहयोग का अभाव और बाल विवाह प्रथा है, जो इस ज़िले में अब भी जारी है। कर्नाटक बाल अधिकार संरक्षण आयोग की रपट के अनुसार, देश में होने वाले बाल विवाहों में से 23% कर्नाटक में होते हैं, और यादगीर में इसका प्रचलन सबसे ज़्यादा है।[7]

बहुत सारे स्कूलों में शादीशुदा छोटी बच्चियों के नाम दर्ज हैं। शिक्षकों का कहना है कि उनके स्कूलों में हर साल दो या तीन ऐसी बच्चियाँ ज़रूर होती हैं जिनके परिवार वाले सातवीं या आठवीं पूरी करते ही ज़बरन उनकी शादी करा देते हैं। एक शिक्षिका ने 14 साल की उम्र में शादी के अपने अनुभव को साझा किया : *"मेरे पिता प्राइमरी स्कूल में शिक्षक थे और मेरे परिवार के कई सदस्य शिक्षित थे और सरकारी नौकरियों में थे। लेकिन परिवार के दबाव के चलते मुझे 14 साल की उम्र में ही एक नज़दीक के रिश्तेदार से शादी करनी पड़ी। बाल विवाह की तकलीफ़ें और बुरे नतीजे मैंने ख़ुद झेले हैं। इसी वजह से मैं जागरूकता कार्यक्रम करवाती हूँ और साथ ही किशोरी बच्चियों के लिए किशोरी मेला भी आयोजित करवाती हूँ ताकि लोगों को बाल विवाह के दुष्प्रभावों के बारे में शिक्षित कर सकूँ। लेकिन इन सब के बावजूद मैं गाँव में बाल विवाह रोकने में या उनकी संख्या को कम करने में कामयाब नहीं हो सकी हूँ"।*

शिक्षकों के अनुसार यादगीर में महिलाओं में आर्थिक सामर्थ्य की कमी का कारण भी उनकी ख़राब सामाजिक स्थिति ही है। आर्थिक रूप से स्वावलम्बी महिलाओं का भी ख़ुद अपनी कमाई पर नियंत्रण कम ही होता है। एक शिक्षक के अनुसार, *"अपनी घरेलू ज़िम्मेदारियों को पूरा करने के लिए पैसे कमाने वास्ते महिलाएँ औपचारिक व अनौपचारिक दोनों तरह के काम करती हैं। लेकिन वे जो कुछ भी कमाती हैं वो घर के मुखिया के हवाले कर दिया जाता है। परिवार के बुज़ुर्ग सदस्यों की रज़ामन्दी के बग़ैर ख़ुद के कमाए पैसे को खर्च करने का अधिकार उनके पास नहीं होता है। आमतौर पर आर्थिक नियंत्रण पति या ससुर के हाथ में होता है। इसके चलते समाज में महिलाओं की आवाज़ दब जाती है।"*

शक्तिहीनता के इस अहसास का असर उनकी पेशेवर ज़िन्दगी पर भी पड़ता है। एक महिला, शिक्षक ने अपने गुस्से का बयान कुछ इस तरह से किया, *"जब किसी कार्यशाला या ट्रेनिंग में मैं कुछ बोलती हूँ या अपने अनुभव व चिन्ताएँ साझा करती हूँ, उनको न तो सुना जाता है, न ही उनपर कोई विचार किया जाता है। मेरे साथ के पुरुष प्रतिभागियों ने या तो मुझे*

6. भारत की जनगणना 2011

7. इंडियन एक्सप्रेस, 26 सितम्बर 2017 http://www.newindianexpress.com/states/karnataka/2017/sep/26/karnataka–home–to–23–per–cent child–marriages–in–country–1662732.html

अनदेखा किया या फिर मेरा मज़ाक उड़ाया। इसलिए मुझे अब बोलते हुए झिझक होती है। मैं अपने विषय की रिसोर्स पर्सन या फिर एक संकुल रिसोर्स पर्सन बनना चाहती हूँ[8] लेकिन अगर आप विभाग में लैंगिक बराबरी की हालत पर नज़र डालें तो पाएँगे कि बहुत ही कम महिलाएँ संकुल रिसोर्स पर्सन बन सकी हैं। मैंने जब भी यह बात कही, लोगों ने मुझे हतोत्साहित करते हुए कहा कि मेरे पास एक नौकरी है, वेतन भी मिलता है और मुझे इतने से ख़ुश रहना चाहिए; कि रिसोर्स पर्सन की ज़िम्मेदारी मैं निभा ही नहीं पाऊँगी।"

इस तरह के पुरुष वर्चस्व पर आधारित समाज में महिलाओं को सार्वजनिक गतिविधियों व कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता, ख़ासतौर से अगर ऐसे कार्यक्रम शाम को हों।

पेशेवर विकास की राह में बाधाएँ

टीएलसी में आयोजित होने वाली पेशेवर विकास की गतिविधियों में भाग लेने में महिला, शिक्षकों को लगता था कि अगर उनको पुरुष शिक्षकों के साथ देखा गया तो समाज के लोग उन पर उँगली उठाएँगे। अपनी झिझक को सामने रखते हुए एक महिला, शिक्षक ने कहा, *"मैं जब भी किसी टीएलसी में गई, वहाँ पुरुषों का जमावड़ा ही दिखा। वे वहाँ कैरम या बैडमिंटन खेलते रहते थे। सारी जगह पर उन्होंने ही क़ब्ज़ा जमाया हुआ था।"* आत्मविश्वास की कमी और हिचकिचाहट इन महिला, शिक्षकों के नज़रिए को भी प्रभावित करती थी। वे आगे कहती हैं, *"एक बार जब मैं वहाँ अकेले गई और फिर एक बार जब अपनी एक साथी महिला, शिक्षक के साथ गई, तब पुरुषों के उस बड़े समूह ने मुझपर फ़ब्तियाँ कसीं और मेरे ऊपर वे हँसे भी; इन सब से मुझे बेहद शर्मिन्दगी और असहजता महसूस हुई।"*

इन सबके अलावा, महिला, शिक्षकों को यह भी लगता था कि उनको अपनी पेशेवर और घरेलू ज़िम्मेदारियों के बीच सन्तुलन भी बनाना था। इसके चलते टीएलसी जाने या वहाँ आयोजित की जाने वाली पेशेवर विकास गतिविधियों में भाग लेने के लिए समय निकाल पाना उनके लिए सम्भव नहीं हो पाता था। उन्होंने यह बताया कि आमतौर पर पुरुषों की तुलना में महिलाओं के ऊपर घर की ज़िम्मेदारियाँ ज़्यादा होती हैं। घरेलू कामकाज के अलावा उनको खेती-किसानी के काम भी देखने होते हैं और बच्चे भी सँभालने होते हैं। और इन सब के साथ बतौर शिक्षक उनकी पेशेवर ज़िम्मेदारियाँ भी हैं। अपनी निराशा का इज़हार करते हुए एक महिला-शिक्षक ने बताया, *"हाल ही में मैंने फ़ाउण्डेशन द्वारा धारवाड़ में आयोजित एक आवासीय कार्यशाला में हिस्सा लिया। लेकिन मैं कार्यशाला में ध्यान लगा ही नहीं पा रही थी क्योंकि मेरे बच्चे घर पर थे और मेरे परिवार वाले लगातार फ़ोन कर के मुझे वापस आने को कह रहे थे क्योंकि वे बच्चों को सँभाल नहीं पा रहे थे। साथ में, दूसरे घरेलू काम भी थे।"*

महिला शिक्षक फ़ोरम का विकल्प

ज़िले में लम्बे समय तक काम करने के बाद धीरे-धीरे फ़ाउण्डेशन की टीम को यह समझ में आया कि महिला शिक्षकों के ऊपर उनके सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ का बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ता है और उनको टीएलसी तक लाने के लिए महज़ वहाँ पहुँचने में आसानी और सुविधा का होना पर्याप्त नहीं था। ज़रूरत इस बात की भी थी कि महिला शिक्षक ख़ुद को वहाँ सामाजिक व भावनात्मक तौर पर सुरक्षित महसूस करें। यह समझ में आने के बाद टीएलसी संयोजकों और फ़ाउण्डेशन के दूसरे सदस्यों को महिला, शिक्षकों के लिए अलग जगह (सेंटर) बनाने का विचार आया। ऐसी जगह जो खासतौर से उन्हीं के लिए हों। जो उनके लिए सुरक्षित हों, सुविधाजनक हों और उनकी दिलचस्पी के अनुरूप भी हों।

बतौर शुरुआती क़दम फ़ाउण्डेशन के सदस्यों ने स्कूलों के व्यापक दौरे किए और

8. स्कूल शिक्षा व्यवस्था में संकुल स्तर पर शिक्षकों व स्कूलों को समर्थन देने की भूमिका

महिला शिक्षकों के बारे में जानकारी इकट्ठा की साथ ही, उन्होंने इसमें सबसे ज़्यादा दिलचस्पी दिखाने वाली महिला शिक्षकों को चिह्नित किया, उनसे सहयोग की अपील की, और विशेष गतिविधियों के लिए उनको आमंत्रित भी किया। महिला शिक्षकों के बारे में जुटाई गई जानकारियों से टीम को उनकी विशिष्ट व्यक्तिगत पृष्ठभूमि, उनकी अभिरुचियों, उनके स्कूल व जो विषय वे पढ़ाती थीं उनके बारे में जानकारी मिली जिससे टीम को समान अभिरुचियों के समूह बनाने में मदद मिली। टीएलसी आने में इन महिला शिक्षकों की हिचक को कम करने के लिए उस समय जारी कुछ स्वैच्छिक शिक्षक फ़ोरमों में नियमित जाने वाली महिला शिक्षकों की मदद ली गई कि वे अपने सहकर्मियों को भी आगे आने के लिए प्रेरित करें। स्कूलों में जाकर महिला शिक्षकों से बातचीत करने और विभिन्न गतिविधियों में उनको आमंत्रित करने के लिए एक महिला साक्षरता कार्यक्रम से वालंटियरों को भी काम में लगाया गया।[9]

महिला शिक्षकों के छोटे-छोटे समूहों के लिए कार्यशालाएँ आयोजित की गईं ताकि जेण्डर ग़ैर-बराबरी, महिला स्वास्थ्य और महिलाओं के अधिकारों जैसे विविध प्रकार के मसलों के बारे में उनकी समझ विकसित हो सके। एक शिक्षिका ने बताया कि महज़ यह जानने से कि उनके सामने किस तरह के विकल्प हैं उन्हें ज़्यादा मज़बूत होने का अहसास हुआ, *"हमने ऐसे मुद्दों के बारे में बातचीत की जो हमारी ज़िन्दगी से जुड़े हुए हैं। इससे हमें काफ़ी हिम्मत मिली और समाज का सामना करने में मदद भी। हमने यह भी सीखा कि हम ख़ुद की सुरक्षा कैसे कर सकते हैं, और यह भी कि क़ानून महिलाओं के बारे में क्या कहता है, और ऐसे और भी तमाम मसलों के बारे में हमें जानने को मिला। इनमें कुछ मुद्दों पर हमने अपने स्कूल में अपने सहकर्मियों और विद्यार्थियों से भी बातचीत की। हो सकता है कि इन समस्याओं को हम अपने आप न सुलझा सकें, लेकिन कम-से-कम हम जिन लोगों के साथ काम कर रहे हैं उनको तो ज़्यादा जागरूक कर सकते हैं।"*

इन कार्यक्रमों पर जो प्रतिक्रिया मिली उससे फ़ाउण्डेशन की टीम को बड़ी हिम्मत मिली। इससे सहभागिता और पियर लर्निंग के मंच के रूप में महिला शिक्षक मंच (आगे से 'एलटीएफ़') के विचार को आगे ले जाने का रास्ता खुल गया। इन फ़ोरमों के सत्र के लिए क्या समय रखा जाए, यह तय करना हमारे लिए थोड़ा

तालिका–1 : एलटीएफ़ में महिला शिक्षकों की भागीदारी

टीएलसी जहाँ एलटीएफ़ हैं	टीएलसी के 5 किमी के दायरे में काम करने वाली महिला शिक्षक	एलटीएफ़ सत्रों के ज़रिए जिन महिला शिक्षकों तक पहुँचा जा सका उनकी कुल संख्या	% पहुँच
शोरापुर टीएलसी	149	120	80
केम्बवी टीएलसी	96	58	60
नारायणपुर टीएलसी	34	31	91
हुणसागी टीएलसी	60	32	53

9. महिला साक्षरता कार्यक्रम एक प्रायोगिक हस्तक्षेप था जो 2014 में यादगीर के शोरापुर तालुक़ा में चलाया गया था। इसमें उन बालिकाओं को चिह्नित किया गया जो अपनी पढ़ाई तो जारी रखना चाहती थीं मगर 11वीं या 12वीं के बाद आर्थिक तंगहाली के चलते पढ़ाई छोड़ने पर मजबूर हुई थीं। इन बालिकाओं को इस शर्त पर छात्रवृत्ति दी गई कि ये कुछ समय (शाम को और हफ़्ते के अन्तिम दिन) गाँव की महिलाओं से बातचीत करेंगी और उनको बुनियादी साक्षरता सीखने में मदद करेंगी।

शाहपुर टीएलसी	121	26	21
काक्केणा टीएलसी	20	13	65
चमनल टीएलसी	40	10	25
कुल	**520**	**290**	**55.7**

चुनौतीपूर्ण था। महिला शिक्षकों का ज़ोर इस बात पर था कि इन फ़ोरमों की बैठकों का समय स्कूल समय में ही रखा जाए, लेकिन यह सम्भव नहीं था क्योंकि इसकी गतिविधियाँ स्वैच्छिक थीं और शिक्षा विभाग इसमें शामिल नहीं था। शाम का समय तय करने पर महिला शिक्षकों को कई तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ सकता था जिनका ज़िक्र पहले किया जा चुका है। कुछ आज़माइशों के बाद यह तय हुआ कि फ़ोरम की बैठक आमतौर पर शनिवार की दोपहर को रखी जाए। लेकिन इस समय को लेकर कोई सख़्त रवैया नहीं अपनाने का फ़ैसला भी हुआ ताकि विशेष परिस्थितियों में इसमें बदलाव की गुंजाइश बनी रहे। महिला, शिक्षकों की सामूहिक सुविधा को देखते हुए कभी-कभार इसकी बैठकें इतवार को, कभी छुट्टी के दिन या फिर कभी स्कूल समय के बाद शाम को तय की जाती थीं। लेकिन, जैसा कि हमारा अनुभव रहा है, ज़रूरी नहीं कि तय किया गया समय सभी महिला, शिक्षकों के लिए सुविधाजनक साबित हो, कई बार कुछ महिला शिक्षकों के लिए घरेलू ज़िम्मेदारियों से छुट्टी ले पाना सम्भव नहीं हो पाता। कुछ महिला शिक्षक, जो घर से दूर किसी गाँव में काम कर रही होती हैं, उनको हर शनिवार अपने घर जाना होता है और इस वजह से वे शनिवार की दोपहर की बैठक में हिस्सा नहीं ले पातीं। इसके चलते, सभी की ज़रूरतों को ध्यान में रखने की पूरी कोशिश के बावजूद फ़ोरम की बैठकों को नियमित आयोजित कर पाना सम्भव नहीं हो पाया।

महिला शिक्षक फ़ोरम में बातचीत के लिए चुने गए शुरुआती विषय आमतौर पर सभी महिलाओं और विशेष तौर पर इन महिला शिक्षकों की ज़िन्दगी से जुड़े मुद्दों व चिन्ताओं से गहरे जुड़े हुए थे जैसे कला व हस्तशिल्प, योग की उपयोगिता, कम्प्यूटर की शुरुआती जानकारी, लैंगिक भेदभाव, महिला सशक्तिकरण, स्वास्थ्य व सफाई, महिलाओं के लिए क़ानून, कहानी पाठ व आत्मप्रेरणा आदि। इनमें से कई विषय इन महिला शिक्षकों की भावनाओं को छूने वाले थे; और उनको एक सुरक्षित जगह पर एक दूसरे से घुलने-मिलने का, अपने विचार प्रकट करने का, और मिलजुल कर कुछ सरल-सी गतिविधियों में भाग लेने व उनका आनन्द उठाने का मौक़ा देते थे। धीरे-धीरे वहाँ होने वाली बातचीत के विषयों में बदलाव आना शुरू हुआ और ऐसे विषयों पर बातचीत शुरू हुई जो उनके पेशेवर विकास के मुद्दों से ज़्यादा क़रीब से जुड़े हुए थे। मिसाल के लिए, शिक्षा के बारे में अलग-अलग नज़रिए, बच्चे कैसे सीखते हैं इसकी समझ विकसित करना, शारीरिक सज़ा के नतीजे और ऐसे तमाम दूसरे विषय।

ज़्यादातर सत्रों में फ़ैसिलिटेटर की भूमिका ख़ुद महिला शिक्षक व फ़ाउण्डेशन के सदस्य निभा रहे थे। समय बीतने के साथ जैसे-जैसे महिला शिक्षक इसकी अभ्यस्त होती जा रही थीं, वैसे-वैसे टीएलसी संयोजक उन्हें ही सत्रों का फ़ैसिलिटेशन करने के लिए प्रोत्साहित करते व इसमें उनका सहयोग भी करते। कुछ मामलों में जब चर्चा के विषय संवेदनशील हों और उनको उसपर बातचीत शुरू करने में हिचकिचाहट महसूस हो रही हो तो संयोजक अपनी तरफ़ से सवाल उठा कर या बातचीत को शुरू करके प्रक्रिया को एक ख़ाके में सूत्रबद्ध करके उसे आगे बढ़ाते हैं। आमतौर पर हर बैठक में ही अगली बैठक का विषय आपसी सहमति से तय किया जाता है।

महिला शिक्षक फ़ोरम के बारे में महिला शिक्षकों की प्रतिक्रिया

सन् 2014 से ज़िले के 7 टीएलसी में 250

से भी ज़्यादा महिला, शिक्षकों ने स्वेच्छा से इन फ़ोरमों की गतिविधियों में हिस्सा लिया है। इसकी हर बैठक में औसतन 10-15 प्रतिभागी शामिल होते हैं।

एलटीएफ़ सत्रों के महत्त्व को रेखांकित करते हुए एक महिला, शिक्षक ने कहा, *"पुरुष, समाज में ऊँचे दर्जे पर होने का मजा ले रहे हैं। महिलाएँ जितनी मेहनत करती हैं उसकी कद्र कोई नहीं करता; सभी हमारे बारे में गलत ही सोचते हैं। आज मैं मास्टर रिसोर्स पर्सनों की ट्रेनिंग में भाग लेती हूँ क्योंकि टीएलसी और एलटीएफ़ मुझे ऐसी गतिविधियों में भाग लेने के लिए खासतौर से प्रोत्साहित करते हैं। इस तरह के सहयोग की ज़रूरत हर महिला शिक्षक को होती है।"*

पिछले तीन सालों में इन टीएलसी में कुछ बदलाव देखने को मिले हैं। कुछ महिला शिक्षक, अमूमन हर एलटीएफ़ से 2 या 3, सामान्य वीटीएफ़ में भाग ले रही हैं जहाँ पुरुष शिक्षक भी मौजूद होते हैं। वे शाम की साप्ताहिक बैठकों में भी हिस्सा लेती हैं जो शाम 6 से 8 बजे के बीच में होती हैं। अब वे टीएलसी की दूसरी गतिविधियों में हिस्सा लेने के लिए भी तैयार हैं और वे टीएलसी की सामग्री का इस्तेमाल भी करने लगी हैं।

सम्भव है कि एलटीएफ़ प्रत्यक्ष तौर पर इन सभी बदलावों की वजह न हो। लेकिन, इतना दावा तो साफ़ या स्पष्ट तौर पर किया जा सकता है कि जिन महिला शिक्षकों ने एलटीएफ़ की बैठकों में नियमित भाग लिया है उनके लिए यह एक सशक्त करने वाला अनुभव रहा है। एलटीएफ़ की बैठकों में उनको यह अहसास हुआ कि उनकी मौजूदगी को स्वीकार किया जा रहा है। जैसा कि एक महिला शिक्षक ने इस बारे में अपनी सन्तुष्टि का बयान करते हुए कहा, *"मेरे यहाँ आने की सबसे पहली वजह तो यह है कि यहाँ हमें ऐसी जगह मिलती है जहाँ हम खुल कर रह सकते हैं और साथ मिलकर हँसी-मज़ाक कर सकते हैं। चूँकि बाहर के समाज में हमारे लिए ऐसी कोई जगह नहीं है, इसलिए यह फ़ोरम ही हमारे लिए एक ऐसा मंच है जहाँ हम मिलजुल कर मज़े में रह सकते हैं। दूसरी वजह यह है कि मुझे कुछ ऐसे सत्र फ़ैसिलिटेट करने की ज़िम्मेदारी भी दी गई जिनमें मुझे दिलचस्पी थी। इससे मुझे फ़ोरम की गतिविधियों में नियमित भाग लेने की प्रेरणा भी मिली है। सम्मान मिलना, अपनी बात कहने और सुने जाने की आज़ादी और पेशेवरों की तरह सुलूक किया जाना कई महिला, शिक्षकों के लिए बिल्कुल ही नया, असरदार व भावुक अनुभव रहा है।"*

एक और महिला, शिक्षक ने बताया कि किस तरह एलटीएफ़ ने उन्हें उनकी आकांक्षाओं को पूरा करने का मौक़ा दिया, जो उनको अन्यथा न मिलता। बड़े उत्साह से उन्होंने बताया, *"मुझे साहित्य में दिलचस्पी है। मैं साहित्य से जुड़े लेख लिखती हूँ और पर्चे भी प्रस्तुत करती हूँ। टीएलसी ने इस तरह के बहुत सारे मौक़े मुझे दिए हैं। ये सबकुछ मैं विभाग में रह कर न कर पाती; लेकिन टीएलसी के होने से कर पा रही हूँ। मैंने बाल साहित्य, कन्नड़ साहित्य, वचन साहित्य (एक प्रकार का कन्नड़ गद्य), और लोक साहित्य पर कई जगह पर्चे प्रस्तुत किए हैं और कन्नड़ की कई कार्यशालाओं में भाग लिया है।"*

एलटीएफ़ में महज़ भाग लेने से यह जो मौक़ा मिलता है ख़ुद को सक्षम बनाने का, उसके अलावा, वहाँ जो बातचीत होती है वह भी उसमें हिस्सा लेने वाले प्रतिभागियों के लिए आत्मविश्वास और सशक्तिकरण का स्रोत रहे हैं। कुछ चर्चाओं ने तो इन महिला शिक्षकों को सीधे-सीधे उनके अधिकारों व विकल्पों के बारे में सचेत किया। शिक्षा से जुड़ी दूसरी चर्चाओं से उनको कक्षा में मदद मिली है। शिक्षा के बारे में बुनियादी मसलों पर हुई चर्चाओं, मसलन, 'स्कूल का डर', 'बच्चों के सीखने पर शारीरिक सज़ा का असर', 'शिक्षक व शिक्षण' आदि ने उनकी समझ को विस्तृत किया है और उनकी शिक्षण पद्धति में बेहतरी का रास्ता खोला है। एक महिला शिक्षक ने बताया कि किस तरह 'अन्धविश्वास' पर हुई एक चर्चा ने उनके पढ़ाने

के ढंग पर गहरा असर डाला, *"फ़ोरम में एक बार हमने 'समाज में अन्धविश्वास' विषय पर चर्चा की। विज्ञान की शिक्षक होने के बावजूद मैं ख़ुद भी कुछ अन्धविश्वासों को मानती रहीं हूँ। उस बातचीत से मुझे अपने इन अन्धविश्वासों से मुक्त होने में मदद मिली। अब मैं स्कूल में नियमित रूप से विज्ञान के प्रयोग करवाती हूँ और बच्चों को आसपास की घटनाओं के पीछे के विज्ञान को समझाने के लिए टीएलसी की सामग्री का इस्तेमाल करती हूँ।"*

एलटीएफ़ ने महिला शिक्षकों को अपने सहकर्मियों से पेशेवर की तरह मिलने-जुलने, अनुभव साझा करने और एक-दूसरे से सीखने का मौक़ा दिया है। एक शिक्षक बताती हैं कि किस तरह उनको अपने एलटीएफ़ के साथियों से ही पढ़ने-पढ़ाने के नए-नए विचार मिले, *"फ़ोरम में हमारी मुलाक़ात दूसरी महिला शिक्षकों से होती है और हम स्कूल से जुड़े मसलों और व्यक्तिगत मसलों पर बातचीत करते हैं। एक बार मैंने अपने स्कूल में बच्चों के लेखन कौशल को सुधारने के मसले पर बातचीत की। समूह की एक शिक्षक जिन्होंने वैसी ही चुनौती का सामना पहले किया था, उन्होंने अपने अनुभव साझा किए। इस तरह अपने स्कूल में भी कुछ करने के लिए मुझे उनसे कुछ सुझाव मिल गए। मेरी पेशेवर ज़िन्दगी में आने वाली दूसरी चुनौतियों से निपटने के लिए भी मुझे यहाँ से मदद मिलती है। पहले मुझे अपने बच्चों को कला सिखाने में कोई दिलचस्पी नहीं थी, लेकिन फ़ोरम में जाने के बाद मुझे यह बड़ा आसान लगता है और मैंने अपने बच्चों को कला सिखाना शुरू कर दिया है।"*

एलटीएफ़ में होने वाली चर्चाओं व गतिविधियों में भाग लेने के अलावा, महिला शिक्षक फ़ैसिलिटेशन की और कुछ बड़े कार्यक्रमों के आयोजन की ज़िम्मेदारी भी लेती हैं। वे अपनी मर्जी से यह ज़िम्मेदारियाँ लेने के लिए आगे आती हैं। ऐसे ही एक कार्यक्रम में भाग लेने वाली एक महिला शिक्षक अपने अनुभव साझा करते हुए बतलाती हैं, *"हमने महिला दिवस का आयोजन किया था। कार्यक्रम की योजना बनाने से लेकर उसके क्रियान्वयन की सारी ज़िम्मेदारी हम शिक्षिकाओं ने ही निभाई। हमें यह लग रहा था कि ये हमारा अपना कार्यक्रम है, और हमने अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन करने की जी-जान से कोशिश की। मंच महिला, शिक्षकों से भरा हुआ था। सारे काम हमीं लोग कर रहे थे- मंच संचालन, दूसरी व्यवस्थाएँ, भाषण तैयार करना, मेहमानों का ध्यान रखना, वग़ैरह। मैं इस कार्यक्रम को कभी नहीं भूलूँगी क्योंकि हमने अपनी ज़िम्मेदारियाँ पूरे आत्मविश्वास से निभाईं और यह साबित कर दिया कि हम भी इस तरह के कार्यक्रम आयोजित कर सकते हैं।"* यह साफ़ दिखता है कि यह सब कर पाने से मिली सन्तुष्टि से महिला, शिक्षकों के आत्म-सम्मान की भावना में इज़ाफा हुआ है।

सभी के लिए सुविधाजनक समय तय करने, कुछ महिला शिक्षकों के लिए दूरी की समस्या, निजी समस्याएँ और इस तरह की तमाम चुनौतियों के बावजूद एलटीएफ़ को लेकर फ़ाउण्डेशन का अनुभव काफ़ी उत्साहवर्धक रहा है। वे महिला, शिक्षक जो फ़ाउण्डेशन द्वारा आयोजित शिक्षकों के पेशेवर विकास की दूसरी गतिविधियों की पहुँच से दूर हैं, उन तक पहुँचने और उनके साथ संवाद करने की उम्मीद एलटीएफ़ ने जगाई है। इसके अनुभव से फ़ाउण्डेशन के सदस्यों को यह गहरी सीख मिली है कि महिला, शिक्षकों तक पहुँचने और उनको पेशेवर विकास गतिविधियों से जोड़ने के लिए, उनसे संवाद कर पाने के लिए यह ज़रूरी है कि उनके वास्तविक अनुभवों को और पेशेवर विकास गतिविधियों में भागीदारी की उनकी तैयारी को ध्यान में रखा जाए और इसके अनुरूप ही उनकी ज़रूरतें पूरी की जाएँ।

केस स्टडी 2 : अल्मोड़ा के पॉकेट वीटीएफ़

हिमालय की कुमाऊँनी पहाड़ियों पर समुद्र तल से 1800 मीटर की ऊँचाई पर स्थित ज़िला अल्मोड़ा में अल्मोड़ा और रानीखेत, इन दो प्रमुख शहरों को छोड़कर ज़िले में छोटे-छोटे क़स्बे और गाँव ही हैं। ज़िले के 97 फ़ीसदी

स्कूलों को 'ग्रामीण स्कूल' की श्रेणी में रखा गया है; 41 फ़ीसदी स्कूलों में बिजली नहीं है और 35 फ़ीसदी स्कूलों के लिए कोई बारामासी सड़क नहीं है।[10] पीने के लिए साफ़ पानी, बिजली जैसी कुछ बुनियादी सुविधाओं का अभाव, दुकानों की सीमित उपलब्धता, स्वास्थ्य सुविधाओं की ग़ैर-मौजूदगी अल्मोड़ा ज़िले के कई गाँवों में जीवन को बेहद चुनौतीपूर्ण बना देती है। इसके परिणामस्वरूप, अमूमन 25 फ़ीसदी शिक्षक अल्मोड़ा शहर और रानीखेत में ही रहना पसन्द करते हैं।

जिन शिक्षकों के स्कूल इन शहरों के 40 किमी के दायरे के बाहर हैं, और स्थायी निवास इस ज़िले में नहीं हैं, वे रोज़-रोज़ स्कूल तक की यात्रा के झंझट से बचने के लिए आमतौर पर स्कूल के आसपास ही रहना पसन्द करते हैं। वे शिक्षक जो इस ज़िले के स्थानीय निवासी हैं, वे अपने परिवारों के साथ ही रहना पसन्द करते हैं चाहे इसके लिए उन्हें रोज़ घर से कुछ दूर आना-जाना ही क्यों न पड़े। इन दोनों कारणों से बहुत छोटे कस्बों व बड़े गाँवों में शिक्षकों की छोटी-छोटी रिहाइशी बस्तियाँ बन गई हैं। इन बस्तियों में आमतौर पर बिजली, पानी और दूसरी ज़रूरी सुविधाएँ उपलब्ध रहती हैं। लेकिन इसके बावजूद, ऐसी बस्तियों में भी शिक्षकों को पेशेवर विकास के लिए संसाधन और मौक़े मुश्किल से ही मिल पाते हैं।

यह अध्ययन पॉकेट वीटीएफ़ वाले उन इलाक़ों के शिक्षकों की दशा व पेश आने वाली चुनौतियों की जानकारी देता है। साथ ही, यह इन फ़ोरमों में भागीदारी के शिक्षकों के अनुभव पर भी रोशनी डालता है। यह अध्ययन जिन आँकड़ों पर आधारित है, वे ऐसे 4 रिहायशी इलाक़ों के 8 शिक्षकों और इन फ़ोरमों के सत्रों को फ़ैसिलिटेट करने वाले फ़ाउण्डेशन के 3 सदस्यों के अर्ध-व्यवस्थित साक्षात्कारों से लिए गए हैं। कुछ दस्तावेज़ों, जैसे कि, बैठकों के मिनट व रपटों का भी विश्लेषण किया गया। इस अध्ययन में जनवरी 2016 से जनवरी 2018 के बीच हुई पॉकेट वीटीएफ़ की बैठकों को शामिल किया गया है।

इन इलाक़ों में शिक्षकों के सामने खड़ी चुनौतियाँ

अपर्याप्त सार्वजनिक परिवहन के कारण इन शिक्षकों के बीच सबसे ज़्यादा प्रचलित साधन है शेयर्ड टैक्सियाँ जो स्कूल या नज़दीक की किसी जगह से उनको ले जाने व ले आने का काम करती हैं। इसके अलावा, अमूमन सभी शिक्षकों को अपने स्कूल पहुँचने के लिए कुछ ट्रेकिंग या चढ़ाई करनी ही पड़ती है। यह चढ़ाई 15 मिनट से लेकर कुछ मामलों में तो 90 मिनट तक की हो सकती है और इसमें शिक्षकों को कई बार काफ़ी जोखिम भी उठाना पड़ता है। स्कूल आने-जाने के अपने रोज़मर्रा के सफ़र के बारे में बताते हुए एक महिला, शिक्षक कहती हैं, *"मुझे अपने स्कूल पहुँचने के लिए एक नदी पार करनी पड़ती है जिसपर कोई पुल भी नहीं है। बारिश के मौसम में यह बेहद ख़तरनाक हो जाता है।"*

दिसम्बर से फरवरी के बीच जाड़े के दिन तो ख़ासतौर से मुश्किल भरे होते हैं जब ज़्यादातर जगहों पर तापमान बहुत ही कम हो जाता है। इस मौसम में सिर्फ़ कड़ाके की ठण्ड की समस्या नहीं होती, पीने के पानी की भी क़िल्लत हो जाती है। बहुत सारे गाँवों में पीने के पानी की सप्लाई नहीं है और अगर है भी तो पानी बहुत ही अनियमित आता है। शिक्षकों को सुबह पहले अपने घरों के लिए पानी जुटाना पड़ता है और फिर मध्याह्न भोजन के लिए स्कूल में भी पानी का इन्तज़ाम करना होता है। मानसून के महीनों में यह समस्या थोड़ी कम ज़रूर हो जाती है लेकिन सूखे दिनों में यह समस्या फिर विकट हो जाती है।

मेडिकल सुविधाएँ सिर्फ़ अल्मोड़ा और रानीखेत में उपलब्ध हैं। सबसे नज़दीकी

10. डाइस (DISE) का आँकड़ा, 2016–17

अस्पताल हल्द्वानी में है, जो अल्मोड़ा और रानीखेत से 70-80 किमी की दूरी पर है, या फिर बरेली में जो और भी ज़्यादा दूर है। बेहद ख़राब परिवहन सुविधाओं के कारण यह समस्या और भी विकट हो जाती है। बसें कम ही चलती हैं। टैक्सियाँ उपलब्ध तो हैं मगर वो पूरी सवारी भर कर ही चलती हैं। जिसके चलते अगर वहाँ जाना पड़ जाए तो शिक्षकों को स्कूल से छुट्टी लेनी पड़ती है।

इनमें से कई शिक्षक एकल शिक्षक स्कूलों में पढ़ाते हैं जिसके चलते उनके पास किसी सहकर्मी से बातचीत या संवाद करने और सीखने व ख़ुद को विकसित करने के मौक़े भी नहीं होते। ज़िले के 1600 प्राथमिक व उच्च प्राथमिक स्कूलों में कुल 2941 शिक्षक हैं।[11] एक महिला शिक्षक ने अपनी निराशा को कुछ इन लफ़्ज़ों में बयाँ किया, *"मैं स्कूल में ख़ुद को बहुत अकेला महसूस करती हूँ। एक बार मैं क्लास में सौर मण्डल के बारे में पढ़ा रही थी और किसी बिन्दु पर ख़ुद मुझे थोड़ी कन्फ़्यूज़न हुई; लेकिन वहाँ कोई और था ही नहीं जिससे मैं बात कर पाती।"* इस तरह सामाजिक अकेलापन पेशेवर अकेलेपन के चलते और भी गहरा हो जाता है। कुछ ऐसी ही बात एक दूसरे शिक्षक ने भी कही, *"ऐसा महसूस होता है कि मैं किसी खाई में फँसा हुआ हूँ। नई-नई जानकारियाँ पाने का यहाँ कोई साधन ही नहीं है। मुझे तो यह भी नहीं पता कि बाहर की दुनिया में क्या हो रहा है। इस जगह पर तो इंटरनेट भी ठीक से काम नहीं करता।"*

ब्लॉक रिसोर्स सेंटर में कुछ किताबें ज़रूर उपलब्ध हैं मगर उनका इस्तेमाल शायद ही कभी होता है। गर्मी की छुट्टियों में आयोजित होने वाले अनिवार्य सेवाकालीन प्रशिक्षण ही पेशेवर विकास का एकमात्र ज़रिया है। लेकिन इनमें भी पेशेवर विकास के लिए ज़रूरी हर पहलू को पर्याप्त जगह नहीं मिलती। इसका नतीजा यह होता है कि शिक्षकों को अपने लिए ख़ुद ही जुगाड़ करना पड़ता है, अपने अनुभव से ही सीखना पड़ता है और स्कूल में सीखने-सिखाने की जो समस्याएँ उनके सामने आती हैं उनका हल ख़ुद ही निकालना पड़ता है। संकुल-स्तरीय मासिक बैठकों का आयोजन बहुत ही अनियमित होता है और जब वे आयोजित की भी जाती हैं तो उनका सारा ध्यान प्रशासनिक कामकाज और आँकड़े जुटाने पर रहता है।

पॉकेट वीटीएफ़ का विकास

फ़ाउण्डेशन ने उत्तराखंड में अपना काम 2010-11 में शुरू किया था और अब ये राज्य के 13 ज़िलों में से 12 में सक्रिय है। अल्मोड़ा में काम पाँच साल पहले 2013 में शुरू हुआ था। अल्मोड़ा और रानीखेत में टीएलसी की स्थापना क्रमशः 2013 व 2014 में हुई थी। ज़िले में दो-तीन साल काम करने के बाद फ़ाउण्डेशन के सदस्यों को यह समझ में आया कि टीएलसी से दूर बसे इन रिहाइशी इलाक़ों में रहने वाले शिक्षक टीएलसी में उपलब्ध संसाधनों व मौकों तक पहुँचने व उनका फ़ायदा उठा पाने में समर्थ नहीं थे। चूँकि इन रिहाइशी इलाक़ों में शिक्षकों की संख्या भी कम थी इसलिए वहाँ टीएलसी का ही कोई छोटा स्वरूप स्थापित करना भी कोई व्यावहारिक उपाय नहीं था। इस तरह इन दूर-दराज़ के इलाक़ों में बसे शिक्षकों तक पहुँचने की ज़रूरत से ही 'पॉकेट वीटीएफ़' का विचार पैदा हुआ।

सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षणों, संकुल-स्तरीय मासिक बैठकों और कार्यशालाओं के दौरान फ़ाउण्डेशन के सदस्यों ने इन रिहायशी इलाक़ों में रहने वाले शिक्षकों से बातचीत की ताकि वे उनकी ज़रूरतें समझ सकें। टीएलसी में फ़ाउण्डेशन जो विविध किस्म के क्रियाकलाप आयोजित करवाता था उसका हिस्सा बनने में इन शिक्षकों ने अपनी दिलचस्पी ज़ाहिर की लेकिन साथ ही ऐसा करने में उनके सामने जो चुनौतियाँ थीं उनको भी साझा किया। यह सब समझकर फ़ाउण्डेशन के सदस्यों ने इन

11. डाइस (DISE) 2016-17 के आँकड़े

शिक्षकों की जगह पर ख़ुद ही जाकर वहाँ स्कूल व कक्षा से जुड़े क्रियाकलापों के बारे में 2-3 घण्टे बातचीत करने का विचार सामने रखा। यह प्रस्तावित किया गया कि ये बैठकें इन रिहाइशी इलाक़ों में ही किसी सुविधाजनक जगह पर आयोजित की जाएँगी और वहाँ रहने वाले सभी शिक्षक उसमें भाग लेंगे। इस तरह, शिक्षकों के साथ मिल कर ही 'पॉकेट वीटीएफ़' की अवधारणा विकसित की गई।

तय हुआ कि फ़ाउण्डेशन के सदस्य महीने में एक बार इन जगहों पर जाएँगे और वहाँ 2-3 घण्टे की बातचीत आयोजित करने में मदद करेंगे। आमतौर पर यह बैठक इतवार, या किसी छुट्टी के दिन या फिर स्कूल समय के बाद आयोजित की जाती हैं। इसका समय शिक्षक आपसी सहमति से सबकी सुविधा को देख कर तय करते हैं। ये बैठकें स्कूल में, या फिर संकुल अथवा ब्लॉक रिसोर्स सेंटर में या किसी निजी हाल में आयोजित की जाती हैं। फ़ाउण्डेशन के सदस्यों की कोशिश यह रहती है कि जो भी जगह चुनी जाए वहाँ पीने का पानी, साफ़ शौचालय, ऑडियो-विज़ुअल सामग्री के लिए बिजली आदि की सुविधा उपलब्ध हो, लेकिन सबसे ज़रूरी चीज़ यह होती है कि वह जगह उस इलाक़े के सभी शिक्षकों की पहुँच में हो।

एक इलाक़े में एक या दो शिक्षक सबसे सम्पर्क करने की भूमिका निभाते हैं। वह इलाक़ा जिस ब्लॉक में आता है, वहाँ फ़ाउण्डेशन के सदस्य इन शिक्षकों से मिल कर बैठक के लिए एक सुविधाजनक तारीख़ व समय तय करते हैं। साथ ही, बैठक की जगह और बातचीत का विषय भी तय किया जाता है। फ़ाउण्डेशन के सदस्य यह सुनिश्चित करते हैं कि चयनित विषय पर सत्र की योजना तैयार की जाए, उसकी गुणवत्ता की जाँच की जाए, और ज़रूरी सामग्री (वीडियो, पठन सामग्री, सीखने-सिखाने की अन्य सामग्री) वहाँ उपलब्ध हो। टीम के सदस्यों से फ़ीडबैक लेकर सत्र योजना को अन्तिम स्वरूप दे दिया जाता है। फ़ाउण्डेशन के सदस्य यह भली-भाँति समझते हैं कि शिक्षक इन सत्रों में भाग लेने के लिए काफ़ी मेहनत करते हैं, और इसलिए यह और भी ज़रूरी हो जाता है कि वे इन सत्रों से भरपूर फ़ायदा ले सकें जिसके लिए फ़ाउण्डेशन के सदस्यों के लिए इन बैठकों कि तैयारी को पूरी सावधानी से करना और भी ज़रूरी हो जाता है।

यह समझाते हुए एक सदस्य ने कहा, *"इन मंचों में भाग लेने के लिए शिक्षक अपना निजी समय लगाते हैं। इनकी योजना और क्रियान्वयन में पूरी सावधानी बरतनी ज़रूरी होती है, क्योंकि अगर शिक्षक यहाँ होने वाली बातचीत से कोई जुड़ाव नहीं महसूस करेंगे तो सम्भव है कि वे आगे इनमें भाग ही न लें।"*

पॉकेट वीटीएफ़ की शुरुआत अल्मोड़ा ज़िले के लमगारा ब्लॉक के जैंती में 2014 के अन्त में हुई थी। वर्तमान में ज़िले के चार और इलाक़ों में इनकी शुरुआत की जा चुकी है। ये हैं, कौसानी व सोमेश्वर (ताकूला ब्लॉक), सेराघाट (भैसिया छन्ना ब्लॉक) और दान्या (धौलादेवी ब्लॉक)। नीचे

तालिका-2 : वर्तमान में सक्रिय वीटीएफ़ का संक्षिप्त ब्योरा

क्रम	जगह	अल्मोड़ा से दूरी	वहाँ रह रहे शिक्षकों की औसत संख्या	वीटीएफ़ सत्रों की संख्या	अवधि	औसत सहभागिता	कुल सहभागिता (विशिष्ट शिक्षक)
1	कौसानी	52 किमी	25	2	अगस्त, 17 - जनवरी, 18	14	17

2	सोमेश्वर	42 किमी	40	6	नवम्बर, 16 – जनवरी, 18	10	21
3	सेराघाट	66 किमी	20	3	अगस्त, 17 – जनवरी, 18	6	11
4	दान्या	53 किमी	30	7	जनवरी, 16 – जनवरी, 18	8	15
5	जैंती	75 किमी	30	6	जनवरी, 16 – जनवरी, 18	7	18

दी हुई तालिका–2 में वर्तमान में ज़िले में जितने पॉकेट वीटीएफ़ चल रहे हैं उनकी जानकारी दी गई है।

यह एक ऐसा स्वैच्छिक मंच है जो शिक्षकों को अपनी बात कहने की एक जगह देता है, उनके अनुभवों की इज़्ज़त करता है और साथ ही उनको एक मौक़ा देता है कि वे कक्षा में रोज़ बरोज़ आने वाली चुनौतियों के बारे में खुलकर बातचीत कर सकें। इस स्पष्ट समझ के साथ फ़ाउण्डेशन के एक सदस्य ने कहा, *"यह कोई ऐसा मंच नहीं है जहाँ फैसिलिटेटर सभी कुछ जानता हो और दूसरे प्रतिभागियों को ज्ञान बाँटता हो। बल्कि यह एक ऐसा मंच है जहाँ सभी मिलकर बैठते हैं, अपने-अपने विचार रखते हैं और एक साझी समझ विकसित करने की कोशिश करते हैं।"* इनमें शिक्षा के बारे में व्यापक दृष्टिकोणों की, सीखने-सिखाने की पद्धतियों की, विषयवस्तु और कक्षा की चुनौतियों के बारे में बातचीत होती है। नीचे दी गई तालिका–3 में ऐसी ही एक जगह पर होने वाली बैठकों में जिन विषयों पर बातचीत होती है उनका ब्योरा दिया गया है।

शिक्षकों की प्रतिक्रिया

शिक्षकों के अनुसार, इन बैठकों में होने वाली बातचीत का स्वरूप और विषयवस्तु उनके लिए बेहद मददगार रही है। वे इन चर्चाओं को अपने लिए बेहद प्रासंगिक और अपने स्कूल व कक्षा के कामकाज से जुड़ा हुआ पाते हैं। इनमें भाग लेने वाली एक महिला शिक्षक इस बात पर सन्तोष जताते हुए कि इस मंच ने शिक्षकों को साथ बैठने और तमाम चुनौतियों व अपने विचारों पर बातचीत करने का मौक़ा दिया है, कहती हैं, *"इस साल मैं सेवाकालीन प्रशिक्षण में मात्र छह दिन ही जा सकी और वह भी ऐसे विषय में जिसे मैं पढ़ाती ही नहीं हूँ। यहाँ मैं प्राथमिक कक्षा के बच्चों के लिए अँग्रेज़ी भाषा की पठन सामग्री विकसित करने पर केन्द्रित दो सत्रों में भाग ले चुकी हूँ जो मेरी कक्षा से सीधे जुड़ा हुआ है।"* कुछ ऐसी ही बात एक और शिक्षक कहते हैं, *"एक वीटीएफ़ सत्र में हमने 'फ़्रैक्शन*

तालिका–3 : वीटीएफ़ में होने वाली चर्चाओं का ब्योरा

तारीख़	जगह	विषय	विवरण	बैठक की अवधि
13/11/16	बीआरसी, सोमेश्वर	लड़कियों की शिक्षा	'कमली' फ़िल्म का प्रदर्शन	2.5 घण्टे
04/12/16	बीआरसी, सोमेश्वर	सीखने-सिखाने में स्थानीय भाषा का महत्त्व	'कफ़ल' फ़िल्म का प्रदर्शन और बातचीत	2.5 घण्टे

26/02/17	बीआरसी, सोमेश्वर	शारीरिक सज़ा	'ब्रेक टाइम' फ़िल्म का प्रदर्शन; हरि शंकर परसाई की रचना 'हम तो प्रभाकर हैं जी' का पाठ और उसपर बातचीत	3 घण्टे
16/04/17	बीआरसी, सोमेश्वर	सीखने की खोज पद्धति	पर्यावरण विज्ञान की शिक्षा पद्धति पर बातचीत	2.5 घण्टे
23/07/17	बीआरसी, सोमेश्वर	सीखने की खोज पद्धति	'गुड स्कूल'[14] वीडियो का प्रदर्शन और बातचीत	2.5 घण्टे

वॉल'[13] की अवधारणा पर बातचीत की। उसके आधार पर अपनी कक्षा के बच्चों के साथ मैंने वही चर्चा की और इस बार वे इस अवधारणा को पिछली बार से कहीं बेहतर ढंग से समझ सके जब मैंने केवल उसके सैद्धान्तिक पक्ष पर ही ध्यान दिया था।"

कुछ शिक्षकों को तो यह महसूस हुआ कि एक दिन की यह बैठकें पाँच-छह दिन के प्रशिक्षण से ज़्यादा फ़ायदेमन्द हैं। आमतौर पर लम्बे प्रशिक्षण गर्मी की छुट्टियों में आयोजित किए जाते हैं और जब तक शिक्षक वापस कक्षा में जाते हैं, उसमें से काफ़ी कुछ भूल चुके होते हैं। इसके उलट, जहाँ तक इन मंचों का सवाल है, शिक्षक अगले ही दिन स्कूल जाते हैं और अगर वह कक्षा में पढ़ाए जा रहे विषय के लिए प्रासंगिक हो तो उन्होंने जो बातें सीखी हैं उसे कक्षा में सीधे लागू कर सकते हैं।

लेकिन तमाम ख़ूबियों के बावजूद इन मंचों की भी अपनी चुनौतियाँ हैं। दूर-दराज़ के कुछ गाँवों में कई बार ऐसी जगहें मिलना बड़ा मुश्किल हो जाता है जहाँ बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध हों। स्कूलों और रिसोर्स सेंटरों में आमतौर पर पीने के पानी और बिजली जैसी सुविधाओं का अभाव होता है। कुछ में ठीक-ठाक शौचालय भी नहीं होते। फ़ाउण्डेशन के सदस्य ऐसे में निजी हॉल बुक करने की कोशिश करते हैं मगर यह विकल्प भी हर बार नहीं होता। इन तमाम दिक़्क़तों के कारण कई बार इन मंचों की बैठकें खस्ताहाल जगहों पर भी करनी पड़ी हैं जहाँ बुनियादी सुविधाएँ भी नहीं होतीं।

इसके अलावा, इतवार को, या छुट्टी के दिन या स्कूल के घण्टों के बाद ऐसा समय तय कर पाना भी कई बार बड़ा मुश्किल होता है जो सभी 10-15 शिक्षकों के लिए सुविधाजनक हो। बहुत सारे शिक्षकों को निजी काम होते हैं या उनको अपने घर जाना होता है जो किसी दूसरी जगह पर होता है। एक शिक्षक ने अफ़सोस के साथ बताया, *"कई बार ऐसा होता है कि लाख चाहने के बावजूद निजी व्यस्तताओं के चलते फ़ोरम की बैठकें अटेंड कर पाना नामुमकिन हो जाता है।"* आमतौर पर फ़ाउण्डेशन के सदस्य यह लक्ष्य रखते हैं कि कम-से-कम सात से आठ शिक्षकों का कोरम हर बैठक में पूरा हो, लेकिन ऐसी परिस्थितियाँ भी बनी हैं जब चार से छह शिक्षकों के साथ ही बैठक करनी पड़ी है।

कुछ इलाक़े इतने दूर-दराज़ होते हैं कि उन तक पहुँच पाना फ़ाउण्डेशन के सदस्यों के लिए भी बेहद चुनौतीपूर्ण होता है। शिक्षकों की

13. 'फ़्रैक्शन वॉल' एक तरह की तस्वीर है जिसमें भिन्नों को दीवार की शक्ल में दिखाया जाता है। इसका इस्तेमाल भिन्नों की तुलना करने के लिए किया जाता है और साथ ही, समतुल्य भिन्नों की पहचान के लिए भी किया जा सकता है।

14. 'गुड स्कूल' एक वीडियो शृंखला है जिसका निर्माण फ़ाउण्डेशन द्वारा किया गया है जिसमें अलग-अलग सरकारी स्कूलों में कामकाज के अच्छे तौर-तरीक़ों को दिखाया गया है।

ही तरह इनको भी ऐसे इलाक़ों में पहुँचने के लिए निजी टैक्सियों पर निर्भर रहना होता है। इसके चलते फ़ोरम की बैठकों की निरन्तरता प्रभावित होती है।

इन तमाम चुनौतियों के बावजूद, सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शिक्षकों को यह मंच किसी तरह की आक्रामकता से रहित, सुरक्षित, और सुविधाजनक जगहें लगती हैं जहाँ वे अपनी समस्याएँ और चुनौतियाँ खुलकर रख सकें बिना इस डर के कि वहाँ कोई उनके बारे में नकारात्मक राय बनाएगा। उनको यह विश्वास है कि अगर उनकी समस्याओं का वहाँ कोई हल नहीं मिला तब भी कम-से-कम उनकी आवाज़ सुनी जाएगी और उसकी इज़्ज़त की जाएगी। इन बैठकों में भाग लेने वाली एक महिला शिक्षक ने फ़ोरम पर भरोसा जताते हुए कहा, *"मुझे यह बैठकें इसलिए पसन्द हैं क्योंकि वहाँ मैं खुल कर बोल सकती हूँ और अपनी चुनौतियों को सबसे साझा कर सकती हूँ। कोई मेरे बारे में नकारात्मक राय नहीं बनाएगा या मुझे हेय नहीं समझेगा, बल्कि यहाँ पर लोग मेरी समस्याओं के हल ही सुझाएँगे।"*

पॉकेट वीटीएफ़ की चुनौतियों, उनसे मिली सीखों व शिक्षकों के फ़ीडबैक और साथ ही इनकी गुणवत्ता व पहुँच को बेहतर बनाने को लेकर फ़ाउण्डेशन के सदस्य जिस तरह लगातार चिन्तन-मनन करते हैं, उसके चलते ऐसे फ़ोरमों में यह सम्भावना है कि वे आगे जाकर शिक्षकों के लिए पियर लर्निंग के एक मज़बूत मंच की तरह विकसित हों।

केस स्टडी 3 : किवारली का लर्निंग व रिसोर्स सेंटर

राजस्थान के सिरोही ज़िले के किवारली गाँव के बिलकुल बीचोबीच एक इमारत में स्थित लर्निंग एण्ड रिसोर्स सेंटर (एलआरसी)[15] में कुछ कमरे हैं जिनका हाल ही में रंग-रोगन हुआ है, एक लाइब्रेरी है, इधर-उधर बिखरे कुछ मेज़, कुर्सियाँ, दरियाँ और कुछ कम्प्यूटर हैं। ऊपरी तौर पर देखें तो यह भी बाक़ी सेंटरों जैसा ही दिखता है जिनकी स्थापना फ़ाउण्डेशन ने राजस्थान में की है सिवाय एक अन्तर के इस सेंटर को चलाने और इसके प्रबन्धन की ज़िम्मेदारी गाँव के लोगों के हाथ में है।

यह सेंटर हर रोज़ सुबह 10 बजे खुलता है। सामान्यतः इस सेंटर को विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी कर रहे युवा खोलते हैं और वे दोपहर 2 बजे तक वहीं रहते हैं। वे अपने पढ़ने की सामग्री अपने साथ ही लाते हैं। इसके अलावा, वे सेंटर में उपलब्ध विभिन्न सामग्रियों का भी इस्तेमाल करते हैं, जैसे– किताबें, पत्रिकाएँ आदि। लगभग साढ़े तीन बजे, अपने स्कूलों से छुट्टी पाकर बच्चे वहाँ आ जाते हैं। वे वहाँ उनको जो भी अच्छा लगता है, करते हैं- मसलन, किताबें पढ़ना, चित्रकारी करना, खेल खेलना और इसके लिए वे वहाँ उपलब्ध सामग्री का भी इस्तेमाल करते हैं। शिक्षक आमतौर पर शाम 5 से 7 के बीच आते हैं। वे वहाँ लाइब्रेरी का इस्तेमाल करते हैं, एक-दूसरे से बातचीत करते हैं या फिर वहाँ मौजूद युवाओं व बच्चों से बातचीत करते हैं। हफ़्ते में दो या तीन दिन फ़ाउण्डेशन के सदस्य भी दोपहर के बाद वहाँ दौरा करते हैं। इनमें से ज़्यादातर दिनों में बच्चों या शिक्षकों या व्यापक समुदाय के लिए सेंटर पर कुछ गतिविधियाँ आयोजित की जाती हैं। रात 9 बजे के आसपास सेंटर बन्द होता है।

इस तरह एलआरसी शिक्षकों के लिए आपस में संवाद करने की एक जगह के रूप में विकसित हुआ है। इस केन्द्र ने शिक्षा को गाँव के समुदाय की कल्पना और उनके रोज़मर्रा के जीवन के केन्द्र में ला दिया है। किवारली के सरकारी स्कूल के एक शिक्षक ने बताया,

15. हालाँकि सभी टीएलसी हर उस व्यक्ति के लिए खुले हुए हैं जिसकी उनमें दिलचस्पी हो, लेकिन कुछ जगहों पर, जैसे कि राजस्थान में इन सेंटरों को बहुत सोच-समझ कर शिक्षकों की जगह के अलावा 'सामुदायिक' जगहों के रूप में विकसित किया गया है और इनको 'लर्निंग एण्ड रिसोर्स सेंटर' का नाम दिया गया है।

"लर्निंग रिसोर्स सेंटर की स्थापना हम सभी के लिए एक वरदान की तरह है। पहले बच्चे स्कूल के बाद आमतौर पर टीवी देखते थे या गाँव में इधर-उधर घूमते रहते थे। अब स्कूल से लौटते ही वे तुरन्त लाइब्रेरी जाने की ज़िद करने लगते हैं। वहाँ पढ़ने के अलावा वे विभिन्न गतिविधियों में भी भाग लेते हैं। वहाँ जिस तरह की चर्चाएँ होती रहती हैं उससे बच्चे बहुत सारे मुद्दों के बारे में संवेदनशील हो रहे हैं।" किवारली के शिक्षकों के लिए एलआरसी व्यक्तिगत व पेशेवर दोनों तरह के संवाद बनाने का एक मंच बन कर उभरा है। इसके अलावा, सेंटर ने उनको ऐसे संसाधन मुहैया कराए हैं जिनका इस्तेमाल बाद में वे अपनी कक्षाओं में भी कर सकते हैं।

फ़ाउण्डेशन का एक नज़रिया रहा है कि शिक्षकों और दूसरे साझेदारों के लिए लर्निंग सेंटर ऐसी जगह पर स्थापित किए जाएँ जो अधिक से अधिक साझेदारों और ख़ासतौर से शिक्षकों की पहुँच में हो। किवारली सेंटर में इसी नज़रिए को स्थानीय सन्दर्भ के अनुसार समायोजित किया गया है। राजस्थान में एलआरसी पहले पहल 2012 में, टोंक और सिरोही ज़िलों में शुरू किए गए थे। ये उस समय ब्लॉक हेडक्वार्टरों में स्थित थे। बाद में, जैसे-जैसे काम बढ़ता गया इन सेंटरों को 'शिक्षकों के मोहल्लों' में बनाया जाने लगा ताकि अधिक-से-अधिक शिक्षक इन तक पहुँच सकें। शिक्षकों के मोहल्ले किसी ब्लॉक में स्थित वे इलाक़े थे जहाँ शिक्षकों की एक बड़ी संख्या रहती हो। लेकिन इसके बावजूद, अभी भी ऐसे शिक्षक थे जिनके घर इन सेंटरों से अच्छी-ख़ासी दूरी पर थे जिसके कारण वे इन जगहों का फ़ायदा नहीं उठा पा रहे थे। दूर-दराज़ इलाक़ों में रहने वाले इन शिक्षकों तक पहुँच पाना एक बड़ी समस्या थी जिसका हल जल्द-से-जल्द ढूँढ़ना ज़रूरी था।

इस चुनौती का समाधान निकालने के लिए, ऐसे छोटे-छोटे सैटेलाइट सेंटरों की अवधारणा विकसित की गई जो मुख्य एलआरसी की परिधि में स्थित हों। ये सैटेलाइट एलआरसी ऐसे गाँवों में स्थापित किए गए जो ब्लॉक हेडक्वार्टरों से थोड़ी दूरी पर थे और जहाँ शिक्षकों की ठीकठाक संख्या रहती हो। चूँकि ये जगहें काफ़ी दूर-दराज़ के इलाक़ों में होती हैं और ऐसे हर एक गाँव में इस काम के लिए स्टाफ़ नियुक्त करना मुश्किल होता है, इसलिए इन जगहों पर स्थानीय शिक्षकों और समुदाय को सेंटर चलाने की ज़िम्मेदारी लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

किवारली सिरोही ज़िले के आबू रोड ब्लॉक का सबसे बड़ा गाँव है जिसमें 805 परिवार रहते हैं। यह गाँव ज़िला हेडक्वार्टर से महज़ 12 किमी. की दूरी पर स्थित है। इस ब्लॉक के दूसरे गाँवों की तुलना में इस गाँव की साक्षरता दर ज़्यादा है। पुरुष साक्षरता दर 71.83% और महिला साक्षरता दर 44.27% है।[16] आबू रोड के

तालिका–4 : मुख्य गतिविधियाँ व उपलब्धियाँ

अवधि	गतिविधियाँ व उपलब्धियाँ
दिसम्बर 2015 से मार्च 2016	· बड़े कार्यक्रमों व व्यक्तिगत संवादों के ज़रिए मेलजोल बढ़ाना
अप्रैल 2016	· सभी पक्षों के बीच एलआरसी के शुरुआती विचार को रखा गया · टीम : – किवारली के सम्बन्ध में कुछ ख़ास ज़िम्मेदारियाँ सिरोही में स्थित फ़ाउण्डेशन की टीम को दी गईं – शिक्षकों की एक कोर टीम का गठन · मेलजोल बढ़ाने और लोगों को जोड़ने का काम जारी

16. भारत की जनगणना 2011

मई 2016	· एलआरसी की अवधारणा व दृष्टि को समुदाय के बीच रखा गया · मेलजोल बढ़ाने और लोगों को जोड़ने का काम जारी
जून 2016	· एलआरसी की स्थापना के विचार को विस्तार से सबके सामने रखा गया और उसके लिए उपयुक्त जगह की तलाश शुरू कर दी गई · मेलजोल बढ़ाने और लोगों को जोड़ने का काम जारी
जुलाई 2016 से अगस्त 2016	· पंचायत की पुरानी इमारत को उपयुक्त जगह के तौर पर चिह्नित किया गया · वह इमारत एक व्यापारिक बैंक की बजाय एलआरसी के लिए दे दी जाए इसके लिए कोर टीम व समुदाय के सदस्यों द्वारा जम कर दौड़-धूप की गई व सिफारिशें करवाई गईं मेलजोल बढ़ाने और लोगों को जोड़ने का काम जारी
सितम्बर 2016 से अक्तूबर 2016	· वह जगह एलआरसी के लिए मिल गई और फिर उसकी मरम्मत के लिए समुदाय के साथ मिलकर काम किया गया · मेलजोल बढ़ाने और लोगों को जोड़ने का काम जारी
नवम्बर 2016	· वह जगह एलआरसी के लिए मिल गई और फिर उसकी मरम्मत के लिए समुदाय के साथ मिलकर काम किया गया · एलआरसी का उद्घाटन

बाद पूरे ब्लॉक में किवारली गाँव में ही सरकारी शिक्षकों की संख्या सबसे ज़्यादा है। यहाँ लगभग 90 शिक्षक हैं जो ज़िले के अलग-अलग स्कूलों में पढ़ाते हैं।

किवारली में सैटेलाइट एलआरसी के विचार की शुरुआत से लेकर उसकी स्थापना तक का जो सफ़र रहा है, उसमें सबसे ख़ास बात रही है शिक्षकों और स्थानीय समुदाय की गम्भीर और सतत भागीदारी। यहाँ जागरूकता, प्रोत्साहन और आपसी सहयोग का एक सकारात्मक चक्र चल पड़ा है जिससे इस गाँव के युवा, शिक्षा के क्षेत्र में आने के लिए बड़ी संख्या में आगे आने लगे हैं और शिक्षकों की, ख़ासतौर से महिला शिक्षकों की तो एक पूरी क़तार ही इस गाँव से निकल कर आई है। यह सहभागिता सेंटर के संचालन में अब तक जारी है। इस केस स्टडी में इसी अनुभव की बानगी दी गई है।

स्थापना तक का सफ़र

एलआरसी की स्थापना का लगभग एक साल लम्बा सफ़र दिसम्बर 2015 में तब शुरू हुआ जब शिक्षकों व दूसरे लोगों को इसके लिए लामबन्द करने की शुरुआती कोशिशें की गईं। नवम्बर 2016 को यह सफ़र अपनी मंज़िल पर पहुँचा जब एलआरसी ने काम करना शुरू कर दिया।

ऐसी तमाम वजहें थीं जो किवारली को सैटेलाइट एलआरसी के लिए बिलकुल उपयुक्त जगह बनाती थीं, लेकिन शिक्षकों व समुदाय के दूसरे सदस्यों को इस बात के लिए राज़ी करने में कि गाँव में एलआरसी की स्थापना होनी चाहिए फ़ाउण्डेशन के सदस्यों को काफ़ी ज़मीनी मेहनत करनी पड़ी। लोगों से मेलजोल बढ़ाने के लिए और जिन शैक्षणिक उद्देश्यों

17. फ़ाउण्डेशन के सदस्यों की सहायता से शिक्षक अपने विद्यार्थियों के साथ प्रोजेक्ट पर काम करते हैं और उनसे जो काम निकलता है उसे सबके सामने प्रदर्शित किया जाता है और उसपर चर्चा भी होती है।

के लिए फ़ाउण्डेशन काम करना चाहता था, उनके प्रति जागरूकता लाने के लिए गाँव के स्कूल में कई बाल मेले[17] आयोजित किए गए। इसके साथ ही, गाँव के सभी शिक्षकों को एक स्वैच्छिक मंच पर साथ लाने की कवायद शुरू की गई जहाँ शैक्षणिक मसलों पर बातचीत की जा सके। लोगों में इन सबको लेकर उत्साह तो बहुत था मगर शुरुआती कोशिशों से अपेक्षित नतीजे नहीं निकले।

लेकिन फ़ाउण्डेशन ने अपना काम जारी रखा और अप्रैल 2016 तक अपनी कोशिशों को और भी आगे ले जाते हुए किवारली की ज़िम्मेदारी आबू रोड ब्लॉक में रहने वाले अपने कुछ सदस्यों को दी। इन सदस्यों को यह बात समझ में आई कि किवारली की स्थानीय संस्कृति, वहाँ उपलब्ध संसाधनों, वहाँ के भूगोल, इस काम में शामिल लोगों और उनके आपसी रिश्तों को समझने के लिए पर्याप्त समय व मेहनत की दरकार थी।

चाय की दुकानें, मन्दिर, वग़ैरह जैसी जगहें जहाँ लोगों का जमावड़ा लगता था, वहाँ शिक्षकों व समुदाय के अन्य सदस्यों से व्यक्तिगत तौर पर या समूह में बातचीत की कोशिशें की गईं। जैसा कि किवारली में काम करने वाले टीम के एक सदस्य ने बताया, *"हम लोग कुछ शिक्षकों को ज़रूर जानते थे लेकिन गाँव के दूसरे लोगों के लिए हम पूरी तरह अजनबी थे। शुरुआती दिनों में तो हम गाँव में बस यूँ ही घूमा करते थे ताकि वहाँ के लोगों की रोज़मर्रा की जीवनचर्या और संस्कृति के बारे में जान सकें। पहले दिन हमने गाँव का चक्कर लगाया, चाय की दुकान पर कुछ समय बिताया और वापस आ गए। अगले दिन हम स्कूल गए और शाम को थोड़ा समय गाँव में बिताया। धीरे-धीरे कुछ और शिक्षकों से हमारा परिचय हुआ। जब हमने उनसे शाम को मिलने का आग्रह किया तो उन्होंने हमें मन्दिर में मिलने को कहा। हम वहाँ थोड़ा जल्दी पहुँच गए और शिक्षकों के पहुँचने का इन्तज़ार करते रहे। इस बीच वहाँ जो और लोग आ रहे थे उनसे हमने बातचीत की और अपने बारे में भी बताया। इस तरह की बातचीत से हमारा परिचय किवारली के दूसरे लोगों से हुआ और इन लोगों ने हमें और भी ऐसे लोगों के बारे में बताया जो हमारे काम में हमारी मदद कर सकते थे।"*

लोगों से सम्बन्ध बनाने की इस शुरुआती कवायद से यह फ़ायदा हुआ कि उसके बाद जो प्रक्रियाएँ व गतिविधियाँ आयोजित की गईं उनमें शिक्षकों और समुदाय के लोगों ने न सिर्फ़ गम्भीरता से भाग लिया बल्कि उनको अपना माना। टीम के उसी सदस्य ने यह टिप्पणी की, *"इस पूरी प्रक्रिया में शिक्षकों और युवाओं के साथ हमने 2-3 महीने जो काम किया और उनसे जिस तरह के सम्बन्ध बनाए उसकी ज़रूरी भूमिका थी। हमें इस बात से बड़ी ख़ुशी हुई कि गाँव के कुछ लोग एलआरसी को लेकर उतने ही चिन्तित थे और हर क़दम पर उन्होंने हमारे साथ कन्धे से कन्धा मिला कर काम किया।"*

इसी दौरान, आधे दर्जन शिक्षकों की एक कोर टीम बनाई गई। ये वो शिक्षक थे जिन्होंने इससे पहले आबू रोड स्थित एलआरसी समेत फ़ाउण्डेशन की कई और गतिविधियों में भी हिस्सा लिया था। हमारे नज़रिए को मानने वाले ये शिक्षक फ़ाउण्डेशन के कामकाज से पहले से ही परिचित थे और एलआरसी की अवधारणा को भी समझते थे। इन्होंने उस इलाक़े में हमारी पहल से सरोकार रखने वाले लोगों की संख्या को बढ़ाने में हमारी मदद की। लोगों के साथ लगातार तरह-तरह के क्रियाकलापों और बातचीत से टीम में नए-नए शिक्षक व युवा वालंटियर भी शामिल होने लगे। टीम के सदस्यों ने स्कूलों का दौरा किया, शिक्षकों से मुलाक़ात की और एलआरसी की अवधारणा को साझा किया। इसके अलावा, शाम को टीम के सदस्य गाँव की अनौपचारिक जगहों का इस्तेमाल एलआरसी के प्रचार-प्रसार के लिए और इससे जुड़े सभी भागीदारों से मेलमिलाप करने के लिए करते थे।

एलआरसी पर बातचीत के लिए औपचारिक बैठकों में भाग लेने के लिए टीम के सदस्य सभी

साझेदारों को तैयार करते थे। गाँव के ही निवासी होने के कारण उनको गाँव की राजनीति की भी समझ थी इसलिए वे फ़ाउण्डेशन के सदस्यों को ऐसे लोगों के नाम सुझाते थे जिनको इस प्रक्रिया में शामिल करने से उसके क्रियान्वयन में आसानी हो। कोर टीम की ही एक महिला शिक्षक ने समझाया, *"हमने फ़ाउण्डेशन के सदस्यों को बताया कि उनको उस इलाक़े के स्कूलों में पढ़ाने वाले हर एक शिक्षक से मिलना होगा जो गाँव में रहते हैं और वह भी एक बार से अधिक।"* इसी शिक्षिका ने यह भी बताया कि किस तरह उन्होंने फ़ाउण्डेशन की टीम को गाँव में फैले जातिवाद के बारे में आगाह किया था, *"गाँव में जातिवाद भी है। कोई भी बैठक आयोजित करने से पहले हमें यह सुनिश्चित करना होगा कि हमने गाँव में रहने वाले हर जाति-समुदाय के शिक्षक से बात की है और साथ ही यह भी कि हर जाति-समुदाय के शिक्षक बैठक में हिस्सा भी लें।"* इस सलाह को मानते हुए फ़ाउण्डेशन के लोगों ने इस बात का पूरा ख़्याल रखा कि गाँव के हर समुदाय का बैठक में समुचित प्रतिनिधित्व हो।

यह कोर टीम की सलाह और आग्रह का ही नतीजा था कि एलआरसी को एक सरकारी इमारत यानी पंचायत के पुराने दफ़्तर में खोलने का फ़ैसला लिया गया। इसकी वजह बताते हुए एक शिक्षक ने बताया, *"यह सेंटर सभी लोगों के लिए है और हम समाज के हर तबक़े की भागीदारी और योगदान की उम्मीद कर रहे हैं। इसलिए इसे ऐसी जगह पर होना चाहिए जहाँ आने में किसी को कोई हिचकिचाहट न हो। मौजूदा हालत में हर व्यक्ति समाज के किसी ख़ास तबक़े का प्रतिनिधित्व करता है, और आमतौर पर हम हर किसी के साथ मेलजोल करने से कतराते हैं। हो सकता है निजी इमारत कुछ लोगों को एलआरसी से दूर कर दे क्योंकि हर कोई किसी ऐसे घर में जाने में सहज नहीं महसूस करता जो किसी ख़ास व्यक्ति या समुदाय का हो।"*

पंचायत को इस बात के लिए राज़ी करने में कि वह अपने पुराने दफ़्तर की इमारत को एक बैंक को किराए पर देने के अपने पुराने फ़ैसले को पलट कर एलआरसी को दे दे, कोर टीम ने कड़ी मेहनत की। पंचायत की मंज़ूरी मिलने और फिर इमारत की चाभी को फ़ाउण्डेशन की टीम के एक सदस्य के हाथ में सौंपे जाने की भारी उपलब्धि को याद करते हुए एक शिक्षक ने कहा, *"सरकारी व्यवस्था में कोई भी फ़ैसला लेना बहुत मुश्किल होता है। बैंक के साथ हुए क़रार को रद्द करना पंचायत सदस्यों के लिए आसान नहीं था। लेकिन गाँव के विभिन्न समूहों की लगातार कोशिशों ने इसे सम्भव बनाया।"*



पुरानी हालत में इमारत

लेकिन वह इमारत जिस हालत में मिली थी उसे देख कर लोगों को सदमा लग जाता। फ़ाउण्डेशन के एक सदस्य ने उसे याद करते हुए बताया, *"इमारत की हालत बहुत ख़राब थी। बरामदे में चारों तरफ़ शराब की बोतलें पड़ी हुई थीं। इमारत पूरी तरह पेड़-पौधों से ढँकी हुई थी। दीवारों पर काली काई की परत जमी हुई थी और फ़र्श भी जहाँ-तहाँ टूटी हुई थी। उसके सामने की जगह पर आसपास के घरों से कूड़ा-कचरा फेंका जाता था।"* इस मौक़े पर गाँव की कोर टीम ने फिर कमान सँभाली और फ़ाउण्डेशन टीम के सदस्यों के साथ मिल कर इमारत की साफ़-सफ़ाई और मरम्मत के काम में जुट गई। शिक्षकों ने स्थानीय स्तर पर मिल सकने वाले संसाधनों की पहचान की, विभिन्न लोगों को इस काम में जुड़ने के लिए प्रेरित

किया, और उस जगह की सफ़ाई और मरम्मत का काम पूरा हो जाए यह सुनिश्चित किया। उस समय ऐसा लगता था कि समूचा गाँव ही नहीं, बल्कि वहाँ से गुज़रने वाले मुसाफ़िर भी उसी काम में जुटे हुए थे।

जब एलआरसी खुल गया तो ऐसी व्यवस्था बनाई गई कि उसका इस्तेमाल करने वाले लोगों में से ही सभी बारी-बारी से उसे रोज़ खोलने व बन्द करने की ज़िम्मेदारी उठाएँ। केन्द्र की चाभी एलआरसी के पड़ोस के एक घर पर रखी जाती थी। सभी लोगों को यह बता दिया गया कि सेंटर हर व्यक्ति के लिए हर वक़्त खुला हुआ है और उसकी चाभी भी वहीं पड़ोस के घर में



एलआरसी बनने के बाद इमारत

रखी जाती है। जो भी वहाँ जाना चाहे उसे बस पड़ोस के घर से चाभी उठानी थी और सेंटर का ताला खोलना था। शिक्षकों की कोर टीम अलग-अलग जगहों पर लोगों को प्रेरित करती कि वे सेंटर का भरपूर इस्तेमाल करें। इसका नतीजा यह हुआ कि लोग नियमित वहाँ आने लगे और उनकी संख्या भी धीरे-धीरे बढ़ने लगी।

समुदाय में एलआरसी का योगदान

जब से एलआरसी की स्थापना हुई है, हर महीने एक कैलेंडर बनाया जाता है और शिक्षकों, बच्चों व समुदाय के अन्य सदस्यों के लिए विशिष्ट गतिविधियाँ आयोजित की जाती हैं। गतिविधियों का कार्यक्रम तय करने के अलावा, सभी को ज़िम्मेदारियाँ भी बाँटी जाती हैं। आमतौर पर शिक्षक व युवा बच्चों के साथ काम करने की ज़िम्मेदारी लेते हैं और जिन गतिविधियों की योजना बनाई जाती है उनका क्रियान्वयन करते हैं। हर 2-3 महीने पर कोई ऐसी गतिविधि आयोजित की जाती है जिसमें सभी भाग लेते हैं। इन योजनाबद्ध गतिविधियों के अलावा बच्चे, युवा और शिक्षक नियमित तौर पर एलआरसी जाते हैं और उसके कामकाज व ज़िम्मेदारियों के बारे में छोटी-छोटी बैठकें करते हैं। शिक्षक सेंटर में आने वाले बच्चों व युवाओं के साथ संवाद करते हैं और अकादमिक मामलों में भी उनकी मदद करते हैं।

शिक्षकों के लिए, एलआरसी अन्ततः जिनके लिए बनाया गया है, एलआरसी ने व्यक्तिगत व पेशेवर संवाद के लिए एक मंच मुहैया कराया है। एलआरसी में वीटीएफ़ की बैठकें हर महीने आयोजित की जाती हैं। बैठक का विषय ख़ुद शिक्षक ही चुनते हैं। इस तरह की गतिविधियों में नियमित रूप से भाग लेने से शिक्षकों का आत्मविश्वास भी बढ़ा है। बहुत सारे शिक्षकों ने खुल कर अपनी बात कहना सीखा है और किसी समूह में अपने विचार रखने से वे नहीं हिचकते हैं। एलआरसी में वे ऐसे संसाधनों की पड़ताल करते हैं जिनका इस्तेमाल वे अपनी कक्षा में कर सकें। साथ ही, वे नई-नई पद्धतियों के साथ प्रयोग करने को भी तैयार हैं। नियमित रूप से सेंटर आने और वीटीएफ़ की बैठकों में आने वाले एक शिक्षक ने कहा, *"अपने विषयों के अलावा हम हमेशा ही सामान्य अभिरुचि के दूसरे विषयों जैसे, भ्रूण हत्या, लड़कियों की शिक्षा आदि के बारे में बात करना चाहते थे। वीटीएफ़ के सत्रों में होने वाली चर्चाओं से हमें तमाम मुद्दों के बारे में सामग्री व उनके स्रोत इकट्ठा करने में और बच्चों के साथ इन संवेदनशील मसलों पर चर्चा शुरू करने व उसे आगे ले जाने में मदद मिली।"*

बच्चे एलआरसी में नियमित तौर पर आते हैं। हर रोज़ औसतन 15 बच्चे आते हैं और जिस दिन कोई गतिविधि आयोजित की जाती है उस

दिन तो यह संख्या 20–25 तक पहुँच जाती है। कुछ बच्चे सेंटर में मुहैया कराए गए खेल खेलते हैं और कुछ किताबें पढ़ते हैं। कुछ शिक्षकों को भी बच्चों के साथ मिलकर फ़िल्म प्रदर्शन और चित्रकारी जैसी गतिविधियाँ करते हुए देखा गया है। एलआरसी के खुले और आज़ाद माहौल के बारे में बताते हुए एक और बच्चे ने समझाया, *"किताबों के अलावा, यहाँ पर हम कुछ अच्छी फ़िल्में और वृत्तचित्र भी देख सकते हैं। सबसे बड़ी बात यहाँ का 'भयरहित' माहौल है; हमें जो किताब अच्छी लगती हो वह हम पढ़ सकते हैं और बोर्ड पर लिख भी सकते हैं।"*

समुदाय के लिए यह सेंटर एक-दूसरे से मिलने-जुलने के लिए जगह भी मुहैया कराता है और साथ ही व्यक्तियों को सीखने के तमाम मौक़े व संसाधन भी। वे लोग जो पढ़ाई-लिखाई से कोसों दूर थे वे अब सेंटर में उपलब्ध संसाधनों व सुविधाओं का लाभ उठाते हैं। ऐसा एक उदाहरण समुदाय की महिलाओं का है जो कभी-कभार सेंटर आती हैं। बच्चे जो किताबें घर ले जाते हैं घर की महिलाएँ उनको पढ़ती हैं। एक गृहिणी ने हमें बताया, *"मुझे पढ़ना अच्छा लगता है। हम अपने ख़ाली समय में पढ़ सकते हैं। मेरे बच्चे अब बड़े हो रहे हैं। अब मैं ऐसी किताब ढूँढ़ रही हूँ जो यह बताए कि किशोरावस्था से जुड़े मसलों पर बच्चों से किस तरह बातचीत की जाए व उनका मार्गदर्शन कैसे किया जाए।"*

सेवानिवृत्त शिक्षक न सिर्फ़ वहाँ अपने ख़ाली समय का सदुपयोग करते हैं बल्कि बच्चों व शिक्षकों के साथ होने वाले संवादों की गुणवत्ता को बेहतर बनाने में अपना योगदान भी करते हैं। ऐसे ही एक सेवानिवृत्त शिक्षक ने कहा, *"बिलकुल शुरू से ही- सेंटर के बनने से लेकर इसके कामकाज शुरू करने तक- फ़ाउण्डेशन के सदस्य जिस तरह से किवारली के लोगों के साथ पेश आए हैं वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है। बच्चे, युवा, शिक्षक, यहाँ तक कि गाँव के बड़े-बुज़ुर्ग सभी इन लोगों से बहुत प्रभावित हैं। फ़ाउण्डेशन के सदस्यों का व्यवहार अच्छा था और वे सबके साथ इज़्ज़त से पेश आते थे।"*

इस उत्साहजनक शुरुआत के बावजूद इस बात को लेकर तमाम शंकाएँ प्रकट की जाती हैं कि क्या यह उत्साह लम्बे समय तक टिक सकेगा। जैसा कि टीम के ही एक सदस्य ने बताया, *"किवारली के ज़्यादातर निवासियों के पास खेती की ज़मीन और मवेशी हैं जो अच्छे-ख़ासे समय की माँग करते हैं। आमतौर पर वे स्कूल से वापस आने के बाद इन सब पर काम करते हैं। इसके चलते उनके लिए नियमित तौर पर सेंटर आना मुश्किल होता है। लेकिन जब हम गतिविधियाँ और कार्यक्रम आयोजित करते हैं तब वे (शिक्षक व समुदाय के बुज़ुर्ग सदस्य) न सिर्फ़ बड़ी संख्या में एलआरसी आते हैं बल्कि उनकी तैयारी में व लोगों को बुलाने में मदद भी करते हैं।"* इस तरह, समुदाय के खुले सहयोग और फ़ाउण्डेशन के सदस्यों के लगातार प्रयासों को देखते हुए यह उम्मीद पैदा होती है कि किवारली का एलआरसी शिक्षकों व समुदाय के दूसरे लोगों के लिए सीखने की एक जीवन्त जगह के रूप में विकसित होता रहेगा।

परीक्षा और शिक्षा : एक विचार अनेक पहलू

पत्रिका की संवाद श्रृंखला की यह चौथी परिचर्चा है और विषय है– 'परीक्षा और शिक्षा : एक विचार अनेक पहलू'। यह संवाद भोपाल, मध्यप्रदेश में आयोजित किया गया। संवाद में शासकीय उत्कृष्ट विद्यालय भोपाल के प्राचार्य सुधाकर पाराशर, राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद, राज्य शिक्षा केन्द्र, भोपाल के व्याख्याता राजेन्द्र असाटी, एकलव्य फ़ाउण्डेशन की सीनियर फ़ेलो रश्मि पालीवाल, शासकीय ज्ञानोदय विद्यालय होशंगाबाद के शिक्षक मुकेश मालवीय एवं माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय भोपाल के रजिस्ट्रार दीपेन्द्र बघेल ने भागीदारी की। संवाद का संचालन रश्मि पालीवाल ने किया है। अनिल सिंह ने संवाद का समन्वय किया है।

परिचर्चा में 'परीक्षा और शिक्षा : विषय के विविध पहलुओं पर बातचीत हुई। विषयवस्तु विस्तृत होने की वजह से इसे दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। इस अंक में प्रकाशित पहले भाग में परीक्षा को लेकर प्रतिभागियों के निजी अनुभव, और समय के साथ इस पद्धति में आए बदलाव से जुड़े नज़रिए, समाज में बच्चों के प्रति दृष्टिकोण, सरकारी तंत्र में शिक्षकों की स्थिति व सोच और परीक्षा का स्वरूप व वैकल्पिक परिकल्पनाएँ से जुड़ी बातचीत दी जा रही है।

परिचर्चा का शेष हिस्सा अगले अंक में प्रकाशित किया जाएगा जिसमें मुख्यतः ओपन बुक परीक्षा, पास-फ़ेल की नीति और प्रयोगधर्मी स्कूलों से जुड़ी बातचीत की गई है।

रश्मि पालीवाल : दोस्तो, आज हमारी परिचर्चा का जो विषय है उसे बड़े व्यापक तौर पर रखा गया है। विषय है 'परीक्षा और शिक्षा'। तो शुरुआत हम करेंगे अपने निजी अनुभव को याद करते हुए, उसको छूते हुए। परीक्षा तो हमने भी दी। पहले स्कूल में, फिर कॉलेज में आए तब परीक्षाएँ दीं। और आज हममें से कई शायद परीक्षाओं का संचालन भी करते हैं, प्रिंसिपल के नाते, शिक्षक के नाते या अन्य पदों के नाते। जैसे मैंने एकलव्य में यह कोशिश करके देखी है कि कैसे एक नए तरीक़े की परीक्षा प्रणाली बन सकती है।

तो पुराने ज़माने की परीक्षा प्रणाली और आज जो परीक्षाएँ चल रही हैं जिनका अनुभव हमें आज काम के जीवन में मिल रहा है, उनमें हम क्या फ़र्क़ देख रहे हैं? कोई बदलाव दिखता भी है या परीक्षा पद्धति वैसी ही है जैसी हमारे समय में हुआ करती थी?

सुधाकर पाराशर : मुझे लगता है इसमें पहले से काफ़ी बदलाव आए हैं। जैसे हमारी प्राचीन पद्धति में परीक्षा होती थी वहाँ मुख्य उद्देश्य दो प्रकार के थे। एक तो जो छात्रों की परीक्षा ली जाती थी वह वास्तव में छात्रों की परीक्षा न होकर शिक्षक उसे अपने फ़ीडबैक के रूप में लेता था। वह सीखता था कि मुझे कहाँ-कहाँ कठिनाई हुई समझाने में। परीक्षा एक माध्यम होता था जिसके ज़रिए शिक्षक जान पाता था कि किन पाठ्यक्रमों में छात्र अभी भी कमज़ोर

हैं और उन्हें कितना और पढ़ाने की ज़रूरत है। तो एक प्रकार से परीक्षा शिक्षक को मदद करती थी। दूसरा यह कि बच्चे का जो ज्ञान है उसे नापने का एक तरीक़ा होती थी परीक्षा, कि हमने बच्चे को जो पढ़ाया है बच्चा उसे कितना ग्रहण कर पाया है। लेकिन आज जो परीक्षाएँ हो रही हैं वह दो प्रकार की हो रही हैं–

- एक तो वह जिनमें क्लासरूम टीचिंग के द्वारा उसके ज्ञान की परीक्षा हो रही है।
- और दूसरा एक माहौल नया खड़ा कर दिया गया है जहाँ प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए परीक्षाएँ हो रही हैं।

इन दोनों तरह की परीक्षाओं में आपस में कोई मेल नहीं है। एक तरफ़ जो परीक्षाएँ हो रही हैं उनमें विषयवस्तु और पाठ्यक्रम पर ज़ोर है। दूसरी तरफ़ आपकी तार्किक समझ, आपके दूसरे विषय के ज्ञान और अन्य परिस्थितियों में उसके इस्तेमाल की समझ की परीक्षाएँ हो रही हैं। जैसे– जेईई है, नीट है आदि। मेरे हिसाब से छात्र को भी बड़ा कन्फ़्यूज़न है कि इन दोनों को कैसे फ़ेस करे। यह जो बड़ा बदलाव आया है, उसके कारण शिक्षक भी अपने टूल्स का उपयोग ठीक से नहीं कर पा रहा है। दूसरी तरफ़ छात्रों पर भी अतिरिक्त बोझ है जिससे वे समझ नहीं पा रहे हैं कि हम किस तरह से तैयारी करें कि उस विषय में अच्छी तरह से पारंगत हो सकें।

"परीक्षा में बुनियादी रूप से कोई बदलाव नहीं आया है परीक्षा जिस तरह से भयकारी और आतंककारी हुआ करती थी, लगभग उसी तरह से हो रही है। और परीक्षा में एक तरह से सीखने–सिखाने की विधियों का जैसा फ़ीडबैक मिलना चाहिए वैसा किसी तरह से सम्बन्ध बनता दिख नहीं रहा है।"

मुकेश मालवीय : यदि इसे माध्यमिक शिक्षा तक ही रखें तो मेरा कहना है कि आज से 20–25 साल पहले जिस प्रक्रिया से परीक्षा हो रही थी, जिस तरह की परीक्षा हो रही थी, आज भी उसी तरह से है। बदलाव सिर्फ़ इस रूप में आया है कि पहले बच्चों और शिक्षकों की संख्या आनुपातिक रूप से होती थी, और अब चूँकि बच्चे अधिक हो गए हैं पर परीक्षा का पैटर्न वही है तो परीक्षा के साथ एक तरह का इग्नोरेंस बहुत ज़्यादा बढ़ गया है।

रश्मि पालीवाल : इग्नोरेंस को थोड़ा विस्तार से समझाइए, मैं समझ नहीं पाई।

मुकेश मालवीय : पहले होता था कि परीक्षा के ज़रिए बच्चे को जानने की थोड़ी-बहुत कोशिश की जा सकती थी लेकिन जब यहाँ बच्चे इतनी बड़ी संख्या में हैं, तो बच्चों से जुड़ाव प्रश्नपत्र के ज़रिए या बच्चों के जवाब के ज़रिए ही हो पा रहा है, तो यह एक तरह से परीक्षा की परम्परा का सिर्फ़ निर्वहन हो रहा है।

दीपेन्द्र बघेल : मुझे भी कमोबेश यही लगता है कि बुनियादी रूप से कोई बदलाव आया नहीं है। बदलाव आया है पदों में। कई नए पद आ गए हैं जैसे– सतत और व्यापक मूल्यांकन, चाइल्ड सेंट्रिक पेडागॉज़ी आदि। बाल-केन्द्रित अध्ययन-अध्यापन की विधियाँ आ गई हैं, लेकिन इतने सारे पदों के प्रचलन के बावजूद परीक्षा जिस तरह से भयकारी और आतंककारी हुआ करती थी, लगभग उसी तरह से हो रही है। और परीक्षा में एक तरह से सीखने-सिखाने की विधियों का जैसा फ़ीडबैक मिलना चाहिए वैसा किसी तरह से सम्बन्ध बनता दिख नहीं रहा है। पर परीक्षा को लेकर एक अलग सवाल मेरे दिमाग़ में है। हमारा जो समाज है वह एक तरह से समुदाय-आधारित समाज है। इसमें समुदाय का वर्चस्व बहुत ज़्यादा है और इसमें व्यक्ति की स्वतंत्र रूप से पहचान उतनी विकसित नहीं है। बच्चा जब परीक्षा दे रहा है तब वह अपने समाज से, अपने समुदाय से कुछ मान्यताओं को लेकर



फोटो : साइंसः ए वे ऑफ़ लाईफ़ (एकलव्य फ़ाउण्डेशन)

आया है, वह मान्यताएँ उसको दबाती रहती हैं और दूसरी तरफ़ बच्चे को अलग से शिक्षा दी जाती है। तो होता यह है कि बच्चे की पढ़ने की जो क्षमता है, सोचने-समझने की जो क्षमता है वह हमारी स्कूली शिक्षा पद्धति में कहीं जगह नहीं पाती। हमारी शिक्षा संसाधनविहीन है। मानव संसाधन की बात करें तो अध्यापक का जितना समय बच्चों को मिलना चाहिए, अध्यापक के पास उतना समय नहीं है। पाठ्यपुस्तकें जितनी गुणवत्ता की होनी चाहिए उतनी गुणवत्ता की नहीं हैं। मेरा तो यह सवाल है कि ऐसी संसाधनविहीन शिक्षा प्रणाली में क्या परीक्षा लेने का नैतिक हक़ भी शिक्षा व्यवस्था को है? मुझे इसमें सन्देह है। जब आप संसाधन ही नहीं दे पा रहे हैं तो परीक्षा कैसे ले सकते हैं!

रश्मि : बहुत इंट्रेस्टिंग बात कही आपने कि व्यवस्था को परीक्षा लेने का नैतिक हक़ है कि नहीं। स्कूल प्रशासन में कहीं चर्चा हो रही थी कि किसी रिसोर्स संस्था से रीज़निंग स्किल्स की ट्रेनिंग के लिए कोई आए यह सिखाने के लिए कि टीचर रीज़निंग स्किल्स के प्रश्न कैसे बनाएँ। टीचर को बता दो, सिखा दो ताकि अच्छे प्रश्नपत्र बन पाएँ। तब भी मैं यही सोच रही थी कि क्या प्रश्न बनाना सिखाने से सचमुच वैसे प्रश्न क्लासरूम में किए जाएँगे? क्या बच्चों को सोचने की क्षमता सामने लाने का मौक़ा मिलेगा? यह सब चीज़ें तो सुनिश्चित होंगी नहीं, तो संसाधनविहीनता तो है ही। ऐसे में रीज़निंग स्किल्स के प्रश्न बनाकर प्रचारित करने का नैतिक औचित्य क्या बनता है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण बिन्दु है।

पर अभी की चर्चा में एक बहुत ही रोचक विषय यह उठा कि पहले के ज़माने में बच्चे के बारे में फ़ीडबैक लेना सम्भव हुआ करता था जो अब नहीं हो रहा है, वह चाहे बच्चों की संख्या बढ़ने के कारण हो या कर्मकाण्डीयता ज़्यादा हो गई है इसलिए हो। मुझे यह रोचक लगा कि क्या ऐसा होता था, तो मैं चाहूँगी कि इस विषय पर और ज़्यादा बात हो, इसे थोड़ा और खोला जाए क्योंकि वह एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है परीक्षा का।

राजेन्द्र असाटी : जहाँ तक बदलाव की बात है तो मैं बदलाव महसूस करता हूँ। हमारे सोचने के तरीक़े में अन्तर आया है। पहले बच्चे पढ़ते थे तो हम सिर्फ़ यह बोलते थे कि पहली पास

हो जाओ, दूसरी पास हो जाओ। कैरियर की बात कहीं 12वीं में जाकर होती थी। और अब बच्चा जब एडमिशन लेता है तभी से हम उसके कैरियर के बारे में सोचना शुरू कर देते हैं। पेरेंट्स का माइंडसेट भी बहुत ज़्यादा बदला है। उनकी एक्सपेक्टेशन बिल्कुल बदल गई हैं। पहले यदि बच्चा नहीं आता था तो टीचर जाकर बच्चे का फ़ीडबैक देता था। अब पेरेंट्स आते हैं पूछने। तो थोड़ा यह चेंज आया है। प्रायवेट स्कूल और गवर्नमेंट स्कूल को देखें तो गवर्नमेंट स्कूल में हम पाते हैं कि पेरेंट्स-टीचर मीटिंग में बच्चों की बात करने, उनकी कॉपियाँ देखने पेरेंट्स नहीं आ रहे हैं। वहीं प्रायवेट स्कूल में पेरेंट्स आ रहे हैं। देखिए, हमारा जो टीचर है

"मेरा तो यह सवाल है कि ऐसी संसाधनविहीन शिक्षा प्रणाली में क्या परीक्षा लेने का नैतिक हक़ भी शिक्षा व्यवस्था को है? मुझे इसमें सन्देह है। जब आप संसाधन ही नहीं दे पा रहे हैं तो परीक्षा कैसे ले सकते हैं! "

सबसे पहले उसके माइंडसेट के चेंज की बात करते हैं। पहले एक ऐसा टीचर था जो वैल्यूज़ का सख़्ती से पालन करता था लेकिन अब यहाँ पर ज़्यादातर हमको अपने अनुभव अच्छे नहीं मिले। कारण जो भी हो।

रश्मि : एक तरह से आप कह रहे हैं कि टीचर बच्चों के लिए फ़ीडबैक ले ही नहीं रहा।

राजेन्द्र : बिल्कुल। दूसरा, परीक्षाओं के पैटर्न में भी चेंज हुआ है। जैसा कि हमको याद है हम पहले सिर्फ़ वार्षिक परीक्षा देते थे फिर यह हुआ कि सिर्फ़ वार्षिक परीक्षा से बच्चा इतना याद कैसे रखेगा। फिर मंथली टेस्ट होने लगे। मंथली टेस्ट के बाद यह बात की जा रही है कि हर दिन असेसमेंट हो। मतलब अब यह कहा जाता है कि असेसमेंट इज़ द पार्ट ऑफ़ लर्निंग। यानी बच्चे का गैप उसी दिन फ़ुलफ़िल हो जाए। बच्चा आगे बढ़े तो परीक्षा सिर्फ़ नाम के लिए परीक्षा होती है, मूल्यांकन और आकलन उसके साथ चलने वाली प्रक्रियाएँ हैं जो हम करने की बात कर रहे हैं। तो यह चेंज भी हुआ है जिसकी हम लगातार बात कर रहे हैं।

रश्मि : यह तो बड़ा महत्त्वपूर्ण बदलाव है। पाराशरजी, फ़ीडबैक वाली बात जो आप कहना चाह रहे थे तो हो सकता है उसमें हमें कोई झलक दिखे कि पहले किसी और तरीक़े से टीचर फ़ीडबैक लेते थे। आप उस वक़्त क्या कहना चाह रहे थे?

सुधाकर पाराशर : मैं सिर्फ़ यह कहना चाह रहा था कि जो परीक्षा है उसका जो अर्थ निकाला जाता है, मोटेतौर पर चाहे वह बच्चों के अभिभावक हों, या समाज हो या शिक्षा अधिकारी हों वह सिर्फ़ यह मानकर चलते हैं कि परीक्षा सिर्फ़ इसके लिए है कि विद्यार्थी ने कितना पढ़ा और कितना सीखा। मैं इसका दूसरा पक्ष रख रहा था। हम बच्चों की जो परीक्षा लेते हैं वह परीक्षा वास्तव में शिक्षकों की परीक्षा होती है। इससे रिफ़्लैक्ट होता है, पता चलता है कि हम जो सिखाना चाह रहे थे वह ठीक से सिखा पाए या नहीं। जो अंक हैं उसका विश्लेषण शिक्षक इस प्रकार करे कि 40 बच्चों की कक्षा में से 10 से अधिक बच्चों ने किसी टॉपिक में सारे प्रश्न ग़लत किए हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि बच्चे कमज़ोर हैं, बल्कि इसका अर्थ यह है कि शिक्षक को उस टॉपिक को पढ़ाने की अपनी विधि पर फिर से विचार करना होगा। शिक्षकों को यह सोचना होगा कि हो सकता है मैंने पढ़ा तो दिया पर उसमें कुछ और ऐड करना था तो सारे बच्चों को जो सिखाना चाहता था, सिखा पाता। दूसरी बात यह कि इस परीक्षा के माध्यम से यह पहचान करनी होगी कि कौन-से हमारे ऐसे बच्चे हैं कि जिनपर विशेष ध्यान देने की ज़रूरत है। ऐसा हमारे घरों में भी होता है कि



समानता का व्यवहार कई बार उचित नहीं होता। कोई रोगी है, कोई वृद्ध है, कोई बालक है तो उसका विशेष ध्यान रखा जाता है। मेरे हिसाब से शिक्षकों को यह ध्यान रखना होगा कि बच्चे की सीखने की कैपेसिटी कितनी है। यदि वह थोड़ी कमज़ोर है तो हम उसके स्तर तक नीचे जाकर उनको हाथ लगाएँ और उन्हें समझाने का प्रयास करें। मैं इस दृष्टि से देखता हूँ कि परीक्षा हो रही है, बच्चे परीक्षा में सम्मिलित हो रहे हैं, लेकिन उनके जो अंक आ रहे हैं वह बहुत बड़ा होमवर्क़ हैं शिक्षक का।

रश्मि : बिल्कुल। तो आप कह रहे हैं कि आपके ज़माने में इस तरह से परीक्षा को लिया जाता था। क्योंकि आप लगातार फ़ीडबैक लेने और रिफ़्लैक्ट करने की बात कह रहे हैं, क्या आप उसके कुछ उदाहरण देकर बता सकते हैं?

सुधाकर पाराशर : मैं यह बार-बार इसलिए कह रहा हूँ कि जब एडीआईएस आते थे, शिक्षा अधिकारी आते थे तो बच्चों से बार-बार प्रश्न करते थे। जब मैं 6-7वीं में पढ़ता था तब यह अधिकारी बच्चों पर नाराज़गी करके नहीं जाते थे। बाद में अलग से बैठकर शिक्षक से बात करते थे कि इस पाठ को इस तरह से फिर से पढ़ाने की ज़रूरत है। इसको ठीक से नहीं पढ़ाया गया। वह बताते थे कि इसको ऐसे पढ़ाओगे तो ज़्यादा बच्चे समझ पाएँगे।

यदि गणित में हमें लगता है कि हमारी कक्षा के सारे बच्चों को समझने में दिक़्क़त हो रही है तो मेरा मानना है कि छात्र कमज़ोर नहीं है। वह हमारे लिए एक विषय है कि हम उसको कैसे ठीक से करें। अपने दूसरे साथियों से बात करके, अन्य जगह से जानकारी ले करके अपनी समझ बनाएँ। अब तो बहुत सारी जगह जानकारी उपलब्ध है। पर ऐसा हो नहीं रहा है। अव्वल तो शिक्षक अपने विषय से ही कटा है, साथ ही वह अन्य विषयों से भी कटा है। वह

कक्षा में ऐसे जा रहा है कि सिर्फ़ गणित पढ़ाना मेरा काम है। बाक़ी के विषय में क्या हो रहा है उसे कुछ लेना-देना नहीं है। हिन्दी का टीचर जा रहा है तो वह अपना एक पाठ पढ़ाकर बाहर आ रहा है। मुझे लगता है कि छात्र के साथ यह बहुत बड़ा अन्याय है। उसके दिमाग़ में ऐसा नहीं है कि हिन्दी का एक कम्पार्टमेंट, इतिहास का एक और गणित का एक कम्पार्टमेंट है। वह तो सभी विषयों को 'एज़ ए होल' सीख रहा है। उसे तो इंटीग्रेशन की बहुत आवश्यकता है। उसके लिए तो बहुत ज़रूरी है कि शिक्षक आपस में बैठकर चर्चा करें। विषयों के आपसी जुड़ाव पर व्यावहारिक बात करें। बल्कि मुझे तो लगता है कि प्रश्नपत्र तैयार करते समय भी कार्यशाला होनी चाहिए। जहाँ एक विषय का दूसरे विषयों से क्या रिलेशन है यह समझ सकें।

"जैसे हम सोचते हैं बच्चे का विकास होना है तो टीचर का भी तो विकास होना है, वह भी एक व्यक्ति है। इस तरह से सोचा जाना चाहिए। एक सोचने-समझने वाले व्यक्ति के रूप में शिक्षक का विकास भी हमारा ध्येय होना चाहिए।"

रश्मि : हाँ, बिल्कुल। विशेषज्ञों के लिए भले ही वह विषय अलग-अलग हों, पर बच्चे के लिए तो वह उस कक्षा का एक पूरा पाठ्यक्रम है।

सुभाष पाराशर : बिल्कुल, सारे विषय आपस में गुँथे, बुने हैं। हम चाहे किसी भी कक्षा का पाठ्यक्रम देख लें वह एक-दूसरे से गुँथे हैं। गणित में भौतिकशास्त्र आ रहा है, भौतिक में रसायन आ रहा है, और लैंग्वेज में विज्ञान प्रवेश कर रहा है आज के ज़माने में।

रश्मि : आपने बहुत महत्त्वपूर्ण बात पर ध्यान दिलाया है कि पहले जो टीचर सपोर्ट सिस्टम था, मॉनीटरिंग सिस्टम था, वह वाक़ई में बदला है। टीचर की समझ तभी बनेगी जब इस तरह का जवाबदेह सिस्टम बनाया जाए कि बच्चे को अगर समझ नहीं आ रहा है तो उसका अंजाम, टीचर ने क्या किया, इसपर निकले; और वह भी एक डाँट-डपट या इंक्रीमेंट रोक दूँगा, निपटा दूँगा और सस्पैंड कर दूँगा के रूप में नहीं, बल्कि इसे प्रोफ़ेशनल तरीक़े से देखने की ज़रूरत है। जैसे हम सोचते हैं बच्चे का विकास होना है तो टीचर का भी तो विकास होना है, वह भी एक व्यक्ति है। इस तरह से सोचा जाना चाहिए। एक सोचने-समझने वाले व्यक्ति के रूप में शिक्षक का विकास भी हमारा ध्येय होना चाहिए। जैसे डाँट-डपट करके बच्चे को सिखाया नहीं जा सकता, वैसे टीचर को भी डर और धमकी के तमाचे लगा-लगा कर सिखाया नहीं जा सकता। पर यह नज़रिया नहीं बन पा रहा है, पहले शायद कुछ हद तक रहा करता था।

सुधाकर पाराशर : इस बात में केवल एक चीज़ जोड़ना चाहूँगा कि सर्वशिक्षा अभियान के तहत यह प्रयास हुआ और शुरू में यह धारणा बनी थी कि उसके चलते ही ऐसे पदनाम बनाए गए थे- बीएसी सीएसी, सीआरसी, बीआरसी, डीपीसी, सभी के आख़िर में 'सी' लगा था। समन्वयक था वह। विषयवार समन्वयक था, संकुल का समन्वयक था, अकादमिक समन्वयक था, स्रोत समन्वयक था, जिले का समन्वयक था। मतलब मंशा यही थी शासन की। वह यही चाहता था कि शिक्षक के साथ समन्वय बनाकर स्कूली सिस्टम में आ रही कठिनाइयों को दूर किया जाए। यह प्रश्न अलग है कि उसका क्रियान्वयन सही ढंग से नहीं हो सका और उससे जो मंशा थी, वह अकादमिक सपोर्ट शिक्षक तक नहीं पहुँच पाया। यह मैं स्वीकार करता हूँ। लेकिन यह एक अच्छा प्रयास था। आवश्यकता अभी भी उसी बात की है कि न केवल पदनाम में वे शब्द जोड़े जाएँ, बल्कि जो शिक्षा अधिकारी उस लेवल पर काम कर रहे हैं, जो कार्यकर्ता और मैंटर काम कर रहे हैं, वह

यह सोचकर चलें कि हमारा शिक्षक जो है वह हॉट सीट पर बैठकर प्लेन को उड़ा रहा है, हम सब उसे सपोर्ट करें। पर उल्टा हो रहा है। हम सब उसका विरोध करने को तैयार खड़े हैं कि शिक्षक काम नहीं कर रहा, वह काम नहीं कर रहा। ज़रूरत यह है कि यदि मैं जिला शिक्षा अधिकारी हूँ तो मैं समझूँ कि शिक्षक की शिक्षण सम्बन्धी क्या कठिनाइयाँ हैं।

रश्मि : हम यह सुझाव दे सकते हैं पाराशरजी कि पाठशाला के लिए अगला संवाद कभी मॉनिटरिंग मैकेनिज़्म पर रखें। इतनी सारी बातें हैं कि एक-एक को खोलने की ज़रूरत है।

सुधाकर पाराशर : मुझे प्राचार्य होने के नाते यह पीड़ा हमेशा रहती है। मेरे पास अधिकारीगण और शिक्षक आते रहते हैं और मैं सोचता हूँ इनमें से कितने लोगों ने मुझसे शिक्षा पर बात की, पढ़ाई पर या बच्चों की कठिनाइयों पर बात की। मुझे बहुत निराशा होती है।

परीक्षा का स्वरूप और वैकल्पिक परिकल्पनाएँ

मुकेश : इस प्रश्न को छोड़ने से पहले मैं चाहता हूँ कि परीक्षा के स्वरूप पर थोड़ी समालोचनात्मक नज़र डाल लेनी चाहिए। एक तो यह परीक्षा जो है वह लिखित रूप में पूछा जाने वाला सवाल है। परीक्षा की जो पूरी इमेज है स्कूल में, वह लिखित से बाहर है ही नहीं।

रश्मि : प्रायोगिक भी होती है। मौखिक भी होती थी पहले, अभी भी होती है।

मुकेश : पर उसको छोड़ भी दें तो मैं यह कहने की कोशिश कर रहा हूँ कि लिखित रूप



में पूछा जाने वाला सवाल कभी भी बच्चों के मन में शुरुआती स्तर पर कोई अर्थ नहीं बनाता। स्कूली स्तर पर, और यहाँ तक कि आठवीं के स्तर तक भी लिखित सवाल इसकी समझ पैदा नहीं करता कि क्या पूछा जा रहा है। उस समय तक का ज़्यादातर जीवन जो है वह मौखिक वार्तालाप से दुनिया को समझने का है। यह पूरी-की-पूरी स्कूली संस्कृति जिसमें लिखित भाषा आ गई है उसका तौर-तरीक़ा बिल्कुल अलग है। बच्चों को भाषा लिखने का तरीक़ा नहीं पता, तो यह जानते हुए भी कि सवाल का अभिप्राय क्या है, बच्चे जवाब नहीं लिख पाते। ऐसे में यह कहना कि किसी सवाल का जवाब बच्चे ने नहीं दिया, इसका यह मतलब नहीं कि उसका जवाब बच्चे को नहीं आता। दूसरी बात, बच्चे जिस लिखित भाषा से परिचित होते हैं, तो वह भले ही प्रश्न को समझ लें, वह यह जानते हैं कि मुझे जो कुछ लिखना है वह कुछ अटपटा-सा ही है, वह किताबी है, वह मेरे दिमाग़ का नहीं है, मेरी समझ का नहीं है। तो चूँकि पहले तो उसे प्रश्न को ही समझने की ज़रूरत है, और फिर जवाब देने के लिए जो ट्रेनिंग उसे मिली है उसमें यह कहा गया है कि जवाब अपनी मौलिक भाषा में नहीं देना है। बल्कि ऐसी भाषा में, और ऐसे शब्दों में देना है जो भले तुम्हें अटपटी लगती हो, वह किताब से मैच करती हो और वही शिक्षक को समझ में आएगी। इन दो चीज़ों को जब तक परीक्षा के नज़रिए से नहीं देखते, तब तक हम ठीक ढंग से नहीं समझ पाएँगे। बच्चे का आकलन करने के लिए परीक्षा तो है पर बच्चे के पास इससे निपटने का, इस तरह का कोई एक्सपोज़र नहीं है। ऐसी स्थिति में मैं परीक्षा को इस रूप में देखता हूँ कि शुरुआती कुछ साल जो हैं उसमें परीक्षा का प्रश्नपत्र बच्चे को सिर्फ़ यह बताने के लिए होना चाहिए कि परीक्षा के सवाल ऐसे होते हैं, जवाब देने आएँ चाहे नहीं आएँ। एक समय के बाद वह समझने लगता है कि ऐसे सवाल पूछे जाते हैं और फिर एक स्तर आता है जब वह अपनी तरह से जवाब देने लगता है। वह सीख लेता है। तो यह एक पूरा दौर है। अगर आप माध्यमिक स्तर तक यह आकलन करेंगे कि प्रश्न क्या पूछा गया वैसा ही जवाब मिल रहा है कि नहीं तो हम थोड़े भ्रम मे होंगे। और दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बच्चे को आता है या नहीं आता, यह बच्चे के जवाब से बिल्कुल भी पता नहीं चलता।

"शुरुआती कुछ साल जो हैं उसमें परीक्षा का प्रश्नपत्र बच्चे को सिर्फ़ यह बताने के लिए होना चाहिए कि परीक्षा के सवाल ऐसे होते हैं, जवाब देने आएँ चाहे नहीं आएँ। एक समय के बाद वह समझने लगता है कि ऐसे सवाल पूछे जाते हैं और फिर एक स्तर आता है जब वह अपनी तरह से जवाब देने लगता है। "

गुरबचन : जवाब दो तरह के होते हैं बच्चे की दृष्टि में। एक तो अपेक्षित जवाब जो स्कूल चाहता है, जो टीचर चाहता है और एक जवाब जो बच्चे का ख़ुद का होता है। वह सोचता है कि इनको कौन-सा जवाब चाहिए। क्या जवाब लिखूँ जो स्वीकार किया जाएगा, पसन्द किया जाएगा।

मुकेश : बिल्कुल सही कह रहे हैं। इसका एक ताज़ा उदाहरण है। एक सवाल विज्ञान में पूछा गया कि विद्युत से चलने वाले पाँच उपकरणों के नाम बताओ। अब हर बच्चा जानता है कि बिजली से क्या-क्या सामान चलते हैं। लेकिन अब यह जो विद्युत और उपकरण हैं, यह अधिकतर बच्चों को नहीं पता कि यह क्या हैं। अब इनका क्या जवाब देना है, उसे समझ ही नहीं आता। तो हम क्या निष्कर्ष निकालेंगे कि बच्चा यह भी नहीं जानता कि बिजली से चलने वाले उपकरण कौन-से हैं?

एक तो यह बात है। दूसरा, एक पूरी कहानी है जिसमें एक कंजूस पात्र है। और पाठ अभ्यास में एक सवाल है कि कंजूस कौन है? या कंजूस

कौन था? इस सन्दर्भ में बच्चे अपने गाँव के परिवेश में जिस किसी व्यक्ति को कंजूस मानते हैं, उसका नाम लिख दें। क्योंकि उनके दिमाग़ में तो जो कंजूस है वह तो वही था। तो अब सवाल यह आता है कि वे किस सन्दर्भ में जवाब दें। सवाल किस सन्दर्भ में पूछा गया है यह समझने में भी वक़्त लगता है।

चूँकि सवाल तो दो लाइन का है लेकिन उसका सन्दर्भ कहाँ जोड़कर पूछा गया है, इसका ख़ुलासा नहीं होता है। यह परीक्षा का जो नज़रिया है यह पूरी तरह से एडल्ट को ध्यान में रखकर ही बनाया गया है, बच्चों के बारे में इसमें बहुत कम सोचा गया है।

रश्मि : तो क्या हम इस मुद्दे को लेकर ही बात करें कि हम क्या सुधार विजुअलाइज़ करते हैं, अपेक्षा करते हैं? उनके बारे में थोड़े अपने सुझाव सामने रखें। बच्चे के नज़रिए को कैसे हम मूल्यांकन में शामिल कर सकते हैं? उसकी प्रक्रियाएँ क्या होंगी?

सुधाकर पाराशर : मुझे याद आ गया अपना बचपन। यह आपकी बात बिल्कुल सही है। प्रारम्भिक परीक्षा से कम-से-कम आठवीं तक तो लिखित परीक्षा को जितना कम कर सकते हैं कम कर दें। मुझे याद आ रहा है कि मैं कक्षा 7वीं में था और हमें विज्ञान विषय जोशी सर पढ़ाते थे। मैं पढ़ने में बहुत अच्छा भी था। परीक्षा में एक प्रश्न आया कि पेरिस्कोप के चार अनुप्रयोग लिखो।

रश्मि : आपने लिख दिए?

सुधाकर पाराशर : नहीं। मुझे पेरिस्कोप के 6



प्रयोग याद थे। मुझे लगा कि प्रयोग का उल्टा अनुप्रयोग होता है। यानी प्रश्न ही नहीं समझ पाया। मुझे लगा कि 'अन' लगा है यानी उल्टा अर्थ होगा। क्योंकि अधिकतर शब्दों में अन लगने से उल्टा होता है। यानी भाषा हिन्दी ही थी लेकिन प्रश्न में एक ऐसे शब्द के इस्तेमाल से मैं पूरी बात को ही नहीं समझ पाया। नहीं जान पाया कि सही जवाब क्या है। मैं उसका जवाब उल्टा देकर आया जबकि किताब वाला सही जवाब मुझे याद था।

बाहर जब गया तो दोस्तों से चर्चा हुई। वे पूछने लगे कैसा हुआ पेपर? हमने कहा हमारा तो ख़ूब अच्छा हुआ। उन्होंने पूछा, "पेरिस्कोप के उपयोग लिख आए।" हमने कहा, "उपयोग कहाँ, अनुप्रयोग पूछे हैं।" बाद में टीचर ने मुझे बहुत डाँटा कि तुम ऐसा कैसे कर आए। मैंने कहा, "वहाँ अनुप्रयोग पूछे थे उपयोग थोड़े ही पूछे थे।" सच में वह बात आज इस चर्चा में याद आ गई। अब समस्या कहाँ थी? समस्या यह थी कि मुझे हिन्दी नहीं आती थी या अनुप्रयोग शब्द का अर्थ नहीं आता था। जबकि परीक्षा से निष्कर्ष यह निकला कि मुझे पेरिस्कोप का विज्ञान नहीं आता।

" इस शब्द को लज्जा से भी नहीं बोला जाता है कि बच्चे कमज़ोर हैं। यह बोलने में संकोच भी महसूस नहीं होता। मतलब यह स्वीकारपूर्ण शब्द हो चुका है कि बच्चे कमज़ोर होते हैं। बच्चे कमज़ोर होते हैं या सीखना–सिखाना कमज़ोर होता है? इसपर बहुत गहराई से सोचने–समझने की ज़रूरत है।"

रश्मि : यह समस्या पाठ्यपुस्तक से भी जुड़ी है। पाठ्यपुस्तक में भाषा बहुत ही उच्च कोटि की इस्तेमाल की जाती है। तकनीकी और पारिभाषिक शब्दावली को ही मान्यता है और इसको शिक्षा के मानक के रूप में लिया जाता है। वहीं से सारी बात जुड़ी हुई है। हमने थोड़ी हल्की या बोलचाल की भाषा का इस्तेमाल किया तो कहा जाता है कि आप शिक्षा का स्तर गिरा रहे हो।

दीपेन्द्र बघेल : बातचीत के आगे बढ़ने के क्रम में एक शब्द आया था 'कमज़ोर बच्चे'। 'अलग से ध्यान दिया जाना'। मुझे ऐसा लग रहा है कि कमज़ोर शब्द पर अलग से बातचीत की जाए। क्योंकि सरकारी बातचीत या कर्मकाण्ड में यह शब्द बार-बार दोहराने में आता है। जब से असर की रिपोर्ट आई है तो यह शब्द बार-बार चर्चा में आ रहा है, कमज़ोर बच्चे, कमज़ोर बच्चे। मुझे लगता है कि यह जो भी परीक्षा पद्धति है या जो भी आकलन के तरीक़े हैं, वे एक तरीक़े से बच्चों के तिरस्कार के, अवमानना के तरीक़े हैं। मतलब उन्हें रोज़ यह फ़ील कराया जाता है कि आप सीख नहीं सकते, आप बुनियादी रूप से कमज़ोर हैं। अब यह शिक्षाशास्त्र में सामान्य बोलचाल का एक तरीक़ा हो चुका है और इस शब्द को लज्जा से भी नहीं बोला जाता है कि बच्चे कमज़ोर हैं। यह बोलने में संकोच भी महसूस नहीं होता। मतलब यह स्वीकारपूर्ण शब्द हो चुका है कि बच्चे कमज़ोर होते हैं। बच्चे कमज़ोर होते हैं या सीखना-सिखाना कमज़ोर होता है? इसपर बहुत गहराई से सोचने-समझने की ज़रूरत है। हमारे पास कोई ऐसा तरीक़ा नहीं है जिससे हम यह जान सकें कि बच्चे वाक़ई में कमज़ोर होते हैं क्या!

मुझे यह हमेशा लगता है कि सीखने-सिखाने की जो विधियाँ हैं उनकी कमज़ोरियों पर हमें हमेशा सोचना पड़ेगा। शिक्षक अपनी कमज़ोरियों को क़बूल कर सके उस दिशा में हमें सोचना पड़ेगा। शिक्षा व्यवस्था अपनी कमज़ोरियाँ क़बूल कर सके। कमज़ोरी का जो विमर्श है उसे तोड़ना पड़ेगा। मुझे यह लगता है कि कमज़ोरी शब्द अब विमर्श में आ गया है और परीक्षा उसका मापदण्ड बन चुकी है। यानी परीक्षा यह कह रही है कि यह बच्चे कमज़ोर

हैं। मुझे हमेशा से यह लगता है कि ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से भी यह हिंसक बात है। तो क्या हम इस हिंसक बात का समर्थन करते हैं? इसपर सवाल उठाए जाने चाहिए। शायद परीक्षा के विमर्श के बीच ऐसे सवाल उठ सकते हैं, क्योंकि मैंने अनेक संस्थाओं के प्रयोग में देखा है कि कई बच्चों को शिक्षकों ने अस्वीकृत कर दिया था कि ये गणित नहीं सीख सकते, संस्कृत नहीं सीख सकते। उन बच्चों के साथ संस्थाओं ने अपनी तरह से शिक्षण के प्रयोग किए, शिक्षकों के साथ भी काम किया और बच्चों ने बहुत अच्छा किया। तो मुझे ऐसा लगता है कि बच्चे के नज़रिए से सोचना इसलिए ज़रूरी है कि बच्चे की आत्मछवि उसकी तथाकथित उपलब्धि से जुड़ी है। एक बार उसने यह मान लिया कि वह कमज़ोर है तो उसकी अपने-आप को कमज़ोर मानने की ग्रन्थि जीवन भर उसके साथ चलने वाली है। तो परीक्षा इस ग्रन्थि का विकास न करे बल्कि इस ग्रन्थि को तोड़े। जबकि अभी की स्थिति में तो परीक्षा इस ग्रन्थि का विकास ही करती दिखाई देती है। असर की रिपोर्ट ने तो इसे स्टैंडर्डाइज़ कर दिया है। मैंने बहुत बार सुना है शिक्षक कहते हैं कि बच्चे 8वीं क्लास में आ गए हैं जबकि उनकी तीसरी कक्षा की भी योग्यता नहीं है। वे कमज़ोर वर्ग के हैं। हम उनको पढ़ा ही नहीं सकते।

मुझे लगता है कि कमज़ोरी का जो विमर्श है, वह स्थापित-सा हो गया है। बच्चों के कमज़ोर होने की इस बात को आसानी से बोला जाने लगा है। इसे तोड़ा कैसे जाए, मुझे तो इस व्यवस्था में इसका कोई तरीक़ा समझ नहीं आ रहा फिलहाल।

रश्मि : हमने एकलव्य के कार्यक्रम में यह प्रयोग किया था कि बच्चे के नज़रिए को शामिल करते हुए परीक्षा या आकलन के जो भी परिणाम आ रहे हैं उसको हम आत्मचिन्तन के लिए उपयोग करें। इस मक़सद से कि हमें शिक्षकों के पढ़ाने के तरीक़े में, पाठ्यपुस्तकों के लेखन में कहाँ-कहाँ और कितने प्रयास करने हैं। इसके अलावा हम और भी प्रयास करते थे। प्रश्नपत्र हम सब शिक्षक मिलकर बनाते थे, और जब परीक्षा हो जाती थी, उत्तरपुस्तिका आती थी तो हम रेंडम सैंपल निकाल लेते थे। उनका अध्ययन करके सबसे पहले प्रश्नपत्र की समीक्षा की जाती थी, बच्चे की नहीं। प्रश्नपत्र की समीक्षा करते थे कि क्या हमने अच्छा प्रश्नपत्र बनाया था। प्रश्नपत्र का मूल्यांकन किया जाता था। उसमें बच्चों के रिस्पोंसेस को टेबुलेट करते थे, बिना नाम देखे, रोल नम्बर से देखकर। और देखते थे कि कौन-से प्रश्नों में बच्चों ने कहाँ और कब अच्छा किया। फिर समालोचना होती थी कि क्या यह प्रश्न सही थे। फिर देखते थे कि इनमें हमने कितने-कितने अंक निर्धारित किए। फिर यदि

"एकलव्य के कार्यक्रम में यह प्रयोग किया था कि बच्चे के नज़रिए को शामिल करते हुए परीक्षा या आकलन के जो भी परिणाम आ रहे हैं उसको हम आत्मचिन्तन के लिए उपयोग करें। इस मक़सद से कि हमें शिक्षकों के पढ़ाने के तरीक़े में, पाठ्यपुस्तकों के लेखन में कहाँ-कहाँ और कितने प्रयास करने हैं।"

ऐसे प्रश्न निकलते थे जिनमें बच्चों ने बहुत ही कम जवाब दिया है तो हम चर्चा करते थे कि इसका क्या मतलब है। क्या प्रश्न सही है या प्रश्न ही भ्रामक था। जैसा उदाहरण पाराशरजी ने बताया कि एक शब्द अनुप्रयोग ने कैसे उन्हें भ्रम में डाल दिया था।

प्रश्न से कैसे भ्रान्ति आ रही है वह इस विश्लेषण से पकड़ में आ जाती है। बच्चे कैसे देख रहे हैं उस प्रश्न को, इससे उनका नज़रिया सामने आ जाता। हमारे पढ़ाने में क्या दिक़्क़त रही, क्यों इस प्रकार की चीज़ बच्चे कर नहीं पाए जबकि हमने अपेक्षा की थी। तो फिर टीचर के साथ समीक्षा की जाती थी कि क्या हमने बच्चे को ऐसे पढ़ाया था। कितना टाइम दिया

था? यह सारी समीक्षा करने के बाद हम अंकों का पुनर्निर्धारण करते थे। इसको बहुत लोग ग़लत मानते थे कि यह आप कैसे कर सकते हैं, इस प्रश्न के इतने अंक थे अब आप अंक बदल कैसे सकते हो। लेकिन समीक्षा के आधार पर हम अंक बदल देते थे। बच्चों के फ़ीडबैक से पता चल रहा है कि यह प्रश्न अन्यायपूर्ण है। उनका सही मूल्यांकन नहीं कर पा रहे। देखिए, मूल्यांकन उसका होना होता है जो हम कर पाएँ। जो कर ही नहीं पाएँ उसका क्या मूल्यांकन। मूल्यांकन तो मेरे आगे बढ़ने और मेरी उपलब्धि बताने के लिए होना चाहिए ना। जो मुझे नहीं आता वह तो टीचर के झोले में जा रहा है। उसमें टीचर को आगे काम करना है। मैंने जहाँ तक उपलब्धि हासिल की मुझे वह बताइए देखकर। तो हम प्रश्न बदल देते थे। ऐसे प्रश्नों के अंक कम करके उन अंकों को उन प्रश्नों में ट्रांसफ़र कर देते थे जिनमें ज़्यादातर बच्चे जवाब दे पाए। क्योंकि वे प्रश्न ज़्यादा बच्चों की ऐक्चुअल उपलब्धि का मूल्यांकन करने में सक्षम थे। दूसरे प्रश्न नहीं थे।

“देखिए, मूल्यांकन उसका होना होता है जो हम कर पाएँ। जो कर ही नहीं पाएँ उसका क्या मूल्यांकन। मूल्यांकन तो मेरे आगे बढ़ने और मेरी उपलब्धि बताने के लिए होना चाहिए ना। तो जो मुझे नहीं आता वह तो टीचर के झोले में जा रहा है। उसमें टीचर को आगे काम करना है”

फिर दोबारा से मूल्यांकन निर्देश लिखे जाते थे। हम मॉडल आंसर पहले लिख देते थे। फिर बच्चों के आंसर देख कर मॉडल आंसर रिवाइज़ करते थे कि बच्चों ने यह ऐसे समझा। तो पहले से ही एक मैकेनिकल तरीक़े से मॉडल आंसर न बनाते हुए हम मूल्यांकन निर्देश भी फिर से बनाते थे और रिवाइज़ मूल्यांकन निर्देश और रिवाइज़ अंक निर्धारण जारी करते थे। जो सैंपल पेपर थे वह वापस रख दिए जाते थे और मूल्यांकन निर्देश और रिवाइज़ अंक निर्धारण सारे परीक्षा केन्द्रों पर फिर से जारी होता था कि अब इसके अनुसार आकलन किया जाए।

कहने का मतलब कि इसका तरीक़ा निकाला जा सकता है; और यह होशंगाबाद ज़िले और कई ज़िलों के शिक्षकों ने 25-30 साल तक करके दिखाया कि वह इस चीज़ को सीख सकते हैं। शिक्षक अपने व्यावसायिक समूहों में बैठकर, विचार करके और बच्चे के नज़रिए को शामिल करके ऐसी व्यवस्था को बना सकते हैं।

अब प्रश्न है कि क्या ऐसी प्रक्रियाएँ आजकल सम्भव हैं या नहीं? इसके लिए कोशिश होती है या नहीं होती? वह मैं आपसे जानना चाहूँगी।

राजेन्द्र : परीक्षा सुधारों को लेकर मेरा सोचना थोड़ा अलग है। मेरा सोचना है कि एक ही बात बार-बार कही जाती है तो वह मान्यता जैसी बन जाती है। जैसे परीक्षा को लेकर कहा जाता है कि परीक्षा से डर पैदा होता है, तनाव पैदा होता है। मुझे लगता है कि यह परीक्षा लेने के तरीक़ों पर भी निर्भर करता है। परीक्षा बेसिकली कक्षा की तैयारी तो है ही, पर वह जीवन की तैयारी भी है। जीवन में भी आपको हमेशा परीक्षाएँ देनी पड़ती हैं। कहीं-न-कहीं बच्चा प्रॉब्लम सॉल्वर तो बनता ही है। परीक्षा से गुज़र कर प्रॉब्लम सॉल्विंग एप्रोच कहीं-न-कहीं उसके अन्दर पैदा हुई, यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

हमारे यहाँ जब सीसीई लागू हुआ तो हमने उसके अन्दर कुछ शालाएँ चुनीं। सीसीई में शालाएँ लेते हुए हमने परीक्षा की तैयारी के तरीक़े बदले। हमारा एक माध्यमिक शाला एनकेजे स्कूल था। वहाँ पर जब भी टीचर चैप्टर पढ़ाते थे तो सारी तैयारी बच्चों से कराते थे। तुम प्रश्न बनाओ, तुम उत्तर लिखो। बस उनकी ग्रुपिंग हम कर देते थे। समूह में बैठाकर उनसे

प्रश्नोत्तर बनवाने का काम करते थे। साल भर तक उन्होंने ऐसा किया और जब उन्होंने परीक्षा दी तो कहीं पर उनको इसका डर नहीं था। क्योंकि वह प्रश्न बनाने और उत्तर देने, दोनों प्रक्रियाओं में शामिल थे। उन्होंने परीक्षा आराम से दी। वहाँ हमने एक यह भी किया कि जब वह परीक्षा देने आए, तो जनरली क्या होता है कि उनके बैठने की व्यवस्था रोल नम्बर से होती है। तो हमने क्या किया कि सबको कहा कि जहाँ जिसको बैठना हो बैठ जाओ, यहाँ पर कोई रोल नम्बर नहीं है। 40 बच्चे थे, सब अपने हिसाब से बैठ गए और हमने यह भी कहा कि जैसे हम रोज़ करते थे वैसे ही यह करना है। हर पुस्तक में पाठ के अन्त में 5-6 प्रश्न होते हैं पर बच्चों ने तो 20-20, 30-30 प्रश्न बनाए थे। कोई ऐसा प्रश्न नहीं था जिसका वे जवाब न लिख सकें। माने बच्चों ने बड़े हेल्दी रूप में एक्ज़ाम दिया।

लेकिन जब हम एक्ज़ाम में बहुत स्पेशल व्यवस्था करते हैं, तमाम औपचारिक नियम-क़ायदे बनाते हैं, फिर एक व्यक्ति खड़ा होकर इंस्ट्रक्शन देता है कि पीछे मत मुड़ना, ऐसा मत करना, वैसा मत करना। और साल भर वैसी प्रक्रियाएँ चलती हैं तो परीक्षा का स्वरूप बदल जाता है। उसका असर ही अलग हो जाता है। मुझे लगता है कि हमको परीक्षा संचालित कराने के तरीक़ों पर भी विचार करना होगा। बच्चों को परीक्षा देनी है, एक मानकीकरण से गुज़रना है। इसमें उन्नीस-बीस चलता रहेगा पर बच्चों को इतना भरोसा होना चाहिए कि मैं यह ठीक से कर पाता हूँ। अगर एक चीज़ नहीं कर पाया तो कोई बात नहीं, मैं दूसरी चीज़ तो कर पाता हूँ। यह मेरा एरिया है, मैं इसमें आगे जा सकता हूँ। यह भरोसा पैदा कर देना बहुत महत्त्वपूर्ण है। मुझे लगता है कि परीक्षा में सुधार को हमको इस दृष्टि से देखना होगा। और टीचर्स का बच्चों के साथ जो बिहेवियर है, इसपर बहुत काम करने की ज़रूरत है। इस तरह परीक्षा कई चीज़ों से जुड़ रही है। हम एकदम से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते।

रश्मि : पर एक बहुत सहज और बुनियादी निष्कर्ष यह है ही कि सारा दारोमदार शिक्षक और छात्र के सम्बन्धों पर टिका हुआ है।

दूसरी, आप रीज़निंग की बात कर रहे थे कि शिक्षक बड़ा कन्फ़्यूज़ है कि एक तरफ़ तो क्लास का पाठ्यक्रम चल रहा है जिसमें रीज़निंग उतनी नहीं है और दूसरी तरफ़ प्रतियोगी परीक्षाएँ हैं। हम इसपर आएँगे।

राजेन्द्र : इसमें एक चीज़ जोड़ूँगा, ऐक्चुअली यह दोनों चीज़ें अलग नहीं हैं। जो हमारा पाठ्यक्रम है उसमें भी रीज़निंग है। पर शिक्षक जब पेपर बना रहे थे तो उस तरह से रीज़निंग को नहीं दे रहे थे। जब हमने सीखा कि आगे बढ़ने के लिए यह ज़रूरी है तो हमने अपने गणित के पैटर्न को उसी तरह से बदला। मासिक टेस्ट हुए। बाहर से लोग आए, उसमें यह बताया कि पेपर कैसे बनाएँ। उसमें इस तरह के प्रश्न रखेंगे ताकि बच्चे को एकदम से यह नहीं लगे कि किस तरह के प्रश्न आ गए। रीज़निंग उसी के अन्दर है। अब शिक्षकों ने अपने पाठ्यक्रम को देखना स्वीकार किया, ताकि वे प्रतियोगी परीक्षा के साथ-साथ स्कूल के पाठ्यक्रम को भी पूरा कर सकें।

"कहा जाता है कि परीक्षा से डर पैदा होता है, तनाव पैदा होता है। तो मुझे लगता है कि यह परीक्षा लेने के तरीक़ों पर भी निर्भर करता है। परीक्षा बेसिकली कक्षा की तैयारी तो है ही, पर वह जीवन की तैयारी भी है। जीवन में भी आपको हमेशा परीक्षाएँ देनी पड़ती हैं। कहीं-न-कहीं बच्चा प्रॉब्लम सॉल्वर तो बनता ही है।"

अनिल : राजेन्द्रजी, आप इसका कोई उदाहरण दे सकते हैं।

राजेन्द्र : बिल्कुल। पहले हम बच्चों को ग्राफ़ बनाना सिखा रहे थे। फिर हमने उनको एक ग्राफ़ दिया और उसका निष्कर्ष उनसे पूछा कि

कौन सबसे लम्बा, कहाँ सबसे ज़्यादा बारिश होती है। फिर सीक्वेंस पढ़ना बताया कि 2 के आगे 6 लिखा है तो अगला अंक क्या होगा। तो इस तरह के प्रश्न पहले टीचर नहीं दे रहे थे। वह दे रहे थे 1 पेंसिल की कीमत 5 रुपए है तो 5 की कितनी होगी? या हमने चार स्ट्रक्चर बना कर दिए जिनमें एक लकड़ी का था बाक़ी तीन लोहे के, और पूछा कि इसमें अलग क्या है? इस तरह के सवाल भी अब हमने उसमें शामिल किए।

पाठ्यपुस्तक और परीक्षा में बदलाव के लिए शिक्षकों की तैयारी

रश्मि : पिछले 10-20 सालों में पाठ्यपुस्तक में परिवर्तन आया है। जैसा कि आप कह रहे हैं कहीं कम तो कहीं ज़्यादा मात्रा में रीज़निंग, बच्चे की अपनी सोच, उसकी अभिव्यक्ति को भी जगह मिल रही है। लेकिन इसमें जो एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है वह है शिक्षक की तैयारी। शिक्षक की तैयारी वैसी ही परीक्षा देने की हुई है जो पाठ्यपुस्तकों को पढ़ कर दी जाती है। उसमें सीधे-सीधे जानकारी दी जाती है। जवाब भी बने-बनाए रहते हैं। उसने जब पढ़ाई की थी तब आज जैसी नई पाठ्यपुस्तकें नहीं थीं। शिक्षक के अन्दर जो एक ध्येय बना है कि मुझे क्या काम करना है, मेरी क्या भूमिका है, वह उसके विकास से तय हो चुका है। अब उसे पूरा अनलर्न करके, अनपैक करके नए परिप्रेक्ष्य को स्वीकार करना, अपने मन में उसकी स्वीकार्यता बनाना यह बहुत बड़ा चैलेंज है।



मैं देखती हूँ, शिक्षक कहते हैं कि भाषा और गणित तो बेसिक चीज़ें हैं। विज्ञान वग़ैरह में नई चीज़ें आएँ, यह अलग बात है। भाषा और गणित तो हम रोज़ सिखाते हैं। इसको तो मैंने जैसे सीखा वैसे सिखा दूँगा। इसमें नई सोच और तर्क क्या मायने रखते हैं। तो वह पाठ्यपुस्तक के परिवर्तन में भी ध्यान नहीं देते। ट्रेनिंग में चले जाते हैं और बहुत ध्यान दिए बग़ैर आ जाते हैं। उनका यही सोचना है कि यह तो हमें आता है, जोड़, घटाव, गुणा, भाग यह तो हम सिखा सकते हैं। उसमें परिवर्तन के लिए वे अपने मन को खोल ही नहीं पा रहे हैं।

इस चुनौती को टैकल करना है। इसके बग़ैर बात बनेगी नहीं।

राजेन्द्र : बिल्कुल सही कह रही हैं। यही हुआ। जैसे ही एनसीईआरटी की किताबें आईं तो शिक्षकों में एकदम से प्रतिक्रिया हुई। अरे यह क्या है? पहले की किताबें बेहतर थीं, उनमें पढ़ाई-लिखाई ज़्यादा थी। तो डिस्ट्रिक्ट लेवल पर जब ट्रेनिंग वग़ैरह हुईं तब उस समय कुछ प्रश्नों को लेकर बताने की कोशिश हुई कि हमारा टेस्ट इस तरह होना है और इस तरह से आप लोगों को चीज़ों को देखना है। लेकिन वास्तविकता यह भी है कि टीचर बहुत अच्छे से पढ़ भी नहीं रहे। रीडिंग हैबिट इनकी बहुत अच्छी नहीं है।

रश्मि : यह जो पाराशरजी कह रहे थे न, वहाँ स्कूल लीडरशिप बिल्कुल सेंट्रल रोल अदा कर रही है। अब इनके पास तो स्कूल है जिसकी यह लीडरशिप कर रहे हैं, पर अधिकांश स्कूल में तो कोई है ही नहीं जो लीडरशिप करे।

एक टीचर आता है, एक छुट्टी पर रहता है। अगले दिन यह छुट्टी पर है, दूसरा आता है। कौन किसकी लीडरशिप करे? कहाँ बैठें, कहाँ सोचें, कहाँ बात करें? कोई माहौल नहीं है। वह व्यवस्थाएँ बनाने की ज़रूरत है। या तो संकुल का कोई प्राचार्य या कोई और हफ़्ते में किसी एक दिन, जो टीचर आपस में जुड़े हैं उनके साथ बैठकर बातचीत करे, जैसी आप अपने स्कूल में करते हैं।

राजेन्द्र : वह चल रहा है मैडम। शैक्षिक संवाद का उद्देश्य यही था।

रश्मि : पर वह तो बड़े लेवल पर होता है, क्लस्टर लेवल पर। और उसमें भी अभी ट्रेनिंग देने वाला पुट ही बना हुआ है कि अब हम आपको एक और गतिविधि सिखाते हैं, एक और टीएलएम बनाना बताते हैं। उसमें टीचर का अपना रिफ़्लेक्शन बता पाना होता ही नहीं है। यह तो छोटे स्तर पर, छोटे समूह में ही सम्भव है जिसमें टीचर अपने हफ़्तेभर का काम बता पाए। जैसे अपन सब टीचर बैठे हैं, तो उसमें यह बात हो कि मैंने यह पढ़ाया, ऐसे पढ़ाया, वह चार बच्चे ऐसे थे, उनको तो हासिल ही नहीं आ रहा था, इसके घर में यह समस्या थी, वह तो रोने लगा। या उसने यह पूछा कि यह दो अंकों वाले गुणा में कट-पिट का निशान क्यों लगाते हैं? जो भी अपनी चिन्ताएँ हैं वह साथ बैठकर बताएँ। उसमें एक-दूसरे की जो भी समस्याएँ हैं, उलझनें हैं वह सुलझाएँ। वहीं से ताकत मिलेगी।

सुधाकर पाराशर : आज 21वीं सदी है, ज़माना बदल रहा है। अभी हाल ही में डिपार्टमेन्ट ने मुझे कोरिया भेजा था। मैं वहाँ होकर आया। वहाँ '5सी' की बात कर रहे हैं। वह बात कर रहे हैं कि बेसिकली शिक्षा के अन्दर क्या-क्या आ जाए। उसके अन्दर कम्प्यूटर स्किल आ जाए, कम्युनिकेशन स्किल आ जाए, कोऑपरेटिव वर्किंग की कैपेसिटी आ जाए, क्रिटिकल थिंकिंग आ जाए और कैरैक्टर आ जाए। अब बोलना, सुनना, पढ़ना, लिखना पीछे रह गया। बच्चे के अन्दर इस तरह के प्रैक्टिकल नॉलेज और स्किल आ जाने की बात हो रही है। कम्प्यूटर ज़रूरी रूप से आए, अपनी बात कम्युनिकेट कर सके, साथ मिल कर काम करने की स्किल आ जाए, नई दृष्टि से सोचना, सवाल करना आ जाए, वैल्यूज़ और कैरैक्टर जैसे स्किल की बातें हो रही हैं।

पर हमारी परीक्षा पद्धति में हम अभी भी वही करना चाहे रहे हैं कि हमने पढ़ा दिया और बच्चे ने याद कर लिया, लिख लिया। जबकि दुनिया हमसे क्या अपेक्षा कर रही है? आज इंडस्ट्री की क्या अपेक्षा है? उसके अन्दर यह स्किल आने अब ज़रूरी हैं। आप जो बात कर रही हैं उससे

"अभी हाल ही में डिपार्टमेन्ट ने मुझे कोरिया भेजा था। वहाँ '5सी' की बात कर रहे हैं। वह बात कर रहे हैं कि बेसिकली शिक्षा के अन्दर क्या-क्या आ जाए। उसके अन्दर कम्प्यूटर स्किल आ जाए, कम्युनिकेशन स्किल आ जाए, कोऑपरेटिव वर्किंग की कैपेसिटी आ जाए, क्रिटिकल थिंकिंग आ जाए और कैरैक्टर आ जाए।"

मैं सौ प्रतिशत सहमत हूँ। शिक्षक सोचता है कि मैं उस ज़माने का पढ़ा हूँ, शिक्षित हूँ, जिसकी नौकरी 30 वर्ष की हो गई है, तो क्या वह ख़ुद को बदलने को तैयार है। अब समय बदल गया है भाई। अब सिर्फ़ याद करके लिख लेना समझ नहीं है। अब उस ज्ञान का एप्लीकेशन या उस ज्ञान का उपयोग दूसरी परिस्थितियों में कर पा रहे हैं तब माना जाएगा कि आप पढ़े-लिखे हैं, शिक्षित हैं, समझदार हैं।

तो फिर मुद्दा वही है कि यदि ज़माना बदल रहा है तो हमें अपनी पद्धतियाँ और मानसिकता बदलनी होंगी।

रश्मि : और शायद इसमें एक पीढ़ी लगती है। उसी पीढ़ी में यह सब परिवर्तन देख पाना मुश्किल होता है।

बच्चे के बारे में समाज का नज़रिया

सुधाकर पाराशर : बिल्कुल ठीक। मैं काफ़ी देर से एक बात सोच रहा था दीपेन्द्र सर ने जो बोला था कि 'कमज़ोर बच्चे' शब्द का काफ़ी इस्तेमाल होने लगा है। मेरा तो मानना है कि यह मेंटल हैरसमेंट है और इस शब्द के प्रयोग पर सज़ा का प्रावधान होना चाहिए। यह शब्द बोलना ही अपने-आप में क्रिमिनल ऑफ़ेंस है।

रश्मि : आप इसपर बोल रहे हैं... (कई) शिक्षक तो तमाचे लगाने का अधिकार चाहते हैं। राइट टु एजुकेशन ने उनसे यह अधिकार छीन लिया। वह राइट टु एजुकेशन क़ानून को इसके लिए ज़िम्मेदार मानते हैं। वह तो इसे बदलना चाहते हैं।

"हो सकता है किसी बच्चे की स्पोर्ट्स में रुचि हो, ड्रॉइंग, पेंटिंग या अन्य किसी विषय में हो। हम उपलब्ध करा ही नहीं पा रहे हैं। हमारे पास हिन्दी, अंग्रेज़ी, गणित, विज्ञान चार विषय हैं वही थोप रहे हैं और फिर आकलन कर रहे हैं कि तुम कमज़ोर हो, बेकार हो।"

सुधाकर पाराशर : मैं फिर कहना चाहूँगा मैडम कि किसी बच्चे को कमज़ोर कह देना अपराध है। आप नहीं जानते ऐसा कह कर आपने उसमें क्या ज़हर भर दिया, उसे किस अवसाद में डाल दिया। हो सकता है कि किसी शिक्षक ने उसे ठीक से पढ़ाया ही नहीं हो और बच्चा उस विषय में रह गया तो हम कहने लगे कि यह बच्चा कमज़ोर है।

रश्मि : पर यह बात आ कहाँ से रही है हमें यह भी देखना होगा। यह बात आ रही है क्योंकि इस तरह की हाई स्टेक टेस्टिंग वाली चीज़ों को सरकार तवज्जो दे रही है। वह प्रसारित कर रही है यह तनाव। मुझे तो लगता है बच्चों की टेस्टिंग को ही अपराध घोषित करना चाहिए। बच्चों की टेस्टिंग क्यों कर रहे हो? प्रशासन अपनी टेस्टिंग करे। शिक्षक की टेस्टिंग करो। जो भी, जैसी भी टेस्टिंग करो वह बच्चों के लिए नहीं अपने लिए करो।

सुधाकर पाराशर : कोई बात नहीं टेस्टिंग करो, सही है, पर यह बच्चे की टेस्टिंग नहीं है भाई, हमारी टेस्टिंग है। यह टेस्टिंग हमारे लिए है। सोचिए हम बीमार हैं, डॉक्टर ने हमारा ब्लड टेस्ट कराया तो टेस्ट करा तो वह हमारा रहा है लेकिन उसके बाद में अपना दिमाग़ लगा रहा है कि इसको क्या दवाई देनी है, क्या-क्या ध्यान रखना है। ऐसा तो नहीं कहता डॉक्टर कि पाराशरजी आपका यह ब्लड ख़राब है, आप मरने वाले हो, भाग जाओ यहाँ से। अपना ब्लड ठीक करके आओ।

हम यही कर रहे हैं। हम यह नहीं कर रहे हैं कि उसका हीमोग्लोबिन कम है तो भई हम बताएँ न कि उसे क्या-क्या देना है, कैसे देना है, कैसे और कब ठीक होगा। हम डॉक्टर का रोल नहीं अदा कर रहे हैं। हम उसपर आरोप लगा रहे हैं कि तुम्हारा हीमोग्लोबिन कम है, चलो भागो यहाँ से। अब तुम किसी लायक़ नहीं। कुछ दिन के मेहमान हो। सोचो, डॉक्टर ऐसी भाषा बोलने लगेंगे तो क्या होगा। तो एक तरह से हम वही कर रहे हैं।

यह तो एक बात हुई। दूसरी बात यह कि मुझे लगता है, हम सभी बच्चों से एक जैसी अपेक्षा क्यों कर रहे हैं। हम ऐसा क्यों मानकर चल रहे हैं कि हर बच्चे को गणित आना ही चाहिए। शासन को यह चाहिए कि वह हमारे विद्यालय में सारे क्षेत्र जिनमें कि बच्चों की स्वाभाविक वृत्तियाँ होती हैं वह सब उपलब्ध कराए। हो सकता है किसी बच्चे की स्पोर्ट्स में रुचि हो, ड्रॉइंग, पेंटिंग या अन्य किसी विषय में हो। हम उपलब्ध करा ही नहीं पा रहे हैं। हमारे पास हिन्दी, अंग्रेज़ी, गणित, विज्ञान चार विषय

हैं वही थोप रहे हैं और फिर आकलन कर रहे हैं कि तुम कमज़ोर हो, बेकार हो। आज तमाम बच्चे-बच्चियाँ विभिन्न क्षेत्रों में कितना अच्छा कर रहे हैं, अगर उन्हें भी ऐसे ही कमज़ोर बच्चा कहके छोड़ दिया जाता तो क्या वे यह सब कर पाते। खेल में, म्यूज़िक में, अन्य क्षेत्रों में नाम कमा रहे बच्चों से पूछो तो इनमें से ज़्यादातर 10वीं या 12वीं फ़ेल हैं। क्या वे कमज़ोर थे? नहीं, उनका क्षेत्र अलग था। हमारे पास वह सुविधाएँ नहीं हैं उन्हें आँकने की। उनकी पहचान नहीं कर पा रहे हम और ठप्पा लगाए दे रहे हैं कि तुम कमज़ोर हो। वह अपने किसी रुचि के क्षेत्र में शानदार हो सकता है।

इसकी भी स्वीकार्यता शिक्षक में आए, पालक में आए, समाज में आए कि यदि कोई बच्चा गणित में कमज़ोर है, गणित में थोड़ा कम समझ में आ रहा है तो वह कमज़ोर नहीं हो गया।

रश्मि : सिर्फ़ इतना ही नहीं बल्कि यह भी बताना ज़रूरी है कि गणित में कमज़ोर होने का अर्थ क्या है।

पाराशर : ऐसा कहा जाना चाहिए कि गणित समझने में कठिनाई हो रही है।

रश्मि : नहीं, वह भी बात नहीं है। यह कहना पड़ेगा कि वह इस तरह का गणित कर लेता है पर स्थानीय मान पद्धति के कॉलम एडिशन में उसको दिक़्क़त है। बाक़ी सब बहुत अच्छे से कर पाता है, सिर्फ़ यहीं अटकाव है। वह गणित कर सकते हैं, करते भी हैं। यूँ कहो कि यह पद्धति की दिक़्क़त है, उसकी कमज़ोरी है कि वह इतने लोगों को गणित में कमज़ोर करती है।

पाराशर : बिल्कुल सही कहा आपने। पद्धति की बजाय हम बच्चों पर कमज़ोर होने का ठप्पा लगा रहे हैं। इसे रोकना चाहिए। उन क्षेत्रों की भी पहचान करनी चाहिए। स्कूल हमें बहुत ओपन माइंडेड रखना पड़ेगा। बहुत ऑप्शन रखने पड़ेंगे कि हर एक बच्चे में जो कुछ प्रतिभा है, जो कुछ छिपा हुआ है, उसे उभरने का मौक़ा मिले। प्रकृति ने सभी में कुछ-न-कुछ डाला हुआ है।

रश्मि : आप यह भी नहीं कहें कि इसको पढ़ना-लिखना नहीं आता। नहीं आता तो नहीं आता। टैक्नोलॉजी का इस्तेमाल भी किया जा सकता है। जैसे मुझे देखने में कमी है, मैं चश्मा लगा लूँगी। मुझे सुनने में कमी है, मैं यंत्र लगा लूँगी। मैं बोल रही हूँ, सुन रही हूँ, दुनिया को देखकर अपना ज्ञान बना रही हूँ। मैं किसी कारण से बस लिख नहीं पा रही। तो कोई बात नहीं, मैं बोलूँगी और यह वॉइस रिकॉर्डिंग से टाइप हो जाएगा। गूगल टाइप कर देगा। आजकल तो यह आसानी से हो रहा है। अब पढ़ने-लिखने की चिन्ता दूर। सारे टीचर्स के स्मार्टफ़ोन में यह एप डाउनलोड कराओ। उस बच्चे को उत्तर देने को बोलो, और टाइप हो जाएगा, आप देख लो।

“ आप यह भी नहीं कहें कि बच्चे को पढ़ना–लिखना नहीं आता। नहीं आता तो नहीं आता। टैक्नोलॉजी का इस्तेमाल भी किया जा सकता है। जैसे मुझे देखने में कमी है, मैं चश्मा लगा लूँगी। मुझे सुनने में कमी है, मैं यंत्र लगा लूँगी। मैं बोल रही हूँ, सुन रही हूँ, दुनिया को देखकर अपना ज्ञान बना रही हूँ।”

पाराशर : मैं शासन की तरफ़ से एक पक्ष रखना चाहता हूँ। शायद मध्यप्रदेश में पहली बार हुआ जहाँ शासन ने इस तरह से सोचना शुरू किया। अभी यह हुआ कि शासन ने निर्णय लिया कि जिन स्कूलों में बीस प्रतिशत से कम परीक्षा परिणाम आया था, वहाँ बच्चों को दोष नहीं देते हुए, वहाँ के शिक्षकों की परीक्षा कराई। उनका रिज़ल्ट डिक्लेयर किया। जो फ़ेल हुए उन्हें दुबारा मौक़ा देते हुए किताब खोलकर परीक्षा दिलवाई। दुर्भाग्य की बात है कि उसमें भी हमारे कई शिक्षक साथी फ़ेल हुए। निस्सन्देह जब एक शिक्षक, एक प्रश्नपत्र सॉल्व नहीं कर सकता, या फिर यूँ कहें कि उनकी तैयारी नहीं थी, तो हम बच्चे से कैसे अपेक्षा कर सकते थे।

यह सही दिशा है प्रशासन की, जहाँ वह यह सोच रहा है कि बच्चों का पास न होना सिर्फ़ बच्चों का कमज़ोर होना नहीं, बल्कि कई बार अच्छे शिक्षकों का न होना भी है। इस दिशा में पुनर्विचार करना शुरू करना चाहिए।

दूसरी बात यह कि उन शिक्षकों की मानसिकता में बदलाव, पद्धतियों में बदलाव और उसके लिए उनको उचित अवसर और ट्रेनिंग देना यह दोनों एक साथ करनी पड़ेगा। तब जाकर कहीं बात बनेगी, हम नए मूल्यांकन की ओर बढ़ पाएँगे। सुधार की ओर बढ़ पाएँगे।

सरकारी तंत्र के शिक्षक की स्थिति और सोच

''यह जो परीक्षा का पूरा मसला है इसमें विषय-आधरित शिक्षा है, विषय-आधारित परीक्षा है। हार्डकोर विषयों की बात होती है, बाक़ी चीज़ें छूट जाती हैं। उसपर कोई बात नहीं करता। जैसे जीवन के लिए जो ज़रूरी तत्त्व हैं, जैसे कला का तत्त्व, सौन्दर्य अनुभूति का तत्त्व, यह न तो शिक्षा के माध्यम से आ रहे हैं न ही परीक्षा के माध्यम से। ''

रश्मि : अब हम जब सुधारों की बात कर रहे हैं, तो हम किस तरह के सुझाव देना चाहते हैं? हमारे मन में क्या है?

मुकेश : बड़ी दिक़्क़त तो यह है कि सरकारी स्कूलों में शिक्षा हो ही नहीं रही है। मध्यप्रदेश में शिक्षक और स्टूडेंट्स का रेशो एक अलग तरह का है। हमारे तीस-चालीस प्रतिशत स्कूलों में बच्चों की संख्या तीस से कम हो गई है, वहाँ दो-तीन शिक्षक ही हैं। उसके बाद भी स्थितियाँ यह हैं कि शिक्षा का स्तर गिरा हुआ है। तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि शिक्षक को भी ठीक ढंग से समझने की ज़रूरत है, ख़ासकर सरकारी सिस्टम में। मैं बार-बार और कई जगह पर यह कहता रहा हूँ कि कोई भी ग़ैर-सरकारी तंत्र में उपजा हुआ अनुभव सरकारी तंत्र पर फ़िट नहीं बैठता। वह एक बिल्कुल अलग तरह का समाज है, जिसे बिल्कुल एक अलग नज़रिए से देखने की ज़रूरत है। तो जब भी आप परीक्षा की बात करें तो जो व्यक्तिगत, सीमित क्षेत्रों में कामयाबी के अनुभव रहे हैं उसके आधार पर एक व्यापक व्यवस्था में निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। वे व्यक्ति अलग थे, उनकी अलग तरह की समझ थी।

रश्मि : किसकी बात कर रहे हैं?

मुकेश : मतलब अगर एकलव्य का भी उदाहरण लें, या प्राइवेट स्कूल का उदाहरण लें। प्राइवेट वर्सेज़ सरकारी स्कूल का भी ले लें तो सरकारी सिस्टम में एक अलग तरह से समाज बना हुआ है। उसको उसी तरह से देखने की ज़रूरत है। एक तो दायित्व बोध का अभाव है, दूसरा यह कि यह जो परीक्षा का पूरा मसला है इसमें विषय-आधरित शिक्षा है, विषय-आधारित परीक्षा है। हार्डकोर विषयों की बात होती है, बाक़ी चीज़ें छूट जाती हैं। उसपर कोई बात नहीं करता। जैसे जीवन के लिए जो ज़रूरी तत्त्व हैं, जैसे कला का तत्त्व, सौन्दर्य अनुभूति का तत्त्व, यह न तो शिक्षा के माध्यम से आ रहे हैं न ही परीक्षा के माध्यम से।

रश्मि : अभी की बात कर रहे हैं तो सीसीई तो चल रहा है, और प्रतिभा पर्व भी चल रहा है, उसमें यह सारी बातें किस तरह से छूट जाती हैं?

मुकेश : मुझे लगता है कि उसे देखने की ज़रूरत है। यह जो सीसीई का पूरा विचार आया यह विचार भी पूरी तरह से शिक्षा तंत्र में डेवलप नहीं हुआ। यह भी एक तरह से बाहरी चीज़ थी, जो सरकारी स्कूलों पर थोपी गई। जब बाहरी चीज़ सरकारी तंत्र पर थोपी जाती है तो किस तरह से वह विकृत स्वरूप ले लेती है। सीसीई जो मध्यप्रदेश के स्कूलों में लागू हुआ, उसमें बच्चों की ईमानदारी के आपको

अंक देने थे। अब ईमानदारी का आकलन आप कैसे करेंगे? सत्यवादिता पर अंक देने थे, और उसकी स्वच्छता पर अंक देने थे। अब स्वच्छता के मायने ही सबके लिए अलग-अलग हैं या इसे समझने के लिए भी एक तरह की परवरिश की ज़रूरत है कि किसे आप स्वच्छता कहेंगे, किसे नहीं कहेंगे। बहुत तरह की चीज़ें थीं जिन्हें शिक्षाशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने की ज़रूरत रही, उनके क्रियान्वयन की कोई तैयारी या समझ ही नहीं रही ज़मीनी स्तर पर।

रश्मि : बहुत सारी बातें थीं उसमें, जैसे– कला, खेल, नेतृत्व क्षमता, सहभागिता...

मुकेश : हाँ, पर वह सब परीक्षा की तरह आ रही थीं न, तो फिर परीक्षा का कोई टूल ही उसको देख सकता था, आकलन कर सकता था। अब कला को परीक्षा के किस टूल से आप ऑब्ज़र्व करेंगे। और अभी आपने ही यह कहा कि नई चीज़ को समझने में लम्बा समय चाहिए, इस तरह के बदलावों में एक पूरी पीढ़ी लगती है। लेकिन सरकारी तंत्र में तो तुरन्त एक्शन की बात होती है। आपने आज ऑर्डर दिया और कल बदलाव हो जाना चाहिए।

रश्मि : यदि हम इसमें थोड़ा प्रायवेट स्कूल को शामिल करके बात कर सकें कि सीसीई प्रायवेट स्कूल में किस तरह लागू हुआ या वहाँ परीक्षा में जो भी सुधार है तो क्या वहाँ पर कुछ बेहतर अंजाम पर पहुँच पा रहे हैं या बेहतर समझ वहाँ के शिक्षकों की है? वहाँ तो दायित्व बोध का अपना एक स्तर बनाकर रखा जाता है 'हायर एंड फायर' पॉलिसी से। क्या वहाँ दायित्व बोध की स्थिति बेहतर होती है? और क्या उससे बच्चों की शिक्षा में कोई अन्तर हम देख पाते हैं समझ के स्तर पर?

गुरबचन : आप यह जो कह रहे हैं कि यह सीसीई जैसी चीज़ बाहरी अवयव के तौर पर आई, तो यह शायद वैसा नहीं है क्योंकि यह तो हमारे तंत्र के भीतर भी जो लगातार सुधार और परिमार्जन की प्रक्रियाएँ चलती रही हैं, उसके परिणामस्वरूप एक समझ से निकली है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा, 2005 ने इसे एक विचार के तौर पर दिया और उस विचार के आधार पर हमने अपने 'राइट टु एजुकेशन' में एक प्रोवीज़न के तौर पर चैप्टर फ़ाइव में इसे इंट्रोड्यूज़ किया। इस तरह यह हमारे तंत्र के अपने अनुभव से निकला हुआ मसला है न कि बाहरी।

रश्मि : बाहरी वह शायद इस मायने में रहता है कि वह स्कूल लीडरशिप के विज़न से निकल कर नहीं आया है। अगर मैं इसको ऐसे रखूँ कि स्कूल एक सामाजिक समूह है और उसे नेतृत्व देने वाले की कर्मठता, उसकी निष्ठा, विज़न या उसकी दूरदर्शिता पर बहुत कुछ निर्भर करता है कि वह क्या करना चाहता है। जो स्कूल लीडरशिप की बात पहले भी मैंने कही थी। अगर मुझसे कोई कुछ करवा रहा है भले ही कितनी भी अच्छी सोच से करवा रहा है, पर अगर कोई बाहर से मुझसे करने के लिए बता रहा है, तब थोड़ी मुश्किल रहती ही है। हाँ, अगर उसपर मैंने विमर्श किया, बहस की, उसे समझा, बदला और फिर मैंने अपने हिसाब से स्कूल को वैसे चलाया, वहाँ तो ठीक है। यानी इतनी कश्मकश, इतनी जद्दोजहद अगर स्कूल लीडरशिप ने की है तो वह काम उसका अपना बनेगा। तब एनसीएफ़ हो, आरटीई हो, सीसीई हो, कुछ भी हो, उसकी अपनी सोच का अंग बनेगा। अगर कोई काम उसकी ऑटोनॉमी का

" यह जो सीसीई का पूरा विचार आया है। यह विचार भी पूरी तरह से शिक्षा तंत्र में डेवलप नहीं हुआ। यह भी एक तरह से बाहरी चीज़ थी, जो सरकारी स्कूलों पर थोपी गई। जब बाहरी चीज़ सरकारी तंत्र पर थोपी जाती है तो वह विकृत स्वरूप ले लेती है।"

हिस्सा बना, उसकी एजेंसी का हिस्सा बना फिर वह उसे संचालित करे तो वहाँ परिणाम अलग होते हैं। पर जहाँ बहस नहीं की, तोड़-मरोड़ कर उसे अपने में नहीं शामिल किया, जहाँ वह सिर्फ़ एक आदेश के रूप मे प्रसारित होकर आ गया, चाहे कितनी भी अच्छी बात हो उसमें बहुत बड़ा गैप रह जाता है क्योंकि यहाँ पर आप व्यक्तियों के साथ डील कर रहे हैं, यह नहीं कि आपको दवाई बाँटनी है। दवाई आप ऐसे बाँट सकते हैं कि ऊपर से गोलियाँ आ गईं आयरन या विटामिन की या जो भी बाँटना है, ड्रेस हो, साइकिल हो, वह आपने बाँट दी। पर ज्ञान और सम्बन्ध तो वैसे नहीं बाँटे जा सकते ना। और शिक्षा अन्तत: बच्चे और बड़े के सम्बन्ध के इर्दगिर्द चलने वाली चीज़ है। ज़्यादा अनुभवी और कम अनुभवी, ज़्यादा जानकार और कम जानकार के बीच के एक सम्बन्ध पर चलने वाली चीज़ है। इसे आप कैसे बाँट सकते हैं। इसको तो जो सम्बन्ध बना रहा है उसी का होना पड़ेगा, उसके बग़ैर यह हो ही नहीं सकता। शायद इस मायने में ही आप इसे (सीसीई को) बाहरी कहना चाहेंगे।

"शिक्षक जिन विद्यार्थियों से सामना कर रहा है उनकी वर्गीय पृष्ठभूमि अलग है, जातिगत पृष्ठभूमि अलग है। उनके प्रति न ही वह संवेदनशीलता महसूस कर रहा है और न ही सम्बन्ध महसूस कर रहा है। तो चूँकि एक तरह की सम्बन्धहीनता है, उस नाते उसमें दायित्व की ऊर्जा ही नहीं पनप रही।"

दीपेन्द्र : मुकेशजी, जैसा आप कह रहे थे कि शिक्षकों में दायित्व बोध नहीं है, तो इसको मैं समझना चाह रहा था कि क्यों नहीं है? मैं इसके कारणों में जाना चाह रहा था। मेरे पास कुछ अनुमान हैं। अनुमान यह हैं कि शिक्षक जिन विद्यार्थियों से सामना कर रहा है उनकी वर्गीय पृष्ठभूमि अलग है, जातिगत पृष्ठभूमि अलग है। उनके प्रति न ही वह संवेदनशीलता महसूस कर रहा है और न ही सम्बन्ध महसूस कर रहा है। तो चूँकि एक तरह की सम्बन्धहीनता है, उस नाते उसमें दायित्व की ऊर्जा ही नहीं पनप रही। मैं इसे ऐसे देखना चाहूँगा। यह नहीं कि वह दायित्व नहीं उठाना चाह रहा या आलस्य में रहना चाह रहा है, बल्कि मुझे ऐसा लग रहा है कि जिस पृष्ठभूमि से बच्चे आ रहे हैं उनसे जुड़ाव ही महसूस नहीं कर पा रहा। और मुझे यह स्वाभाविक लगता है कि वह जुड़ाव नहीं महसूस करता। क्योंकि हमारा समाज इसी पर आधारित है।

मुकेश : तो एक यह बहुत बड़ा तत्त्व है कि जो वर्ग पढ़ने आ रहा है वह अलग है और पढ़ाने वाला वर्ग बिल्कुल अलग तरह का है। दूसरा, मैं यह कह रहा हूँ कि आप देखना कि शिक्षक को जैसे ही दूसरे काम में लगाया जाता है, सब ठीक चलता है। शिक्षक से बहुत ज़्यादा अपेक्षा भी नहीं होती है कि वह शिक्षा वाले काम को आगे बढ़ाए। सरकार उसको इसी तरह से समझती है और देखती है कि शिक्षक राज्य के प्रमोशन वाले काम करने या कल्याणकारी योजनाओं को चलाने वाला व्यक्ति है। और मैं देखता भी हूँ कि जब भी यह कल्याणकारी दायित्व शिक्षक को दिए जाते हैं तो वह बख़ूबी और शिद्दत के साथ निभाता है।

दूसरा जिस कोऑर्डिनेशन की बात आप कह रहे थे, 15-17 साल पहले तंत्र में यह व्यवस्था की गई कि 15-20 शिक्षकों के साथ समन्वयन के लिए ऐसा व्यक्ति रखेंगे, जो सलाह दे रहा होगा, मदद कर रहा होगा। इस पूरी व्यवस्था में संकुल से लेकर जिले तक के जो कोऑर्डिनेटर थे, बीआरसी, डीपीसी सहित सारे व्यक्ति, वे सभी शिक्षा के ताने-बाने से ही आए थे। पर देखने में यह आया कि सबसे ज़्यादा अफ़सरशाही इन्हीं व्यक्तियों में नज़र आती है। यह सब शिक्षा से जुड़े व्यक्ति थे, शिक्षक रहे

थे। लेकिन जैसे ही शिक्षा को देखने का, शिक्षा को मदद करने का मौक़ा आया अफ़सरशाही के तंत्र में यह लोग फँसते चले गए। इससे नाम तो बिगड़ा ही, काम भी कुछ बना नहीं।

तो जो सवाल है सम्बन्ध बनाने का उसमें यह साफ़ दिखता है कि सरकार के साथ आपको सम्बन्ध बनाने हैं, लेकिन बच्चों के साथ वैसा सम्बन्ध बनता ही नहीं। वहाँ अपनी ईमानदारी के और अच्छे काम करने के सिग्नल्स आप सरकार को देना चाहते हैं। जैसे ही एक लेक्चरर चुनाव के कार्य में लगाया जाता है तो वह सब तरह की व्यवस्था करेगा और बहुत बेहतर काम करता है। तहसील के कामों में लगाया जाता है वहाँ भी वह बहुत बेहतर काम करता है।

रश्मि : तब यह दायित्व बोध कहाँ से आ जाता है?

मुकेश : चूँकि उसकी आइडेंटिटी जो है वह एक अलग तरह की भूमिका में है।

रश्मि : इसे थोड़ा और खोलें आप। यह आइडेंटिटी की बात है या वह काम हैं ही ऐसे जो इस तरह किए जा सकते हैं। शिक्षा का काम थोड़ा भिन्न काम है। शिक्षा के विषय की प्रकृति को समझना, बच्चे की ज्ञानार्जन की प्रक्रिया को समझना। उसमें जो समय लगता है उसमें जो खुलापन होता है, उसे एप्रिशिएट करने के लिए मानसिक रूप से वह तैयार ही नहीं। ऐसे में उसे समझ ही नहीं आता कि करना क्या है? उसे लगता है उसने पढ़ा दिया, बात ख़त्म, अब और क्या करना है?

मुकेश : यह जो दौर है उसमें शिक्षक को बनाने का काम उसकी नौकरी लगने के पहले



जो होता था वह बिल्कुल नहीं हो रहा है। और ज़्यादातर शिक्षा की डिग्रियाँ प्रायवेट संस्था बाँटने लगीं हैं वे इसके प्रति बिल्कुल गम्भीर नहीं हैं। मतलब यह कहें कि जो शिक्षक बनकर आया है, उस व्यक्ति का उस व्यवसाय से बिल्कुल भी सम्बन्ध नहीं रहा।

रश्मि : कोई पेशेवर परिप्रेक्ष्य ही उसका नहीं है, आप ये कह रहे हैं। पर यह भी पूरा सच नहीं है। पेशेवर परिप्रेक्ष्य के लिए बहुत कुछ हो रहा है। शिक्षक ख़ुद भी प्रयास कर रहे हैं। लेकिन जैसा कि हम पहले बात कर चुके हैं बदलावों का असर देर से ही दिखाई देगा। एक बड़ी और बहुस्तरीय व्यवस्था में अनेक तरह के काम एक साथ और अलग-अलग स्तरों पर करने की ज़रूरत है। अपेक्षित बदलाव तभी देख सकेंगे।

मुद्रक तथा प्रकाशक मनोज पी. द्वारा अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन फॉर डेवलपमेंट के लिए अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, प्लॉट नं. 163-164, त्रिलंगा कोऑपरेटिव सोसाइटी, E-8 एक्सटेंशन, त्रिलंगा भोपाल, मध्यप्रदेश 462039 की ओर से प्रकाशित एवं गणेश ग्राफ़िक्स, 26-बी, देशबंधु परिसर, प्रेस काम्प्लेक्स, एम.पी. नगर, जोन-1 भोपाल द्वारा मुद्रित।

सम्पादक : गुरबचन सिंह

लेखकों से आग्रह

हमने पत्रिका के पहले, दूसरे एवं तीसरे अंक के लिए आलेख आमंत्रित करते हुए सभी को पत्र लिखे थे जिसमें लेखों की प्रकृति व स्वरूप के बारे में कुछ आधार भी दिए थे। इसके अलावा कुछ आधार आपको पहले प्रकाशित अंकों और इस चौथे अंक के लेखों को पढ़ने से मिल जाएँगे। आप शिक्षा से सम्बन्धित किसी भी मसले पर अपने अनुभव, अध्ययन व विश्लेषण के आधार पर इस पत्रिका में लिख सकते हैं। उम्मीद करते हैं कि आप जो भी लेख भेजेंगे वह ठोस आधारों पर होंगे। यदि लेख में दिए गए किसी विवरण, चर्चा अथवा व्याख्या से सम्बन्धित किसी तर्क अथवा प्रमाण के लिए किसी पुस्तक, जरनल या वेब स्रोत से कोई सामग्री ली गई हो तो उसका उल्लेख ज़रूर करेंगे। आप जो भी सन्दर्भ सामग्री लें उससे लेख को अर्थपूर्ण, तार्किक और गुणवत्तापूर्ण बनाने में मदद मिले।

पत्रिका में लोगों के अनुभव भी शामिल किए जाएँगे। इसमें कक्षा व स्कूल में विषय सीखने–सिखाने के अनुभव, छात्रों द्वारा किसी अवधारणा विशेष को सीखने की प्रक्रिया, उनके साथ की जाने वाली गतिविधियों के अनुभव, पाठ्यपुस्तक पढ़ाने के अनुभव और उनका विश्लेषण, बच्चों के साथ खेलने, चित्रकारी करने, बालसभा, मध्याह्न भोजन और टीचर लर्निंग सेंटर आदि के अनुभव भी हो सकते हैं। इनके अलावा छात्र–अध्यापक सम्बन्ध, कक्षा में बातचीत और अनुशासन जैसे विषयों पर भी लिख सकते हैं। आशा करते हैं कि आपके यह लेखकीय अनुभव ठोस एवं यथार्थपरक होंगे। उसमें कुछ ऐसा ज़रूर हो जो पाठक को रुचिपूर्ण व सार्थक लगे।

इसके अलावा आप शिक्षा से सम्बन्धित किसी पुस्तक, फ़िल्म अथवा अन्य शिक्षण सामग्री के बारे में भी लिख सकते हैं, मसलन उनका परिचय, समीक्षा अथवा विश्लेषण। इसके लिए आप शिक्षा व समाज से सम्बन्धित कोई ऐसी पुस्तक ले सकते हैं जो आपको उल्लेखनीय लगे। आप चाहें तो परिचय अथवा विश्लेषण के लिए एक ही क्षेत्र की दो–तीन पुस्तकों अथवा फ़िल्म को एक साथ ले सकते हैं।

लेखकों को अपने लेखन के सन्दर्भ में किसी भी तरह के सहयोग की आवश्यकता महसूस होती है तो वे इसके लिए सम्पर्क कर सकते हैं। उन्हें इस सन्दर्भ में सम्पादक मण्डल के सदस्यों द्वारा आवश्यक सहयोग और सुझाव दिए जाएँगे।

हम आशा करते हैं कि **पाठशाला भीतर और बाहर** का यह चौथा अंक आपको अच्छा लगेगा और आप इसके अगले अंकों के लिए ज़रूर लिखेंगे। पत्रिका के इस अंक पर आपकी टिप्पणियों व सुझावों का हमें इन्तज़ार रहेगा।

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय की अन्य पत्रिकाएँ



